देवदर्शन स्तोत्र

दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम् ।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥ १ ॥

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वंदनेन च ।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥ २ ॥

वीतरागमुखं दृष्ट्वा, पद्मरागसमप्रभं ।
जन्मजन्मकृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति ॥ ३ ॥

दर्शनं जिनसूर्यस्य, संसार-ध्वान्त-नाशनं ।
बोधनं चित्त-पद्मस्य, समस्तार्थ-प्रकाशनम् ॥ ४ ॥

दर्शनं जिनचंद्रस्य, सद्धर्मामृत-वर्षणम् ।
जन्म-दाह-विनाशाय, वर्धनं सुख-वारिधेः ॥ ५ ॥

जीवादि-तत्वं प्रतिपादकाय, सम्यक्त्व-मुख्याष्ट-गुणार्णवाय ।
प्रशांत-रूपाय दिगम्बराय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥ ६ ॥

चिदानन्दैक-रूपाय, जिनाय परमात्मने ।
परमात्म-प्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ ७ ॥

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्य-भावेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ ८ ॥

न हि त्राता न हि त्राता, न हि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥ ९ ॥

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदामेऽस्तु भवे भवे ॥ १० ॥

जिनधर्म-विनिर्मुक्तो, मा भवेच्चक्रवर्त्यपि
स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासित. ॥ ११ ॥

जन्म-जन्मकृतं पापं, जन्म-कोटिमुपार्जितम् ।
जन्म-मृत्यु-जरा-रोगं, हन्यते जिन-दर्शनात् ॥ १२ ॥

अद्याभवत्सफलता नयन-द्वयस्य,
देव त्वदीय-चरणां-बुज-वीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोक-तिलकं प्रतिभासते मे,
संसार-वारिधिरयं चुलुक-प्रमाणम् ॥ १३ ॥ इति ॥

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओं नमः सिद्धेभ्यः, ओं जय जय जय,

नमोस्तु ! नमोस्तु !! नमोस्तु !!!

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥
ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरल-शब्द-घनौघ-प्रक्षालित-सकल-भूतल-मल-कलङ्का ।
मुनिभिरुपासित तीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्
अज्ञान- तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥२॥

॥ श्री परगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकल-कलुष-विध्वसकं, श्रेयसा परिवर्धकं, धर्म-सम्बन्धकं, भव्य-जीव-मनः प्रतिबोध-कारकमिदं शास्त्रं श्री शांति उपदेश नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्रीगणधर-देवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य श्री शान्ति सागर जी महाराज आचार्येण विरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ।

मंगल भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

श्री 1008 महावीर स्वामी चादनपुर
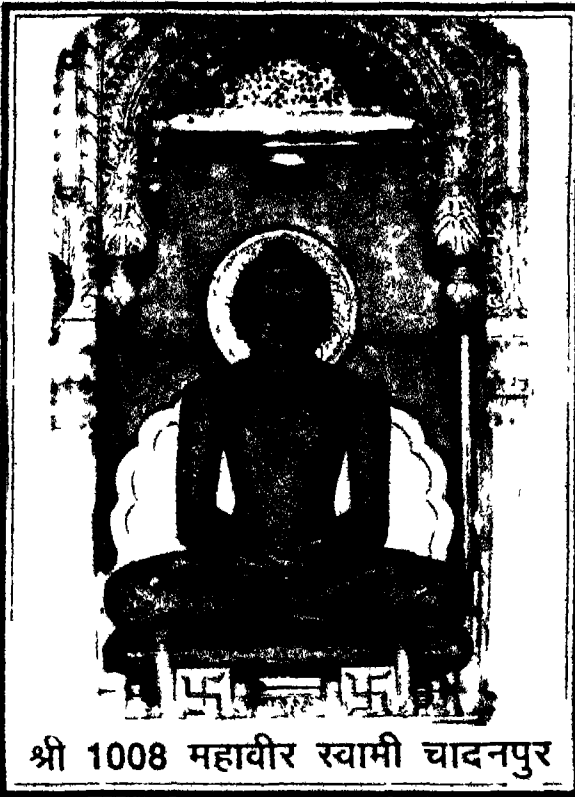
परमपूज्य, तपोनिधि, त्यागमूर्ति, रत्नत्रय धारक आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी महाराज (हस्तिनापुर वाले) व श्री १०५ क्षुल्लक ज्ञान सागर जी महाराज के चर्तुमास पर्व के शुभ मंगल अवसर पर (परमपूज्य आचार्य श्री द्वारा रचित) सकल दिगम्बर जैन समाज नई मण्डी मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

२ जौलाई ९५ से ८ नवम्बर ९५ तक

मुद्रक -
जयको प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा० लि०
एफ-34/5, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-2,
नई दिल्ली - 110020
फोन नं० 6915113, 6821541

श्री १००८ देवाधिदेव भगवान् नेमिनाथ के
निर्वाण कल्याणक मिति आषाढ़ शुक्लाष्टम्यां
दिनांक तारीख २४-७-१९९६
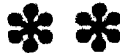
सम्पादन एवं प्राप्ति स्थान ·
बिशम्बर दास महाबीर प्रसाद जैन सर्राफ
1325, चाँदनी चौक, देहली
फोन · 2512932, 3278202

2000 प्रतियां
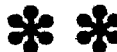
-: मूल्य :-
स्वाध्याय मात्र
दिल्ली से बाहर के लिए पोस्टेज मात्र 10/-रुपये

सब धर्मों का सार

(शाकाहार - शाकाहार - शाकाहार)

सभी प्राणी जिन्दा रहना चाहते है कोई भी मरना नहीं चाहता। यदि हमारे सुई भी चुभ जाती है तो तड़फ जाते है। खून की एक बून्द कपड़े पर लगने से उसे धोते है। मुर्दा लाश को छूने पर स्नान करते है किन्तु खेद है कि आज का मानव दानव बन गया है वो मुर्दा लाश को खाकर पेट को कब्रिस्तान बना रहा है। उसने अहिंसा को भिखारिन बना दिया है। करुणा की मांग का सिन्दूर पोंछ दिया है। अहिंसक कहलाने वाले भी इससे बाज नहीं आ रहे है। भगवान् महावीर, राम, कृष्ण, बुद्ध, गुरू नानक, महात्मा गाँधी के अहिंसक देश में ही उनके अनुयायी घोर हिंसक हो गये है। सूर्य की पहली किरण निकलते ही लाखों जीवों का वध कर दिया जाता है खून का दरिया बह जाता है। है कोई माई का लाल जा सत्य अहिंसा का पुजारी भारत देश में, दुनिया में हिंसा का ताण्डव नृत्य बन्द करावे।

गवर्नमेंट का देखो हाल, कत्लखाने है खोल रही,
अण्डा, मछली, मांस खिलाकर, गाँधी जी की जय बोल रही।
व्यभिचारी, अत्याचारी मिलकर, करते देश बदनाम है,
महावीर, गाँधी के देश में, हम अपने से अन्जान है।।

शाकाहार का अर्थ है शान्ति कारक, हानि रहित। शराब, अण्डा, मांस, मछली, समस्त मादक द्रव्य, चाँदी सोने का वर्क, रेशम की साड़ी, वो सभी दवाये जिनमें जीवों का खून, चर्बी या हिस्सा है अभक्ष्य है सेवन न करें।

यदि आप अहिंसक, शाकाहारी बनना चाहते है विशेष जानकारी चाहते है तो मांसाहार मानवता पर कलंक चित्रावली, शाकाहार पुस्तक (कवर रंगीन) चांदी वर्क आदि में पाप का चार्ट एवं विडियो कैसेट शाकाहार अहिंसा, गर्भपात, पशुवध गृह देखें व पढ़ें। इन्हे देखकर बहुत सी नई बातों का पता चलेगा आप स्वयं एवं औरों को भी पक्का शाकाहारी बना सकेंगे। ये भारत के राष्ट्रपति, प्राईम मिनिस्टर एवं ६०० एम० पी० के अलावा विदेश के १५० एम० पी० को भेंट की जा चुकी है जिन्होंने लिखा है कि इसे पढ़कर देखकर माँसाहारी नहीं रहेंगे। ये सभी सामग्री जैन साहित्य सदन लाल मन्दिर जी चाँदनी चौक देहली, अहिंसा स्थल महरौली, नई दिल्ली में बिक्री में प्रचार को प्राप्त है। लेखक, संकलनकर्ता है महावीर प्रसाद जैन सर्राफ, १३२५ चाँदनी चौक, देहली।

परमपूज्य १०८ आचार्य श्री शान्ति सागर जी महाराज का ससंघ चातुर्मास

अनादि काल से ही भारत भुमि पर ऋषि मुनि वर्षा ऋतु में जीवों की विशेष उत्पत्ति होने से उनके रक्षण एवं अहिंसा धर्म का पालन करने की वजह से एक ही स्थान पर ४ चार महा रह कर चातुर्मास करते चले आ रहे है। वे स्वयं आत्मकल्याण करते है और भव्य जीवों को आत्म कल्याण का उपदेश देते है।

परम पूज्य तपोनिधि, त्यागमुर्ति, रत्नत्रय धारक आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज ने अपने शिष्यों श्री १०५ क्षुल्लक ज्ञान सागर जी, ब्र० आनन्द सागर जी (खिल्लू मल) एव ब्र० दीपक कुमार सहित चातुर्मास स्थापना ला० गुलशनराय जैन की धर्मशाला नई मण्डी मुजफ्फरनगर में आसाढ सुदी नवमी २ जौलाई १९९५ को की।

समाज ने आचार्य श्री एव क्षुल्लक जी के मंगल प्रवचनों से अपूर्व लाभ प्राप्त किया। आचार्य श्री के त्याग, तपस्या, सरलता, श्रद्धा, स्नेह, क्षमा एव उपदेशों से प्रभावित होकर स्थानीय समाज का मन मुटाव दूर होकर बन्धुत्व का वातावरण बन गया एवं समाज ने आचार्य श्री के सानिध्य में साधु सेवा समिति का गठन किया और समाज की असहाय विधवाओं, बेसहारा धर्म बन्धुओं तथा निर्धन छात्र छात्रओं की सहायता के लिए एक 'सद्भावना कोष' की स्थापना की। दोनों सस्थाओं ने अपना अपना कार्य सफलता पूर्वक किया और करते रहेंगे।

आचार्य श्री की प्रेरणा से सम्पूर्ण समाज ने श्रद्धा पूर्वक दशलक्षण पर्व, रथयात्रा उत्सव एव अष्ठानिका पर्व अपूर्व उत्साह से मनाया। शाकाहार प्रदर्शनी से भी बहुत लाभ हुआ। इतर समाज के कई भाईयों ने माँस, मादक द्रव्यों को छोड़ा। चातुर्मास में सभी भाई बहनों एवं सम्पूर्ण जैन समाज मुजफ्फरनगर ने सहयोग दिया।

५ नवम्बर १९९५ को चातुर्मास की पूर्णता की बेला में समस्त समाज की भक्तिपूर्ण अश्रुधारा बह रही थी। सभी ने आचार्य श्री की वन्दना एव अभिनन्दन किया एवं अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा याचना की। आचार्य श्री से पुन पधारने की प्रार्थना की।

चरणों के सेवक
सकल दिगम्बर जैन समाज एवं साधु सेवा समिति
नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

दाताओं की सूची

२००००/-	*श्री दीपक कुमार जैन* मै० दीपक ट्रैडिंग कार्पो०, देहली रोड, शामली
११११९/-	*श्रीमती विजय जैन* ध०प० श्री पी सी जैन, पत्रकार ९५ भोगल रोड, नई दिल्ली
११०००/-	*श्री १००८ आदिनाथ दिगम्बर जैन* *जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव समिति* सरस्वती विहार, दिल्ली - ११००३४ १७-४-१९९६ से २४-४-१९९६
११०००/-	*श्री उत्तम चन्द जैन (गुड़गांवा)* सुपुत्र स्व० श्री नेमीचन्द जी जैन नौगांवा (अलवर) फोन : ८३०२०४२
१०००१/-	*श्रीमती किरन देवी जैन* फिरोजपुर, झिरका
१०००१/-	*श्रीमती पदम श्री जैन* ध०प० श्री पदम सैन जैन (दिगम्बर इन्टरप्राइजीज) पदन सैन गैस ऐजेन्सी, जैन मण्डी, मवाना जि० मेरठ
५१००/-	*अशोक कुमार गौरव कुमार जैन (सर्राफ)* शान्ति मौहल्ला, गान्धी नगर, देहली
५००१/-	*श्रीमती शान्ती देवी जैन* ध०प० स्व० रामकिशन जैन कागजी (डालमिया) २/२६ दरियागंज, नई दिल्ली

५००१/- *ब्रह्मचारी दीपक कुमार जैन*
सी७/२१६ए, यमुना विहार, दिल्ली-५३

५०००/- *श्रीमती कमला देवी जैन*
ध०प० स्व० श्री मुनिसुव्रत जैन
नया बाजार, सहारनपुर

५०००/- *डा० प्रद्युम्न कुमार जैन*
डी-३०, राणा प्रताप बाग, सी सी कालोनी, दिल्ली

११५१/- *श्री भुल्लन सिंह धनप्रकाश जैन, सर्राफ*
नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

११०१/- *श्रीमती इन्दर माला मातेश्वरी,*
कुमरेश चन्द जी (कवाल वाले), नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

११००/- *श्रीमती शिल्पी जैन*
ध०प० श्री नीरज कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली

११००/- *मै० ओम प्रकाश सेवा चन्द जैन,*
नई मण्डी, मुजफ्फर नगर

५५१/- *श्रीमती अर्चना जैन, ध०प० श्री अरविन्द कुमार जैन*
कवाल वाले

५०१/- *ब्रह्मचारणी अंजना जैन*
सी६/४१८, यमुना विहार, दिल्ली-५३

५०१/- *मै० विपिन कुमार चन्द्र कुमार जैन सर्राफ,*
१७२, पटेल नगर, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

५०१/- *मै० विजेन्द्र कुमार विपिन कुमार जैन,*
नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

विषय सूची

द्वितीय खण्ड

षष्टम भाग

भाग ९- १०

महाराज श्री का शुभाशीर्वाद

बीज वृक्ष में छिपा हुआ है,
देखो अन्तर्मन से ।
नर में नारायण सोया है,
जागेगा चिन्तन से ।
बाहर की आंखों का क्या है ।
आंखें अन्तर की खोलो ।
हर प्राणी में छिपा महेश्वर,
कर दर्शन निर्मल हो लो ॥

संसार में समस्त प्राणी सुख चाहते है और सुख का ही उपाय करते है परन्तु सुख को प्राप्त नहीं होते ।

आल्हाद स्वरूप जीव के अनुजीवी गुण को असली सुख कहते है । यही जीव का खास स्वभाव है परन्तु संसारी जीव ने भ्रमवश सातावेदनीय कर्म के उदय जनित उस असली सुख की वैभाविक परिणति रूप साता परिणाम को ही सुख मान रखा है ।

हमारा शुभाशीर्वाद है कि हे भव्य जीवों ! सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो, आत्मा के असली रूप को जानो तथा प्रति दिन धर्म वृद्धि हो । यही इस पुस्तक का असली ध्येय है ।

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

❊ मंगलाचरण ❊

शान्ति-उपदेश तत्त्व-संग्रह

भाग - ५

जेणिह कसाय पाहुड,
मणेय-णयमुज्जवलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहर,
भट्टारय बन्दे ॥ जयधवल ॥

卐

नम श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानाँ त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ॥

卐

अर्थ :- मै वर्तमान युग के शासन-नायक श्री १००८ श्री वर्धमान स्वामी को जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है उन वीर प्रभु को बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥

शिव सुखदा शिव सुख मई, मगल परम प्रधान ।
वीतराग विज्ञानता, नमो, ताहि हित मान ॥
समति पद सन्मति करन, सन्मति सुख दातार ।
सुख बोधक सब जगत जन, तातें सन्मति धार ॥

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

स्तोत्र संग्रह

१-महावीराष्टक-स्तोत्रम्

(भावार्थ सहित)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः ।
समं भांति ध्रौव्य-व्यय-जनिलसंतोऽन्त रहिताः
जगत्साक्षी मार्ग प्रकटनपरो भानुरिव यो ।
महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु मे ।। १ ।।

अर्थ -- जिनके केवल ज्ञान में ध्रौव्य-व्यय और उत्पत्ति सहित अनन्त चेतन और अचेतन पदार्थ दर्पण के समान एक साथ प्रति-भासित होते है जो संसार को प्रत्यक्ष करने वाले सूर्य के समान मुक्ति का मार्ग बतलाने वाले है ऐसे श्री महावीर प्रभु मेरे सदैव दृष्टिगोचर रहें अर्थात् मै सदा उस वीतराग-शान्त मुद्रा का अवलोकन किया करूँ ।

अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्दरहित ।
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि ।।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाति-विमला ।
महावीर-स्वामी नयन-पथगामी भवतु मे ।

अर्थ -- जिन महावीर प्रभु के नेत्र रूपी कमलो का युगल लालिमा रहित और टिमकार से रहित है जो कि मनुष्यों को अंतरग की क्षमा को प्रकट करता है तथा जिनकी शरीर की आकृति प्रकट रूप में भी अति-शान्त व स्वच्छ है ऐसे श्री वीर प्रभु मेरे नेत्र रूपी मार्ग में विचरण करने वाले हों अर्थात आंखो से ओझल न होने दूं ।

नमन्नाकेन्द्राली मुकुट मणि भाजाल जटिलं ।
लसत्पादाम्भोज द्वयमिह यदीयं तनुभृताम् ।
भवज्ज्वालाशांत्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि ।
महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु से ।।३।।

अर्थ -- नमस्कार करती हुई इन्द्रों की पंक्ति के मुकुटों की मणियों के प्रकाश पुंज से व्याप्त जिनका शोभायमान चरण कमलों का युगल है और इस संसार में जिनका स्मरण भी प्राणियों के संसारातप की शान्ति के लिए जल - स्वरूप होता है । ऐसे महावीर भगवान् मेरे नेत्र रूपी मार्ग में विचरण करने वाले हों ।

यदर्च्चा भावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह ।
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुखनिधिः ।
लभते सद्भक्ताः शिवसुख-समाजं किमु-तदा ।
महावीर-स्वामी नयन पथगामी भवतु मे ।।४।।

अर्थ -- इस लोक में जिनकी पूजा करने के भाव से प्रसन्नचित हुआ मेंढक गुणों के समुह से युक्त सुख का भण्डार उसी क्षण शुद्ध भावों से वृद्धि का धारक देव हुआ । यदि सच्चे भक्त लोग मोक्ष सुख को प्राप्त करते है तो उसमें आश्चर्य क्या है ? ऐसे वे वीर स्वामी मेरे नेत्र रूपी मार्ग में विचरण करने वाले हों ।

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगत तनुर्ज्ञान निवहो ।
विचित्रात्माप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः ।
अजन्मापि श्रीमान् विगत भवरागोद्भुतगतिः ।
महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु मे ।।५।।

अर्थ -- आप दैदीप्यमान सोने के समान कांति के धारक होकर भी शरीर रहित ज्ञान के पुंज, अनेक स्वभाव वाले होकर भी मात्र एक राजाओं में श्रेष्ठ महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र होते हुए भी, जन्म रहित और लक्ष्मी वाले होकर भी विशेष रूप से बीत गया है जन्म-मरण का राग जिनके ऐसे अद्भुत अवस्था वाले वीर जिन मेरे नेत्र रूपी मार्ग मै विचरण करने वाले हों ।

यदीया वाग्गंगा विविध-नय कल्लोल-विमला ।
वृहज्ज्ञानाम्भोभि-र्जगति जनता या स्नपयति ।।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालै. परिचिता ।
महावीर-स्वामी नयन पथगामी भवतु मे ।।६।।

अर्थ -- हे महावीर जिनेश। आपकी दिव्य देशनारूपी गगा नदी नाना प्रकार की नय रूपी लहरों से निर्मल है तथा जो संसार में समस्त जीवों को द्वादशाँग शास्त्रों के ज्ञान रूपी जल से स्नान कगकर

हृदय से भी पवित्र बनाती है और इस आपकी दिव्य वाणी रूपी गंगा नदी का आजकल भी बुधजन रूपी हंसो ने आश्रय ले रखा है अर्थात् इस कलिकाल में भी जिनवाणी माता का सर्वत्र पठन-पाठन होता है । ऐसी दिव्यवाणी में अलंकृत श्री वीर जिन हमेशा मेरे नयन रूपी मार्ग में विचरण करते रहें ।

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः ।
कुमारा वस्थायामपि निज-बलाद्येन विजितः ।
स्फुरन्नित्यानन्द प्रशम-पद-राज्याय स जिनः ।
महावीर-स्वामी नयन-पथगामी भवतु मे ॥७॥

अर्थ :-- जिनके द्वारा अपने आत्मबल से कुमार अवस्था में ही दुर्निवार है वेग जिसका तीनो लोकों को जीतने वाला कामरूपी योद्धा जीत लिया था । ऐसे जिनेन्द्र वीर प्रभु दैदीप्यमान व नित्य आनन्दमयी रूपी साम्राज्य की प्राप्ति के लिए मेरे नेत्रों रूपी मार्ग में विचरण करने वाले हों ।

महामोहातंक-प्रशमन-पराकस्मिक-भिषक् ।
निरापेक्षो बंधुर्विदित-महिमा - मंगलकरः ॥
शरणयः साधूनाम् भव-भय-भृतामुत्तम-गुणो ।
महावीर-स्वामी नयन पथगामी भवतु मे ॥८॥

अर्थ :-- आप महान् मोह रूपी रोग को पूर्ण रीति से शाँत करने के लिए उत्तम व अचानक प्राप्त हो जाने वाले वैद्य है स्वार्थ रहित सबका भला करने वाले भाई है । प्रसिद्ध महिमा वाले कल्याण कारक है । जन्म मरण के दुःखों से घबराये हुये प्राणियों के आधार है । और उत्तम गुणो के भंडार है ऐसे उपयुक्त गुणों से युक्त श्री वीर प्रभु हमेशा मेरी आंखों के सामने विद्यमान रहें अर्थात् श्री वीर प्रभु हमेशा मेरी आंखों के सामने विद्यमान रहें अर्थात् मैं टकटकी लगाकर आपकी वीतराग मूर्ति का अवलोकन किया करूँ ।

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यः पठेच्छ्णुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥९॥

अर्थ :-- जो भव्य प्राणी आपके इस भक्तिपूर्वक भागचन्द के द्वारा बनाये हुए महावीराष्टक नाम वाले स्तोत्र को नियम से पढ़ता है और सुनता है वह अवश्य ही मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है ।

२ - सुप्रभात - स्तोत्रम् (अर्थ सहित)

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यद्-भवज्जन्मा भिषे कोत्सवे यद्दीक्षाग्रहणोत्सवे
यदखिलज्ञान - प्रकाशोत्सवे यन्निर्वाण गमोत्सवे
जिनपते: पूजाद्‌भुतंतद्‌भवै: सगीत - स्तुति - मंगलै: प्रसरतां मे
सुप्रभातोत्सव: ।।१।।

अर्थ -- श्री जिनेश के स्वर्ग से माता के गर्भ में आने के समय किये गये उत्सव में जन्माभिषेक के समय किये गये उत्सव में दीक्षा ग्रहण करने के समय किये गये उत्सव में केवल ज्ञान के समय किये गये उत्सव में एवं मोक्ष प्राप्ति के समय किये गये उत्सव के प्रसंग पर श्री जिनेन्द्र भगवान की जो आश्चर्यकारी पूजा हुई उसी प्रकार के मंगल रूप गायन और स्तुति से मेरा प्रातः काल का भी उत्सव हो ।

श्रीमन्नतामरकिरीट-मणि-प्रभाभि रालीढपादयुग
दुर्द्धर कर्मदूर श्री नाभिनंदन जिनाजित संभवाख्य ।
त्वद् ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ।। २ ।।

अर्थ -- अणिमादि विभूति युक्त और नम्रित हुए देवों के मुकुटों के मणियों की कान्ति से जिनके दोनों चरण स्पर्श किये तथा जिन्होंने दुर्द्धर कर्मों को दूर कर दिया है ऐसे आदिनाथ अजित नाथ और संभवनाथ भगवान् मेरा प्रात.काल का समय हमेशा आपके ध्यान में व्यतीत हो ।

छत्रत्रय प्रचलचामर वीज्यमान देवाभिनदनमुने ।
सुमते जिनेन्द्र पद्मप्रभारूपतमणि-द्युति-भासुराग ।
त्वद् ध्यानतोऽस्तु सतत मम सुप्रभातम् ।।३।।

अर्थ -- जिनके मस्तक पर तीन छत्र सुशोभित होते है तथा जिनके दोनों पार्श्व में ६४ चमर ढुलते है ऐसे अभिनन्दन और सुमति जिनेन्द्र तथा पद्मराग मणि कान्ति के समान जिनका शरीर सुशोभित होता है ऐसे पद्म प्रभु भगवान् मेरा प्रात. काल का समय सर्वदा आपके ध्यान में व्यतीत हो ।

अर्हन् सुपार्श्व कदलीदल वर्णगात्र ।
प्रालेयतार गिरि मौक्तिक वर्ण गौर ।

चन्द्रप्रभस्फटिक पाण्डुर पुष्पदंत ।
त्वद् ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥४॥

अर्थ :-- केले के पत्ते के समान जिनके शरीर का रंग है ऐसे सुपार्श्व जिन तथा हिमालय पर्वतचोटी के विजयार्द्ध पर्वत और मोती के समान जिनके शरीर का शुभ वर्ण है । चन्द्रप्रभु जिनेन्द्र तथा स्फटिक के समान निर्मल कांति के धारक ऐसे पुष्पदंत भगवान मेरा प्रातः काल का समय सर्वदा आपके ध्यान में व्यतीत हो ।

संतप्त कांचन रूचेजिन शीतलाख्य
श्रेयान्विनष्ट दुरिताष्ट
कलंक पंक/बंधुक बंधुररूचे जिनवासुपूज्य,
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥५॥

अर्थ -- तपाये हुये सोने के समान जिनके शरीर की कान्ति है ऐसे शीतलनाथ भगवान् पाप स्वरूप आठ कर्म-रूपी कीचड़ जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे श्रेयाँस नाथ जिनेन्द्र तथा दुपहरिया में खिलने वाले फूल के समान जिनके शरीर की कांति सुन्दर है ऐसे वासुपूज्य भगवान् मेरा प्रातः काल का समय आपके ध्यान में व्यतीत हो ।

उद्दण्ड दर्प करिपो विमलामलांग स्थेमन्ननत जिदनंत
सुखाबुराशे दुष्टकर्म-कल्मषविवर्जित धर्मनाथ
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सतत मम सुप्रभातम् ॥६॥

अर्थ -- उद्दण्ड ऐसे काम रूपहाथी के शत्रु तथा सुन्दर शरीर को धारण करने वाले विमलनाथ जिनेन्द्र, अनन्त सुख के समुद्र तथा धैर्यशाली ऐसे अनन्त नाथ भगवान् दुष्टकर्म रूपी-मल से रहित ऐसे धर्मनाथ भगवान् मेरा यह प्रात काल का समय आपके ध्यान में सर्वदा व्यतीत हो ।

देवामरी कुसुम सन्निभ शांतिनाथ, कुंथोदयागुण
विभूषण भूषितौगो देवाधिदेव भगवन्नरतीर्थनाथ
त्वद् ध्यानतोऽतु सततं मम सुप्रभातम् ॥७॥

अर्थ :-- सुनहरी पुष्प के समान वर्ण वाले शान्तिनाथ कुन्थु आदि जीवों पर दयागुण से शोभित अंगवाले कुन्थुनाथ, देवों के देव (इन्द्र द्वारा)

पूजित अरहनाथ भगवान् शाँतिनाथ भगवान् दया गुण रूपी भूषण से विभूषित हैं अंग जिनका ऐसे कुंथुनाथ भगवान् देवाधिदेव तथा तीर्थ के अधिपति ऐसे अरहनाथ जिनेन्द्र मेरा प्रात. काल का समय आपके ध्यान में सदा व्यतीत हो ।

यन्मोह मल्लमद भंजन मल्लिनाथा
क्षेमकरोऽवितथशासन सुब्रताख्य यत्सपदा
प्रशमितोनमिनाथ धेय, त्वद् ध्यानतोऽतु
सतत मम सुप्रभातम् ।।८।।

अर्थ ·-- मोह रूपी मल्ल के मद को नाश करने वाले मल्लिनाथ भगवान, कल्याणकारी और सत्य है शासन जिनका ऐसे मुनि सुब्रतनाथ भगवान् उत्तम परम वैराग्य से परम प्रशान्त अवस्था को प्राप्त ऐसे नमिनाथ भगवान् मेरा प्रात· काल का समय आपके ध्यान में सदा व्यतीत हो ।

तापिच्छ गुच्छ रूचिरोज्वल नेमिनाथ,
घोरोपसर्ग विजयन् जिन पार्श्वनाथ ।
स्याद्वाद सुक्ति मणि दर्पण वर्द्धमान,
त्वद् ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ।।९।।

अर्थ ·-- तमाल पुष्प वृक्ष समुदाय के समान कान्ति को धारण करने वाले ऐसे नेमिनाथ भगवान, भयंकर उपसर्ग को सहन करने वाले ऐसे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र, स्याद्वाद सूक्ति रूपी मणि के दर्पण के समान ऐसे वर्द्धमान भगवान मेरा प्रातः काल का समय आपके ध्यान में सदा व्यतीत हो ।

प्रालेयनील हरितारूणपीत भासं, यनमूर्तिमव्ययसुखा-
वसथं मुनीन्द्राः ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिनवल्लभानां,
त्वद् ध्यानतोऽतु सततं मम सुप्रभातम् ।। १० ।।

अर्थ ·-- जिनके शरीर की कान्ति बर्फ के समान सफेद, नील, हरित लाल और पीली है जो अविनाश सुख के स्थान है ऐसे तीर्थंकरों का मुनि ध्यान करते है ऐसे तीर्थंकरो के ध्यान में, मेरा प्रात· काल का समय सर्वदा व्यतीत हो ।

सुप्रभातं, सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम् ।
चतुर्विंशति तीर्थानां, सुप्रभातं दिने दिने ॥ १२ ॥

अर्थ :-- चौबीस तीर्थकरों का प्रातः काल का प्रत्येक (सबके लिये) उत्तम, शुभ नक्षत्र वाला, मंगलकारी बताया गया है । देवता, ऋषि और सिद्ध ये प्रत्येक दिन के सुप्रभात रूप है और सुप्रभात उत्तम नक्षत्र-रूप तथा उत्तम मंगल रूप माना गया है ।

सुप्रभात तवैकस्य, वृषभस्य महात्मनः ।
येन प्रवर्तितं तीर्थम्, भव्य सत्व सुखावहम् ॥ १३ ॥

अर्थ :-- जिसने भव्य जीवों को सुख देने वाले तीर्थ को चलाया है ऐसे महात्मा आदिनाथ भगवान का ही प्रातः काल उत्तम मानने योग्य है ।

सुप्रभातं जिनेन्द्राणाँ ज्ञानोन्मीलितं चक्षुषां ।
अज्ञानतिमिराँधानां नित्यमस्तमितो रविः ॥ १४ ॥

अर्थ :-- जिन्होंने अपने केवल ज्ञान के द्वारा दूसरे जीवों के चक्षु खोल दिये है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् का सुप्रभात अज्ञान-रूपी अन्धकार से अन्ध पुरूषों के लिये शुभ हो अर्थात् ये संसारी अज्ञानी श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदेश किये हुए सन्मार्ग का आश्रय कर पहले अज्ञानाधंकार को दूर करें । यह दिखने वाला सूर्य हमेशा अस्त स्वरूप है अर्थात् यह सुर्य बाह्य प्रकाश देता है अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने में समर्थ नही है ।

सुप्रभातं जिनेन्द्रस्य, वीरः कमललोचनः ।
येन कर्माटवीदग्धा, शुक्लध्यनोग्रवह्निना ॥ १५ ॥

अर्थ -- कमल के समान जिनके नेत्र है ऐसे जिनवीर भगवान ने शुक्ल ध्यान रूपी उग्रवह्नि से कर्म-रूपी जंगल जला दिया है उन वीर जिनेन्द्र का सुप्रभात सबके लिये हो ।

सुप्रभातं, सुनक्षत्रं, सुकल्याणं, सुमंगलम् ।
त्रैलोक्यहित कर्तृणाम्, जिनानामेव शासनम् ॥ १६ ॥

अर्थ :-- तीन लोक का हित करने वाले जिनेन्द्र-देव का शासन ही सुप्रभात रूप, सुनक्षत्र रूप कल्याणरूप और मंगल स्वरूप है ।

३-शांति - जिन - स्तोत्रम्

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिर योऽप्रतिम प्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वतएव शाँति मुनिर्दयामूर्तिरिवाघ शांतिम् ॥१॥

अर्थ .-- अनुपम पराक्रम वाले जो भगवान् शाँतिनाथ, प्रथम षड्खंड के अधिपति होकर चिरकाल तक शत्रुओं से प्रजा की सुरक्षा करके पश्चात् वे ही दयामूर्ति शाँतिनाथ सब पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाले मुनि होकर परोपदेश के बिना स्वयं ही अपनी और प्रजा के पाप की शांति करने वाले हुए है ॥ १ ॥

चक्रेणयःशत्रु भयकरेण जित्वा नृपः सर्व-नरेन्द्र-चक्रम् ।
समाधि चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जेय-मोह-चक्रम् ॥ २ ॥

अर्थ -- जो राजा शाँतिनाथ गृहस्थावस्था में शत्रुओं को भय उपजाने वाले चक्र से सब राजाओं के समूह को जीतकर मुनि अवस्था में तप, कल्याण के धारक होकर ध्यान और शुक्लध्यान रूप समाधि चक्र के द्वारा दुर्जय मोह सैन्य को जीतने वाले हुए है ।

राजश्रियाराज सुराज सिंहोरराज यो राजसु भोग तन्त्र· ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवा सुरोदारसभेशराज ॥ ३ ॥

अर्थ -- जो राजसिंह श्री शाँतिनाथ राज्यावस्था में राजाओं के उत्तम भोगों में लीन हुये थे, राज्यलक्ष्मी से सुशोभित हुए थे वे ही फिर अरहतावस्था में आत्म स्वरूप में लीन होकर देव और असुरों की समोशरणवर्ती उदार सभा में आठ प्रातिहार्य और समवशरण रूप बाह्य लक्ष्मी से और अनन्त ज्ञानादि रूप अभ्यन्तर लक्ष्मी से भी सुशोभित हुए है ॥ ३ ॥

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं, मुनौ दयादीधिति धर्म चक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राजलिदेवचक्रं, ध्यानोन्मुखे ध्वंसि
कृतातचक्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ :-- जिन शाँतिनाथ के राजा होने पर सामने अन्य राजाओं का चक्र हाथों की अंजुली जोड़े हुए खड़ा रहा ओर सकलार्थ साक्षात्कारी मुनि होने पर दयारूप किरणों वाला धर्म चक्र आगे चलता था । पूज्य अर्हन्त पद की प्राप्ति होने पर देवों का चक्र हाथ जोडे हुए बार-बार सिर झुकाकर

खड़ा रहता था और चतुर्थ व्युपर-क्रिया निवृत्तिनामक शुक्लध्यान की प्राप्ति होने पर अवशिष्ट चार अघातियां कर्मों का नाश हो गया था ।। ४ ।।

स्वदोष शान्त्या विहितात्म शांति शान्तेर्विधाता शरणं गतानां ।।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो भगवानच्छरण्यः ।। ५ ।।

अर्थ :-- जिन्होंने अपनी आत्मा मे स्थित रागादि भावों की शाँति करके अपनी शांति की, ऐसे संसार समुद्र से पार होने के लिये शरण को प्राप्त हुए भव्य जीवों की शांति के करने वाले, वे कर्म रूप अरातियों के विजेता भगवान्, शरण-भूत शांति जिन मेरे भव क्लेश और भय की उपशांति के लिये होवें ।। ५ ।।

४ - भगवान शांतिनाथ जी का संक्षिप्त जीवन परिचय

उनकी आयु एक लाख वर्ष थी शरीर सुवर्ण के से रंग का था पैर मे हिरण का चिन्ह था । शरीर की ऊँचाई ४० धनुष की थी । पच्चीस हजार वर्ष का कुमार काल बीत जाने पर उनके पिता ने कुमार शांतिनाथ का राज्यभिषेक किया । पच्चीस हजार वर्ष राज्य कर लेने के बाद दिग्विजय करने निकले । दिग्विजय करके भरत क्षेत्र के पांचवे चक्रवर्ती सम्राट बन गये । २५ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती सुख भोग करते हुए एक दिन उन्होंने दर्पण मे अपने शरीर के दो आकार देखे, इससे इनकी रूचि संसार की और से हट गयी और राज्य त्याग कर महाव्रती साधु हो गये । १६ वर्ष तक तपश्चरण करने के पश्चात् उनको केवलज्ञान हुआ । तब समवशरण द्वारा महान् धर्म प्रचार किया । चक्रायुध आदि उनके ३ २ गणधर थे । ६ २ हजार अनेक प्रकार की ऋद्धियों के धारक मुनि तथा हरिषेण आदि साठ हजार तीन आर्यिकायें उनके संघ में थी । अन्त में सम्मेद शिखर से सर्व कर्म नष्ट करके मुक्त हुए ।

५- श्री भक्तामर-स्तोत्रम्

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा -
मुद्योतकम् दलित-पाप-तमो-वितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिन-पाद-युगम् युगादा-
वालंबनं भव-जले पतताम् जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधा-
दुद्भूत बुद्धि-पटुभिः सुर-लोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त-हरैरूदारैः
स्तोष्येकिलाहमपितं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

आदि पुरूष आदीश जिन,
आदि सुविधि करतार ।
धरम धुरन्धर परम गुरू,
नमों आदि अवतार ॥

सुर-नत मुकुट रतन छवि करैं,
अन्तर पाप तिमिर सब हरैं ।
जिन पद बदौ मन वच काय,
भव जल पतित उधरन सहाय ॥१॥

श्रुत पारग इन्द्रादिक देव,
जाकि थुति कीनी कर सेव ।
शब्द मनोहर अर्थ विशाल,
तिस प्रभु की वरणों गुणमाल ॥ २ ॥

भावार्थ .-- भक्तिमान् देवों के झुके के हुए मुकुटों के मणियों की प्रभा को प्रकाशित करने वाले, पाप रूप अन्धकार को दूर करने वाले संसार में डूबते हुये मनुष्यों को चौथे काल की आदि में सहारा देने वाले और द्वादशांग के पाठी इन्द्रों ने बड़े-बड़े त्रिजग मोहक स्तोत्रों के द्वारा जिन की स्तुति की है, उन प्रथम जिनेन्द्र की मै भी स्तुति करूंगा ।

बुद्धया विनापि विबुधार्चित-पाद-पीठ,
स्तोतुम् समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोहम् ।
बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दु-बिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

विबुध वंद्य पद मैं मतिहीन,
हो निलज्ज थुति मनसा कीन ।
जल प्रतिबिम्ब बुद्ध को गहै,
शशि मण्डल बालक ही चहै ॥३॥

भावार्थ :-- देवताओं ने जिनके सिंहासन की पूजा की है, ऐसे हे जिनेन्द्र ! मैं बुद्धि बिना भी निर्लज्ज होकर आपकी स्तुति करने पर तत्पर हूँ, सो ठीक ही है । पानी में दिखाई देने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को एकाएक पकड़ने की बालक के सिवाय और कौन इच्छा करता है ?

वक्तुं गुणान् गुण-समुद्र ! शशांक-कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुर-गुरू-प्रतिमोऽपि बुद्धया ।
कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-नक्र-चक्रम्,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

गुन समुद्र तुम गुन अविकार,
कहत न सुर गुरू पावै पार ।
प्रलय-पवन-उद्धत जल-जन्तु,
जलधितिरै को भुज बलवन्तु ॥४॥

भावार्थ :-- हे गुणसमुद्र ! वृहस्पति के समान बुद्धिमान मनुष्य भी आपके चन्द्रवत् उज्जवल गुणों के कहने को समर्थ नही हो सकता भला, प्रलयकाल की पवन से लहराते और जिसमें मगरमच्छ उछलते है, ऐसे महासमुद्र को कौन मनुष्य अपनी भुजाओं से तैर सकता है ?

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम् ॥५॥

सो मैं शक्ति-हीन थुति करूँ,
भक्ति-भाव वश कछु नहीं डरूं ।
ज्यों मृगि निज-सुत पालन हेत,
मृग पति सन्मुख जाय अचेत ।।५।।

भावार्थ -- हे मुनिनाथ ! मैं बुद्धिहीन और असमर्थ हूँ तो भी भक्ति वशात् आपकी स्तुति करने को तत्पर हुआ हूँ । क्या हरिणी अपने बच्चों को बचाने के लिये प्रेम के वश होकर अपने बल को न सोचकर सिंह का सामना नहीं करती है ? अवश्य करती है ।

अल्प-श्रुतम् श्रुतवतां परिहास-धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी-कुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिल: किल-मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारु-चाम्रकलिका-निकरैक-हेतु ।। ६ ।।

मैं शठ सुधी हँसन को धाम,
मुझ तव भक्ति बुलावे राम ।
ज्यों पिक अंब-कली परभाव,
मधु ऋतु मधुर करै आराव ।।६।।

भावार्थ -- मैं मन्द ज्ञानी हूँ और विद्वानों के समक्ष हास्य का पात्र हूँ तो भी आपकी भक्ति, स्तोत्र रचने के लिए मुझे बाध्य करती है । कोयल बसन्त में जो मीठी वाणी बोलती है, उसमें आम के वृक्षों का सुन्दर मौर ही कारण है ।

त्वत्संस्तवेन भव-सन्ततिसन्निबद्धम्,
पाप क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्त-लोक मलि-नीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ।।७।।

तुम जस जम्पत जन छिन माहि,
जनम जनम के पाप नशाहिं ।
ज्यों रवि उगै फटै तत्काल,
अलिवत नील निशा तम-जाल ।।७।।

भावार्थ -- हे प्रभु ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सम्पूर्ण लोक में

व्याप्त भौंरा समान काला, रात्रि का अन्धकार अति शीघ्र मिट जाता है उसी प्रकार आपके स्तवन से जीवों के संसार परम्परा से बँधे हुए पाप का क्षण भर में नाश हो जाता है ।

मत्वेति नाथ तवसंस्तवनं मयेद-

मारभ्यते तनु-धियापि तव प्रभावात् ।

चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु,

मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

तुम प्रभाव तै करहूं विचार,
होसी यह थुति जन मनहार ।
ज्यों जल कमल पत्र पै परै,
मुक्ता फल की द्युति विस्तरै ॥८॥

भावार्थ -- हे नाथ ! पानी की छोटी सी बून्द कमलिनी के पत्र पर पड़ने से मोती की शोभा को प्राप्त होती है, उसी प्रकार यद्यपि मै तुच्छ बुद्धि हूँ तो भी यह आपका स्तोत्र आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को हरण करेगा ।

आस्ता तव-स्तवनमस्त-समस्तदोषं,

त्वत्संकथापि जगतां दुरतानि हन्ति ।

दूरे सहस्त्रकिरणः कुरुते प्रभैव,

पद्माकरेषु जलजानि विकासभाज्जि ॥ ९ ॥

तुम गुन महिमा हत दुख दोष,
सो तो दूर रहो सुख पोष ।
पाप विनाशक है तुम नाम,
कमल विकासी ज्यों रवि धाम ॥९॥

भावार्थ -- हे भगवान् ! सूरज तो दूर रहो, उसकी प्रभा ही तालाब के कमलों को विकसित कर देती है । उसी प्रकार आपका निर्दोष स्तोत्र तो दूर रहो । आपकी समीचीन कथा ही जगजीवों के पापों को दूर करती है ।

नात्यद्भुतम् भुवन-भूषण ! भूत-नाथ ।

भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।

तुल्या भवन्ति भवतो ननु-तेन किंवा

भूत्याश्रितम् य इह नात्मसमं करोति ॥ १० ॥

नहिं अचम्भ जो होहि तुरन्त,
तुम से तुम गुण वरणत सन्त ।
जो अधीन को आप समान,
करै न सो निंदित धनवान ॥१०॥

भावार्थ -- हे जगत के भूषण रूप भगवान् ! संसार में आपके सत्य और महान् गुणों की स्तुति करने वाले मनुष्य आप ही के समान हो जाते है, सो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । क्योंकि जो कोई स्वामी अपने आश्रित पुरूषों की विभूति के द्वारा अपने समान नहीं करता है तो उसके स्वामीपने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयम्

नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।

पीत्वा पयः शशिकर-द्युति दुग्ध-सिन्धोः

क्षारं जलं जलनिधेर सितुं क इच्छेत ॥११॥

इकटक जन तुम को अविलोय,
और विषय रति करै न सोय ।
को करि क्षीर जलधी जलपान,
क्षार नीर पीवै मतिमान ॥११॥

भावार्थ -- हे भगवान् ! टिमकार वर्जित नेत्रों से सदा देखने योग्य ऐसे आपको देखकर मनुष्यों के नेत्र अन्य देवों में सन्तोषित नहीं होते है । क्योंकि ऐसा कौन सा पुरुष है जो चन्द्रकिरण समान उज्जवल ऐसे क्षीर समुद्र का जल पीने पर वह फिर समुद्र के खारे पानी की इच्छा करेगा ।

यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं

निर्मापित स्त्रिभुवनैक-ललाम-भूत ।

तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्या,

यत्तेसमानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

प्रभु तुम वीतराग गुणलीन,
जिन परमाणु देह तुम कीन ।
है तितने ही ते परमाणु,
यातैं तुम सम रूप न आनु ॥१२॥

भावार्थ :-- हे त्रैलोक्य शिरोमणि भगवान् ! जिन शान्त भावों की छायारूप परमाणुओं से आप रचे गये है, वे परमाणु उतने ही थे । क्योंकि आपके समान रूप पृथ्वी में दूसरा नहीं है ।

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग-नेत्र-हारि,
निःशेष निर्जित-जगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

कहँ तुम मुख अनुपम अविकार,
सुर नर नाग नयन मनहार ।
कहां चन्द्र मंडल सकलंक,
दिन में ढाक पत्र समरंक ॥ १३ ॥

भावार्थ -- हे नाथ ! देव मनुष्य और नागेन्द्रों के नेत्रों को हरण करने वाला और तीन लोक की उपमाएँ कमल, चन्द्रमा, दर्पण आदि को जीतने वाला कहाँ तो आपका मुख और कलंक से मलिन चन्द्र मण्डल जो दिन को ढाक के पत्ते के समान सफेद हो जाता है । सारांश ! सदा प्रकाशमान और निष्कलंक आपके मुख को चन्द्रमा की उपमा नहीं दी सकती ।

सम्पूर्ण मण्डल-शशांक-कला-कलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रि भुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रि जगदीश्वर-नाथ मेकं
कस्तान्निवारयति-संचरतो यथेष्टं ॥ १४ ॥

पूरण चन्द्र-ज्योति छविवंत,
तुम गुण तीन जगत लंघन्त ।
एक नाथ त्रिभुवन आधार,
तिन विचरत को करै निवार ॥१४॥

भावार्थ :-- हे त्रिलोकीनाथ ! पूर्णमासी की चन्द्र कलाओं के समान उज्जवल ऐसे आपके गुण तीन लोक में व्याप्त है । क्योंकि जो आप जैसे स्वामी का आश्रय प्राप्त है, उन्हें स्वेच्छानुसार विचरने से कौन रोक सकता है ? सारांश ! जिन गुणों ने आपका आश्रय पा लिया है, उन्हीं से त्रिलोक व्याप्त है ।

चित्रं किमत्रं यदि ते त्रिदशांगनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥ १५ ॥

जो सुरतिय विभ्रम आरम्भ,
मन न डिग्यो तुम तौ न अचम्भ ।
अचल चलावें प्रलय समीर,
मेरु शिखर डगमगै न धीर ॥१५॥

भावार्थ :-- हे भगवान् ! देवांगनाओं के द्वारा यदि आपका चित्त किंचित भी चंचल नहीं हुआ तो इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि कम्पित किये है, पर्वत जिसने ऐसे प्रलयकाल के पवन से क्या सुमेरु पर्वत का शिखर हिल सकता है ? कभी नहीं ।

निर्धूम वर्तिरपवर्जित-तैलपूर:
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटी-करोषि ।
गम्यो न जातु मरुता चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाश: ॥१६॥

धूप रहित बाती गत-नेह,
परकाशै त्रिभुवन घर एह ।
वात गम्य नाही परचण्ड,
अमर दीप तुम बलो अखण्ड ॥१६॥

भावार्थ :-- हे नाथ ! आप त्रैलोक को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय और विचित्र दीपक हो जिसको न बत्ती चाहना पड़ती है, न तेल, परन्तु वड़े-वड़े पर्वतों को हिलाने वाली हवा के झोंको से भी नहीं बुझ सकता ।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु-गम्य:
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदर-निरुद्ध महा-प्रभाव:
सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र लोके ॥ १७ ॥

छिपहु न लिपहु राहु की छाँहिं,
जग परकाशक हो छिन माहिं ।
धन अनवर्त दाह विनिवार,
रवि तै अधिक धरौ गुणसार ॥१७॥

भावार्थ -- हे मुनीन्द्र ! आप ऐसे विलक्षण सूर्य है, जो न तो कभी अस्त होता है, न केतु से ग्रसा जाता है, न बादलों से आच्छादित होता है और एक क्षण में समस्त संसार को प्रकाशित करता है ।

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं,
गम्यं न राहु-वदनस्य न वरिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्व-शशांक-बिम्बम् ॥ १८ ॥

सदा उदित विदलित मन मोह,
विघटित मेघ राहु अविरोह ।
तुम मुख कमल अपूरव चन्द,
जगत विकाशी ज्योति अमंद ॥१८॥

भावार्थ -- हे भगवन् ! आपका मुख-कमल ऐसे विलक्षण चन्द्रमा की शोभा को प्राप्त है, जो सदैव स्वयम् प्रकाशित रहता और जगत को प्रकाशित करता है और मोह, अन्धकार को दूर करता है । उसे न राहु ग्रसता है और न वह मेघों से ढक सकता है ।

किंशर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तम:सु नाथ ।
निष्पन्न-शालि-वन-शालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥ १९ ॥

निशदिन शशि रवि को नही काम,
तुम मुखचन्द्र हरै तम धाम ।
जो स्वभाव तै उपजै नाज,
सजल मेघतै कौनहु काज ॥ १९ ॥

भावार्थ :-- हे नाथ ! जिस प्रकार पके हुए धान्य वाले देश में पानी के बोझ से झुके हुए बादल व्यर्थ हैं उसी प्रकार जहाँ आपके मुखचन्द्र से अज्ञान अन्धकार नाश हो चुका है, वहाँ रात्रि को चन्द्रमा से और दिन को सूर्य से क्या प्रयोजन है ?

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु ।
तेजःस्फुरन्मणिषु याति यथा महत्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥

जो सुबोध सौहे तुम माँहि,
हरिहर आदिक में सो नाहिं ।
जो द्युति महा रतन में होय,
कांच खण्ड पावै नहिं सोय ॥२०॥

भावार्थ :-- हे भगवान् ! अनन्त पदार्थों को जाननेवाला केवल ज्ञान जैसा आपको प्राप्त है वैसा हरिहर ब्रह्मा आदि देवताओं को नहीं है क्योंकि जैसा प्रकाश रत्नमणि में स्फुरायमान होता है, वैसा चमकते हुए कांच के टुकड़ों में भी नहीं होता ।

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥ २१ ॥

सराग देव देख मैं भला विशेष मानिया,
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया ।
कछू न तोहि देख के जहा तुही विशेखिया,
मनोज्ञ चित्त चोर और भूलहू न पेखिया ॥ २१ ॥

भावार्थ .-- हे नाथ ! मै हरिहर आदि देवताओं को देखना ही अच्छा मानता

हूं, क्योंकि उनके देखने से मन आपमें सन्तोष पाता है । परन्तु आपके देखने से क्या ? जिससे कि कोई अन्य देवता जन्मान्तर में भी मन को हरण नहीं कर सकता । सारांश-- आपके देखने से दूसरों में चित्त नहीं जाता यह हानि और दूसरों के देखने से आप में सन्तोष होता है, यह लाभ है ।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वादिशो दधति भानि सहस्र-रश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥ २२ ॥

अनेक पुत्र वन्तिनी नितंबनी सपूत है,
न तो समान पुत्र और मात तै प्रसूत है ।
दिशा धरत तारिका अनेक कोटि को गिनै,
दिनेश तेजवन्त एक पूर्व ही दिशा जनै ॥२२॥

भावार्थ -- हे भगवान् ! सैकड़ो स्त्रिया पुत्रों को उत्पन्न करती है, परन्तु आप जैसा पुत्र आपकी माता के सिवाय अन्य स्त्री नहीं जन्म दे सकती । क्योंकि सम्पूर्ण दिशाए नक्षत्रों को धारण करती है, परन्तु प्रकाशमान सूर्य को पूर्व दिशा ही धारण करती है ।

त्वामामनन्ति मुनयः परम पुमास-
मादित्य-वर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पथाः ॥ २३ ॥

पुरान हो पुमान हो पुनीत पुण्यवान हो,
कहै मुनीश अन्धकार नाश को सुभान हो ।
महन्त तोहि जान के न होय वश्य काल के,
न और मोहि मोक्ष पन्थ देत तोहि टाल के ॥२३॥

भावार्थ -- हे मुनीन्द्र ! साधु महात्मा लोग आपको परम पुरूष अत्यन्त निर्मल और अन्धकार के समक्ष सूर्य स्वरूप मानते है । वे साधु तुम्हें भले प्रकार प्राप्त करके मृत्यु को जीतते है, इसलिए आपके सिवाय कोई दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है ।

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।। २४ ।।

अनन्त नित्य चित्त की अगम्य रम्य आदि हो,
असख्य सर्वव्यापि विष्णु ब्रह्म हो अनादि हो ।
महेश कामकेतु योग ईश योग ज्ञान हो,
अनेक एक ज्ञानरूप शुद्ध सन्तमान हो ।। २४ ।।

भावार्थ .-- हे प्रभो ! सन्त पुरूष आपको अक्षय, अचिन्त्य असंख्य आदिनाथ समर्थ निष्कर्म, ईश्वर, अनन्त, कामनाशक, योगीश्वर, प्रसिद्धयोगी, अनेक रूप, एक स्वरूप और ज्ञान स्वरूप निर्मल कहते हैं ।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात् ।
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय शंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्-
व्यक्त त्वमेव भगवन्पुरूषोत्तमोऽसि ।। २५ ।।

तुही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धि के प्रमान तै,
तुही जिनेश शकरो जगत्त्रये विधान तै ।
तुही विधात है सही सुमोख पन्थ धारतें,
नरोत्तमो तूही प्रसिद्ध अर्थ के विचारते ।। २५ ।।

भावार्थ -- हे भगवन् ! देवताओं ने आपके केवलज्ञान बोध की पूजा की है इसलिये आप ही बुद्ध देव हो, त्रैलोक्य के जीवों के कल्याणकर्त्ता हो, इसलिये आप ही शंकर हो, मोक्ष मार्ग की विधि का विधान करने के कारण आपही विधाता हो और पुरूषोत्तम हो, नारायण हो ।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्त्तिहराय नाथ
तुभ्य नमः क्षितितलामल भूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन भवोदधि शोषणाय ।। २६ ।।

नमो करूं जिनेश तोहि आपदा निवार हो,
नमो करू सुभूरि भूमिलोक के सिंगार हो ।
नमो करूं भवाब्धि नीरराशि शोष हेतु हो,
नमो करूं महेश तोहि मोक्ष पन्थ देत हो ॥२६॥

भावार्थ :-- हे त्रैलोक्य की पीड़ा हरण करने वाले ! तुम्हें नमस्कार है हे पृथ्वी तल के निर्मल अलंकार ! तुम्हें नमस्कार है त्रिलोकी नाथ ! तुम्हें नमस्कार है । हे संसार समुद्र के सोखने वाले ! तुम्हें नमस्कार है ।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै -
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरूपात्तविविधाश्रय जात गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ २७ ॥

तुम जिन पूरन गुणगुण भरे,
दोष गर्व करि तुम परि हरे ।
और देव-गण आश्रय पाय,
स्वप्न न देखे तुम फिर आय ॥ २७ ॥

भावार्थ :-- हे मुनीश ! यदि सम्पूर्ण गुणों ने सघनता से आपका आश्रय लिया और अनेक देवों के आश्रय से जिन्हें घमण्ड हो रहा है । ऐसे दोषों ने आपकी तरफ यदि स्वप्न में नहीं देखा तो इसमें अचरज भी क्या है ? कुछ नही ।

उच्चैरशोक-तरु-संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममल भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त तमो-वितान
बिम्ब रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥ २८ ॥

तरू अशोक तर किरन उदार,
तुम तन शोभित है अविकार ।
मेघ निकट ज्यों तेज फुरन्त,
दिनकर दिपै तिमिर निहनन्त ॥२८॥

भावार्थ -- ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थिर और ऊपर की ओर

निकलती है किरणें जिसकी ऐसा आपका अत्यन्त निर्मल रूप सूर्य के बिम्ब के समान शोभित होता है। कैसा है सूर्य ? स्पष्ट रूप जिसकी किरणें फैल रही है, अन्धकार के समूह को जिसने नष्ट किया है और मेघ जिसके पास में है। अभिप्राय यह है कि बादलों के निकट जैसे सूर्य शोभता है, वैसे ही आप अशोक वृक्ष के नीचे शोभायमान होते है। (भगवान के आठ प्रातिहार्यों में से पहले प्रातिहार्य का वर्णन इस श्लोक मे किया है।

सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तववपुः कनकावदातम्।
बिम्ब वियद्विलसदंशुलता-वितान
तुगोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः॥ २९॥

सिंहासन मणि किरण विचित्र,
तापर कचन वरन पवित्र।
तुम तन शोभित किरण विचार,
ज्यों उदयाचल रवितम हार॥२९॥

भावार्थ -- हे भगवन्! मणियों की किरण पंक्ति से चित्र विचित्र सिंहासन पर आपका सुवर्ण के समान मनोज्ञ शरीर सूर्य के समान शोभायमान होता है कैसा है सूर्य ? आकाश में ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर किरण रूपी लताओं का जिसका चन्दोवा तन रहा है। अभिप्राय यह है कि जैसे उदयाचल पर्वत के शिखर पर सूर्य बिम्ब शोभा देता है उसी प्रकार मणि जटित सिंहासन पर आपका शरीर शोभायमान होता है। (यह दूसरे प्रातिहार्य का वर्णन है)।

कुन्दावदात-चल-चामर चारु-शोभम्,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम्।
उद्यच्छशाक-शुचि-निर्झर-वारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥ ३०॥

कुन्द-पहुप-सित चमर ढुरत,
कनक वरन तुम तन शोभन्त।
ज्यों सुमेरू-तट निर्मल काँति,
झरना झरै नीर उमगान्ति॥३०॥

भावार्थ :-- हे जिनेन्द्र ! कुन्द के पुष्पों का समान उज्जवल और दुरते हुए चमरों से शोभित आपका शरीर ऐसा शोभायमान होता है जैसा झरनों की बहती हुई चन्द्रवत् स्वच्छ जल धाराओं से सुवर्ण मई सुमेरू का ऊँचा तट सुशोभित होता है । (यह तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है) ।

छत्रत्रयं तव विभाति शशाँक-कान्त-
मुच्चैःस्थितं स्थगित भानु-कर-प्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजाल विवृद्धशोभम् ।
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

ऊंचे रहे सूर दुति लोप,
तीन छत्र तुम दिपै अगोप ।
तीन लोक की प्रभुता कहै,
मोती झालर सों छवि लहै ॥३१॥

भावार्थ -- हे प्रभु ! चन्द्रमा के समान रमणीय ऊपर ठहरे हुए तथा निवारण किया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और मोतियों के समूह की रचना से बढ़ी हुई है शोभा जिनकी, ऐसे आपकी तीन छत्र, तीन जगत का परम ईश्वरपना प्रगट करते हुए शोभित होते है । (इस श्लोक में चौथे प्रातिहार्य का वर्णन है) ।

गम्भीर-तार-रवपूरित-दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य-लोक-शुभ-संगम-भूति-दक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥ ३२ ॥

दुंदुभि शब्द गहर गम्भीर,
चहुं दिशि होय तुम्हारे धीर ।
त्रिभुवन जन शिव संगम करै,
मानो जय जय रव उच्चरै ॥३२॥

भावार्थ :-- हे जिनेश ! गम्भीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला, तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर और आपका यशोगान करने वाला दुन्दुभि, आप तीर्थंकर देव की जय घोषण प्रकट करता हुआ आकाश में गमन करता है । (यह पांचवाँ प्रातिहार्य का वर्णन हुआ) ।

मन्दार-सुन्दरनमेरू-सुपारिजात-
सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टि-रूद्धा ।
गन्धोद-बिन्दु-शुभ-मन्दमरूत्प्रपाता
दिव्यादिव: पतति ते वचसां ततिर्वा ॥ ३३ ॥

मंद पवन गंधोदक इष्ट,
विविध कल्प तरू पुहुप सुवृष्ट ।
देव करै विकसित दल सार,
मानों द्विज पंक्ति अवतार ॥३३॥

भावार्थ -- हे जिनराज ! गन्धोदक की बूँदो से मौंगलिक मन्द-मन्द पवन सहित ऊर्ध्वमुखी और देवोपुनीत मन्दार, सुन्दर, नमेरू, सुपारिजात, आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा आकाश से बरसती है, सो मानो आपके वचनों की वृष्टि हो रही है । (यह छठा प्रातिहार्य का वर्णन है ।)

शुम्भत्प्रभावलय-भूरि-विभा विभोस्ते
लोकत्रये द्युतिमता द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर भूरि-संख्या
दीप्त्या-जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम् ॥ ३४ ॥

तुम तन भामण्डल निज चंद,
सब दुतिवंत करत है मंद ।
कोटि शखरवि तेज छिपाय,
शशि निर्मल निशि करे अछाय ॥३४॥

भावार्थ -- हे भगवन्त ! दैदीप्यमान सघन और अनेक सूर्यों के तुल्य आपके प्रभा मण्डल की अतिशय प्रभा तीनों लोक के प्रकाशमान पदार्थों की कान्ति को लज्जित करती हुई चन्द्रमा के समान सौम्य होने पर भी रात्रि को दूर करती है । अभिप्राय यह है कि प्रभा मण्डल की प्रभा यद्यपि कोट सूर्य के समान तेजवाली है, परन्तु आतप करने वाली नहीं है, वह चन्द्रमा के समान शीतल है, और रात्रि का अन्धकार नही होने देती । यह विरोधाभास अलंकार है । (यह सातवां प्रातिहार्य है) ।

स्वर्गापवर्ग-गम-मार्ग विमार्गणेष्ट:
सद्धर्म-तत्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्या: ।
दिव्य-ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ-सर्व-
भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुणै: प्रयोज्य: ।। ३५ ।।

स्वर्ग मोक्ष मारग संकेत,
परम धरम उपदेशन हेत ।
दिव्य वचन तुम खिरे अगाध,
सब भाषा गर्भित हित साध ।।३५।।

भावार्थ -- हे प्रभु ! स्वर्ग और मोक्ष-मार्ग दर्शाने में इष्ट, उत्कृष्ट धर्म के तत्व कथन में एक मात्र श्रेष्ठ निर्मल अर्थ और समस्त भाषाओं रूप परिणमन करने वाली आपकी दिव्य ध्वनि होती है । (यह आठवें प्रातिहार्य का वर्णन है ।)

उन्निद्र-हेम-नव-पंकज-पुन्ज-कान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयुखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्त:
पद्मानि तत्र विबुधा: परिकल्पयन्ति ।। ३६ ।।

विकसित सुवरन कमल दुति, नख दुति मिल चमकाहिं ।
तुम पद पदवी जह धरैं, तहं सुर कमल रचाहिं ।। ३६ ।।

भावार्थ -- हे जिनेन्द्र ! फले हुए स्वर्ण के नवीन कमल समूह के सदृश कान्ति वान और चहुं ओर फैलती हुई नखों की किरणों के समूह मे सुन्दर ऐसे चरण आप जहाँ रखते है वहाँ देवतागण कमलों की रचना करते है ।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशन-विधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृत: प्रहतांधकारा
तादृक्कुतो ग्रह-गणस्य विकाशिनोऽपि ।। ३७ ।।

जैसी महिमा तुम विषै, और धरै नहिं कोय ।
सूरज में जो ज्योति है, नहिं तारागण होय ।।३७।।

भावार्थ -- हे जिनेन्द्र ! धर्मोपदेश के समय समवशरण में पूर्वोक्त प्रकार से जैसी विभूति आपकी हुई, जैसी अन्य हरिहरादि देवों की नहीं हुई सो ठीक ही है । जैसी अंधकारनाशक प्रभा सूर्य की होती है, वैसी प्रकाश मान तारागणों की कहाँ हो सकती है ?

श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोलमूल-
मत्त-भ्रमद्-भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयंभवति नो भवदाश्रितानाम् ॥ ३८ ॥

मद अवलिप्तकपोलमूल अलिकुल झंकारै ।
तिन सुन शब्द प्रचण्ड, क्रोध उद्धत-अति धारै ॥
काल वरण विकराल, कालवत सन्मुख आवै ।
ऐरावत सो प्रबल सकल जन भय उपजावै ॥
देखि गयन्द न भय करै तुम पद महिमा लीन ।
विपति-रहित सम्पतिसहित वरतै भक्त अदीन ॥ ३८ ॥

भावार्थ -- हे जिनराज ! झरते हुए मद से जिसके गण्डस्थल मलीन तथा चन्चल हो रहे है और उन पर उन्मत्त होकर गुन्जार करते हुए भौरे अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढा रहे है, ऐसे मतवारे और ऐरावत के समान हाथी को अपने ऊपर झपटता हुआ देखकर आपके भक्तों को भय नही होता है ।

भिन्नेभ-कुम्भ-गलदुज्जल-शोणिताक्त-
मुक्ता-फल-प्रकर-भूषित-भूमि-भागः ।
बद्ध-क्रमः क्रम-गतम् हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रम-युगाचल-संश्रितं ते ॥ ३९ ॥

अति मदमत्त गयन्द, कुम्भथल नखन विदारै
मोती रक्त समेत, डारि भूतल सिगारै ॥
बांकी दाढ़विशाल वदन में रसना लोलै ।
भीम भयानक रूप देख, जन थरहर डोलै ॥
ऐसे मृगपति पग तलै जो नर आया होय ।
शरण गहे तुम चरण की बाधा करै न सोय ॥ ३९ ॥

भावार्थ :-- हे प्रभु ! हाथियों के मस्तक फोड़ने से रक्त में भीगे हुए मोती जिसने धरती पर बिखरा दिये है और पकड़ने के लिए जिसने चौकड़ी बाँधी है, ऐसा सिंह भी, आप के जुगल चरण रूप पर्वतों को आश्रय लेने वाले पुरुष का कुछ भी नहीं कर सकता है ।

कल्पान्त-काल-पवनोद्धत-वह्निकल्पम् ।
दावानलं-ज्वलितमुज्जवलमुत्स्फुलिंगम्
विश्वम् जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तन जलम् शमयत्यशेषम् ॥ ४० ॥

प्रलयपवन कर उठी आग जो तास पटंकर ।
बमै फुलिंगशिखा उतंग, परजलै निरन्तर ॥
जगत समस्त निगल्ल भस्म कर हैगी मानों ।
तड़तड़ाट दव-अनल, जोर चहु दिशा उठानों ॥
सो इक छिन में उपशमै, नाम नीर तुम लेत ।
होय सरोवर परिनमैं, विकसित कमल समेत ॥४०॥

भावार्थ -- हे प्रभु ! प्रलयकाल की पवन उत्तेजित हुई अग्नि के सदृश तथा ऊपर को उड़ रहे फुलिंग ऐसी जलती हुई उज्जवल और सम्पूर्ण संसार को नाश करने की मानो जिसको इच्छा ही है ऐसी सन्मुख आती हुई दावाग्नि को आपके नाम का कीर्तन रूप जल शान्त कर सका है ।

रक्तेक्षणं समदकोकिल कण्ठनीलं ।
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ॥
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्तशंक--
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्यपुंस: ॥ ४१ ॥

कोकिल कण्ठ समान श्याम तन क्रोध जलन्ता ।
रक्त नयन फुंकार मार विषकण उगलंता ॥
फण को ऊंचा करे वेग ही सन्मुख धाया ।
तब जन होय निशंक देखि फणपति को आया ॥
जो चापै निज पग तलै, व्यापै विष न लगार ।
नागदमनि तुम नाम की, है जिसके आधार ॥ ४१ ॥

भावार्थ :-- जिस पुरूष के हृदय में आपके नाम की नागदमनी जड़ी है वह पुरूष, लाल नेत्र वाले, मदोन्मत्त, कोयल कंठ समान काले, क्रोध से ऊपर उठाया है फण जिसने और डसने के लिए झपटते हुए सांप को अपने पैरों से लांघता हुआ चला जाता है ।

वल्गत्तुरगगजगर्जितभीमनाद-
माजौबल बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम् ।
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ४२ ॥

जिस रणमाहिं भयानक, शब्द कर रहे तुरगम ।
धन से गज गरजाहिं, मत मानों गिरिजगम ॥
अति कोलाहल माँहि बात जह नाँहि सुनीजै ।
राजन को परचण्ड, देख बल धीरज छीजै ॥
नाथ तिहारे नामतें, सो छिन माहिं पलाय ।
ज्यों दिनकर परकाशतैं अन्धकार विनशाय ॥४२॥

भावार्थ -- हे जिनराज ! आपके नाम का कीर्तन करने से लडाई में घोड़ों और हाथियों के जिसमें भयानक शब्द हो रहे है, ऐसी सेनाएँ भी उदय को प्राप्त हुए सूर्य की किरणों से नष्ट हुए अन्धकार के समान शीघ्र ही नाश को प्राप्त होती है ।

कुन्ताग्र-भिन्नगज-शोणित-वारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजित-दुर्जय-जेय-पक्षा-
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभंते ॥ ४३ ॥

मारे जहाँ गयंद, कुम्भ हथियार विदारै ।
उमगै रूधिर-प्रवाह, वेग जल सम विस्तारै ॥
होय तिरन असमर्थ महा जोधा बलपूरे ।
तिस-रनमें में जिन तोय भक्त जे हैं नर सूरे ॥
दुर्जय अरिकुल जीत के जय पावै निकलंक ।
तुम पदपकज मन बसै ते नर सदा निशंक ॥ ४३ ॥

भावार्थ -- हे देव ! भालों की नोकों से छेदे हुए हाथियो के रक्त रूपी जल

प्रवाह में पड़े हुए और उसे तैरने के लिए आतुर हुए योद्धाओं से जो भयानक युद्ध हो रहा हो उसमें दुर्जय शत्रु पक्ष को आपके चरण कमल रूप वन का आश्रय लेने वाले पुरूष जीतते है ।

अम्भोनिधौ क्षुभित-भीषण-नक्र चक्र-
पाठीन-पीठभय-दोल्वणवाडवाग्नौ ।
रगंत्तरंगशिखर-स्थित-यानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवत:स्मरणाद व्रजन्ति ।। ४४ ।।

नक्रचक्र मगरादि मच्छकरि भय उपजावै ।
जामें बड़वा अग्नि दाहते नीर जलावैं ।।
पार न पावैं जास थाह नहिं लहिये जाकी ।
गरजै अति गम्भीर लहर की, गिनति नहिं ताकी ।
सुखसो तिरै समुद्र को जे तुम गुण सुमराहिं ।
लोल कलोलन के शिखर, पार यान ले जाहिं ।।४४।।

भावार्थ :-- हे जिनराज ! आपका स्मरण करने वाले पुरूषों के बड़े-बड़े मगरमच्छ और भयंकर बड़वानल से क्षुभित समुद्र में पड़े हुए जहाज पार हो जाते है ।

उद्भूत भीषण-जलोदर-भार-भुग्ना:
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत-जीविताशा: ।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृतदिग्धदेहा।
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा: ।। ४५ ।।

महा जलोदर रोग, भार पीड़ित नर जे है ।
वात पित्त कफ कुष्ट आदि जो रोग गहे हैं ।।
सोचत रहें उदास नाहिं जीवन की आशा ।
अति घिनावनी देह, धरैं दुर्गन्ध निवासा ।।
तुम पद पंकज धूल को, जो लावैं निज अंग ।
ते निरोग शरीर लहि, छिन में होय अनंग ।। ४५ ।।

भावार्थ :-- हे जिनराज ! भयानक जलोदर रोग से जो पीड़ित हैं और शोचनीय अवस्था को प्राप्त होकर जीवन की आशा छोड़ बैठे हैं, ऐसे मनुष्य आपके चरण कमल के रज रूप अमृत से अपनी देह

लिप्त करके कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले हो जाते है ।

आपादकण्ठमुरूशृंखल वेष्टितागा,
गाढं वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघा: ।
त्वन्नाम-मन्त्रमनिशं मनुजा: स्मरन्त:
सद्य:स्वय विगतबन्धभया भवन्ति ॥ ४६ ॥

पाँव कण्ठते जकर, बांध साँकल अति भारी ।
गाढ़ी बेढ़ी पैर माहिं जिन जांघ बिदारी ॥
भूख प्यास चिन्ता शरीर दुख जे बिललाने ।
सरन नाहिं जिन कोय भूप के बन्दी खाने ॥
तुम सुमरत स्वयमेव ही बन्धन सब खुल जाहिं ।
छिन में ते सम्पत्ति लहै चिन्ता भय बिनसाहिं ॥४६॥

भावार्थ -- हे जिनेश ! जिनके शरीर पांव से लेकर गले तक बड़ी बड़ी सांकलो से जकडे हुए है और विकट बेड़ियों की धारों से जिनकी जंघाएँ अत्यन्त छिल गई हैं, ऐसे मनुष्य आपके नाममात्र स्मरण करने से अपने आप बन्धन मुक्त हो जाते हैं ।

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावक स्तवमिमं मतिमानधीते ॥ ४७ ॥

महामत्त गजराज और मृगराज दवानल ।
फणपति रण परचड, नीरनिधि रोग महाबल ॥
बन्धन ये भय आठ, डरप कर मानो नाशै ।
तुम सुमरत छिन माहिं, अभय थानक परकाशै ॥
इस अपार ससार में, शरन नाहिं प्रभु कोय ।
यातैं तुम पद भक्त को, भक्ति सहाई होय ॥४७॥

भावार्थ -- हे प्रभु ! जो विद्वान् मनुष्य आपके इस स्तोत्र को अध्ययन करता है, उसके मत्त हाथी, सिंह, अग्नि सर्प, संग्राम, समुद्र महोदर रोग और बन्धन आदि से उत्पन्न हुआ भय मानो डरकर शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

स्तोत्रस्रजं तव-जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्तया मया विविधवर्ण विचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी: ॥ ४८ ॥

यह गुणमाल विशाल नाथ तुम गुनन संवारी ।
विविध वर्णमय पुहुप गूंथ मै भक्ति विथारी ॥
जे नर पहरै कंठ भावना मन मे भावैं ।
मानतुंग ते निजाधीन शिव लक्ष्मी पावैं ॥
भाषा भक्तामर कियो, 'हेमराज' हित हेत ।
जे नर पढ़ैं सुभावसों ते पावैं शिव खेत ॥४८॥

भावार्थ -- हे जिनेन्द्र ! मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक अपने गुणों की गूंथी हुई सुन्दर अक्षरों की विचित्र पुष्पमाला को जो पुरूष कण्ठ में धारण करता है, उस माननीय पुरूष को धन सम्पत्ति या स्वर्ग मोक्ष आदि लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होती है ।

जिनवाणी की स्तुति

वीर हिमाचल तै निकसी गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है ।
मोह-मदाचल भेद चली, जग की जड़ता-तप दूर करी है ॥
ज्ञान पयोनिधि मांहि रली बहु भंग तरंगनि सों उछरी है ।
ता शुचि शारद-गंगनदी-प्रति मै अंजुरी करि शशि धरी है ॥
या जग-मन्दिर में अनिवार अज्ञान-अन्धेर छयी अत भारी ।
श्रीजिनकी ध्वनि दीपशिखा सम जो नहिं होतप्रकाशन हारी
तो किस भांति पदारथ-पांति कहा लहते, रहते अविचारी ।
या विधि संत कहै धनि है जिन बने बड़े उपकारी ॥
जा वाणी के ज्ञान ते, सूझे लोक अलोक ।
सो वाणी मस्तक चढ़ी, सदा देत हू धोक ॥

(६)

६-श्री जिन सहस्रनाम स्तोत्रम् (अर्थ सहित)

स्वयभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि ।
स्वात्मनैव तथोद्भूत वृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥ १ ॥

अर्थ .-- हे भगवन् ! आपने स्वयं अपने आत्मा को प्रकट किया है इसलिए आप स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुए कहे जाते है । इसके सिवाय आपको आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मा में ही तल्लीन होने योग्य चारित्र की प्राप्ति हुई है तथा अंचित्य माहात्मय की प्राप्ति हुई है, इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो ।

नमस्ते जगतां पत्ये, लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
विदाँवर नमस्तुभ्य नमस्ते वदतावर ॥ २ ॥

अर्थ .-- आप जगत के स्वामी हैं, इसलिए आपको नमस्कार है, आप अंतरग, बहिरंग लक्ष्मी के अधीश्वर है, इसलिए आपको नमस्कार हो । आप विद्वानों में श्रेष्ठ है तथा आप वक्ताओं में भी श्रेष्ठ है इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो ।

कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः ।
त्वामानमत्सुरेणमौलि-भा-मालाभ्यर्चित-क्रमम् ॥ ३ ॥

अर्थ .-- हे देव ! बुद्धिमान लोग आपको काम-देव रूपी शत्रु को नाश करने वाला मानते है इन्द्र लोग भी अपने मुकुटों की कान्तिपुंज से आपके चरण कमलों की पूजा करते है इसलिए मै भी आपकी स्तुति करता हूं ।

ध्यान-दुर्घण-निर्भिन्न-घन-घाति महातरू· ।
अनन्त भव सन्तान जयादासीरनन्तजित् ॥ ४ ॥

अर्थ -- आपने अपने ध्यान रूपी कुठार से बहुत कठोर घातिया कर्मरुपी बड़े वृक्ष को काट डाला है तथा अनन्त जन्म मरण रूप संसार की सन्तान परम्परा को जीत लिया है इसलिए ही आप अनन्तजित् कहलाते है ।

त्रैलोक्य-निर्जयावाप्त दुर्दर्पमति दुर्जयम् ।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युंजयो भवान् ।। ५ ।।

अर्थ :-- हे जिन तीनों लोकों को जीत लेने पर जिसे अत्यन्त अभिमान हुआ है तथा जो अन्य किसी से भी नहीं जीता जा सकता ऐसे मृत्युराज को भी आपने जीत लिया है, इसलिए आप ही मृत्युंजय कहलाते है ।

विधूताशेष-संसार-बन्धनो भव्य-बान्धवः ।
त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्म-मृत्यु जरान्तकृत् ।। ६ ।।

अर्थ -- आपने संसार रूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये है । भक्त जीवों के आप बन्धु हैं और आप ही जन्म-मरण तथा बुढापा इन तीनों को नाश करने वाले है अतः आप ही त्रिपुरारि है ।

त्रिकाल-विजयाशेष-तत्वभेदात् त्रिधोत्थितम् ।
केवलाख्यम् दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशितः ।।७।।

अर्थ -- हे अधीश्वर ! भूत भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों के समस्त तत्वों को एवं उनके तीन भेदों को जानने योग्य केवल ज्ञान रूप नेत्र को आप धारण करते है इसलिए आप ही त्रिनेत्र कहलाते है ।

त्वामन्धकान्तकम् प्राहुर्मोहान्धा-सुरमर्द्दनात् ।
अर्द्ध ते नारयो यस्मादर्धनारीश्वरोऽस्यतः ।। ८ ।।

अर्थ -- आपने मोहरूपी अन्धासुर का नाश किया है इसलिये आप अन्धकान्तक कहलाते है आठ कर्म रूपी शत्रुओं में से आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नहीं हैं इसलिए आप अर्द्ध नारीश्वर (अर्द्ध न अरि ईश्वर) कहलाते हैं ।

शिवः शिव-पदाध्यासाद् दुरितारि-हरो हरः ।
शंकरः कृतशं लोके शंभवस्त्वम् भवन्सुखे ।। ९ ।।

अर्थ -- आप शिवपद अर्थात् मोक्ष स्थान में निवास करते है इसलिए शिव कहलाते है । पाप रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले है, अतः 'हर' कहलाते है । जगत को शान्ति देने वाले है इसलिए शंकर कहलाते है और सुख से उत्पन्न हुए है इसलिए सम्भव कहलाते हैं ।

वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः पुरूः पुरूगुणोदयैः ।
नाभेयो नाभि-सम्भूतेरिक्ष्वाकु-कुल-नन्दन ॥ १० ॥

अर्थ .-- जगत में श्रेष्ठ होने के कारण 'वृषभ' कहलाते है । बहुत से गुणो की खान होने से 'पुरू' कहे जाते हैं महाराज नाभिराय से आप उत्पन्न हुए है इसलिए 'नाभेय' कहे जाते है और इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुए है इसलिए इक्ष्वाकु कुल नन्दन कहे जाते है ।

त्वमेकः पुरूषस्कथस्त्व द्वे लोकस्य लोचने ।
त्वं त्रिधा बुद्ध सन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञान धारकः ॥११॥

अर्थ -- सब पुरूषों में आप ही एक श्रेष्ठ है । लोगों के दो नेत्र होने के कारण आप दो रूप धारण करते है तथा आपने मोक्ष का मार्ग तीन रूप से जाना है अथवा भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों लोकों के समस्त पदार्थो को जानने वाले है रत्नत्रय को धारण करने वाले है इसलिए ''त्रिज्ञ'' कहलाते है ।

चतुः शरण-मागल्य मूर्तिस्त्वम् चतुर स्त्रधी. ।
पचब्रह्ममयो देव!, पावनस्त्व पुनीहि माम् ॥ १२ ॥

अर्थ -- आप अरहंत, सिद्ध, साधु एवं केवली प्रणीत धर्म के चार शरण तथा मगलरूप है इसके अतिरिक्त आप चतुरस्त्रधी अर्थात् चारों दिशाओं के समस्त पदार्थों को जानने वाले कहलाते हैं । हे देव आप ही पचपरमेष्ठी स्वरूप है, अतिशय पवित्र है आप मुझे भी पवित्र कीजिए ।

स्वर्गावतारिणे तुभ्यम्, सद्योजातात्मने नमः ।
जन्माभिषेक-वामाय, वामादेव! नमोऽस्तु ते ॥ १३ ॥

अर्थ '-- हे भगवन् आप स्वर्गावतार के समय ही ''सद्योजात'' अर्थात उसी समय उत्पन्न होने वाले कहलाये थे अत आपको नमस्कार हो और जन्माभिषेक के समय बहुत ही सुन्दर दिखाई पडते थे इसलिए हे कामदेव आपको मेरा नमस्कार हो ।

सन्निष्क्रान्तावघोराय, पर प्रशाममीयुषे ।
केवलज्ञान-संसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

अथ '-- दीक्षा कल्याण के समय आपने परम शान्त मुद्रा धारण की थी तथा केवल ज्ञान के समय आप परम पद को प्राप्त हुए और

ईश्वर कहलाये अतः आपको नमस्कार हो ।

पुरस्तत्पुरूषत्वेन विमुक्त - पद - भाजिने ।
नमस्तत्पुरूषावस्थां, भाविनी तेऽद्य बिभ्रते ॥१५॥

अर्थ .-- अब आगे शुद्ध आत्म-स्वरूप के द्वारा मोक्ष स्थान को प्राप्त होंगे एवं आगामी काल में सिद्धावस्था को धारण करने वाले होंगे, इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ।

ज्ञानावरणनिर्हासान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे ।
दर्शनावरणाच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥१६॥

अर्थ -- ज्ञानावरण कर्म के नाश से आप "अनन्तज्ञानी" कहलाते है तथा दर्शनावरण कर्म के नाश से आप "विश्वदृश्वा" अर्थात् समस्त पदार्थों को देखने वाले कहलाते है इसलिये हे देव ! आपके लिए मेरा नमस्कार हो ।

नमो दर्शनमोहघ्ने, क्षायिकामलदृष्टये ।
नमश्चारित्रमोहघ्ने, विरागाय महौजसे ॥१७॥

अर्थ -- आप दर्शन मोहनीय के नाश करने वाले तथा निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले है, आप चारित्र मोहनीय कर्म को नाश करने वाले हैं, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं, इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ।

नमस्तेऽनन्त-वीर्याय, नमोनन्त-सुखात्मने ।
नमस्तेऽनन्त-लोकाय, लोकालोकावलोकिने ॥१८॥

अर्थ -- अनन्तवीर्य को धारण करने वाले आप को मेरा नमस्कार हो । अनन्त सुख को धारण करने वाले तथा लोकालोक को देखने वाले और अनन्त प्रकाश रूप आप को मेरा नमस्कार हो ।

नमस्तेऽनन्त-दानाय, नमस्तेऽनन्त लब्धये ।
नमस्तेऽनन्त-भोगाय, नमोऽनन्तोपभोगिने ॥१९॥

अर्थ -- दानान्तराय कर्म के नाश होने से आपको अनन्त दान की प्राप्ति हुई है, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त लब्धियों को धारण करने वाले है, इसलिए आपको नमस्कार हो । आप अनन्त उपभोग को धारण करने वाले है, इसलिए आपको नमस्कार हो ।

नमः परम-योगाय, नमस्तुभ्यमयोनये ।
नमः परम-पूताय, नमस्ते परमर्षये ॥ २० ॥

अर्थ -- आप परम ध्यानी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप चौरासी लाख योनियों से रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप परम पवित्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, और आप परम ऋषि या सर्वोत्कृष्ट मुनि है इसलिए आपको नमस्कार हो ।

नमः परम विद्याय, नमः पर-मतच्छिदे ।
नमः परम-तत्त्वाय, नमस्ते परमात्मने ॥२१॥

अर्थ -- आप परम विद्या अर्थात् केवल ज्ञान को धारण करने वाले है इसलिये आपको नमस्कार हो । आप अन्य मतों को नाश करने वाले है इसलिए आपको नमस्कार हो । आप परम तत्व स्वरूप है अर्थात् रत्नत्रयरूप है तथा आप ही सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ।

नमः परमरूपाय, नमः परम तेजसे ।
नम. परम मार्गाय, नमस्ते परमेष्ठिने ॥२२॥

अर्थ .-- आप बहुत सुन्दर रूप को धारण करने वाले परम तेजस्वी है इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो । आप रत्नत्रय रूप होने के कारण साक्षात् मोक्षमार्ग स्वरूप है और आप परम स्थान में रहने वाले परमेष्ठी है इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो ।

परमर्द्धि-जुषेधाम्ने, परम ज्योतिषेनमः ।
नम· पारेतम· प्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥२३॥

अर्थ -- आप मोक्ष स्थान को सेवन करने वाले हैं तथा ज्योतिस्वरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप अज्ञान रूपी अन्धकार के पारंगत अर्थात सर्वज्ञ है और इसलिए ही प्रकाश रूप हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो ।

नमः क्षीण कलकाय, क्षीण बन्ध! नमोऽस्तुते ।
नमस्ते क्षीण मोहाय, क्षीणदोषाय ते नमः ॥२४॥

अर्थ -- आप कर्म रूपी कलंक से रहित है, आप कर्मों के बन्धन से रहित है आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है तथा आप सब दोषों से रहित हैं । इन सब गुणों के लिए भी आपको नमस्कार हो ।

नमः सुगतये तुभ्यं, शोभनां गतिमीयुषे ।
नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञान-सुखायानिन्द्रियात्मने ॥२५॥

अर्थ :-- आप मोक्ष रूपी शुभ गति को प्राप्त करने वाले शुभ गति है, आप इन्द्रियों से न जाना जाय ऐसे ज्ञान सुख को धारण करने वाले है तथा स्वयं इन्द्रियों के अगोचर अतीन्द्रिय है इसलिए आपको नमस्कार हो ।

काय-बन्धन-निर्मोक्षादकायाय नमोस्तुते ।
नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥२६॥

अर्थ :-- आप शरीर बन्धन नामक कर्म को नष्ट करने के कारण ही शरीर रहित कहलाते है । आप मन वचन काय के योगों से रहित हैं और योगिओं में भी सर्वोत्कृष्ट है इसलिए भी आपको नमस्कार हो ।

अवेदाय नमस्तुभ्य, मकषायाय ते नमः ।
नमः परम-योगीन्द्र-वन्दितांघ्रि-द्वयाय ते ॥२७॥

अर्थ -- आप स्त्री, पुरूष, नपुंसक तीनों वेदों से रहित है और आप कषाय रहित है इसलिए आपको नमस्कार है, परम योगिराज आपके दोनों चरण कमलों को नमस्कार करते है ।

नमः परम-विज्ञान!, नमः परम-सयम! ।
नमः परमदृग्दृष्ट परमार्थाय ते नमः ॥२८॥

अर्थ :-- हे परम विज्ञान ! उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले आपके लिए मेरा नमस्कार हो परम संयम अर्थात उत्कृष्ट चरित्र को धारण करने वाले हे देव ! आप परम दृष्टि से परमार्थ को देखने वाले है इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो ।

नमस्तुभ्यमलेश्याय, शुक्ललेश्यांशक-स्पृशे ।
नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥२९॥

अर्थ -- आप लेश्याओं से रहित है तथापि शुद्ध शुक्ल लेश्या के कुछ उत्तम अंशो को स्पर्श करने वाले हैं इसलिए आपको मेरा नमस्कार हो । आप भव्य तथा अभव्य दोनों अवस्थाओं से रहित है और मुक्त रूप हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो ।

सञ्ज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्ता-मलात्मने ।
नमस्ते वीतसंज्ञाय, नमः क्षायिकदृष्टये ॥३०॥

अर्थ -- आप सैनी, असैनी दोनों अवस्थाओं से रहित है, निर्मल शुद्ध आत्मा धारण करने वाले है तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओं से रहित है इसलिए आपको हमारा नमस्कार हो, इसके अतिरिक्त आप क्षायिक सम्यदृष्टि हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूं ।

अनाहाराय तृप्ताय, नमः परमभाजुषे ।
व्यतीताशेषदोषाय, भवाब्धेः पारमीयुषे ॥३१॥

अर्थ -- आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं । अतिशय कान्ति युक्त हैं, समस्त दोषों से रहित हैं और संसार रूपी समुद्र के पार हैं इसलिए आपको हमारा नमस्कार हो ।

अजराय नमस्तुभ्य, नमस्ते वीत जन्मिने ।
अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥३२॥

अर्थ -- आप जरा रहित हैं, आप जन्म रहित हैं, मृत्यु रहित है तथा अचल और अविनश्वर है इसलिए आपको हमारा नमस्कार हो ।

अलमास्ता गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः ।
त्वा नाम स्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥३३॥

अर्थ -- हे देव आपके अनन्त गुण हैं सबका वर्णन असम्भव है इसलिए अब आपके गुणों का वर्णन न कर केवल आपके नामों का ही स्मरण करके आपकी उपासना करना चाहते है ।

एव स्तुत्वा जिनं देव, भक्त्या परमया सुधीः ।
पठेदष्टोत्तरं नाम्नां, सहस्रम् पाप-शान्तये ॥३४॥

अर्थ -- इस प्रकार उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव की स्तुति करके सुधीजन पापों की शान्ति के लिए एक हजार आठ नामों को निरन्तर पढ़ें ।

निर्वाण-काण्ड (अर्थ सहित)

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो ।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो ।। १ ।।

अर्थ :-- अष्टापद (कैलाशपर्वत) पर ऋषभनाथ, चंपापुर में वासुपुज्य जिनेन्द्र, उर्जयन्त गिरि (गिरनार पर्वत पर) नेमिनाथ और पावापुर में महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए ।

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुर वंदिदा धुद किलेसा ।
सम्मेदे गिरि सिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ।। २ ।।

अर्थ :-- जो देव और असुरों के द्वारा वंदित है तथा जिन्होंने समस्त क्लेशों को नष्ट कर दिया है ऐसे बीस जिनेन्द्र सम्मेदाचल के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए ।

सत्तेव य बलभद्दा, जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
गजपथेगिरि सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ।। ३ ।।

अर्थ -- सात बलभद्र, आठ करोड़ यादव वंशी राजा गजपंथा गिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

वरदत्तो य वरंगो, सायरदत्तो य तारवरणयरे ।
आहुट्ठयकोड़ीओ, णिव्वाण गया णमो तेसिं ।। ४ ।।

अर्थ -- वरदत्त, वरांग, सागरदत्त और साढे तीन करोड़ मुनिराज तारवर नगर (तारंगा) में निर्वाण को प्राप्त हुए ।

णेमिसामि पज्जुण्णो, सबुकुमारो-तहेव अणिरूद्धो ।
वाहत्तरिकोडीओ, उज्जंते सत्तसया वंदे ।। ५ ।।

अर्थ :-- नेमिनाथ स्वामी, प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरूद्ध और बहत्तर करोड़ सात सौ मुनि गिरिनार पर्वत पर सिद्ध हुए है ।

रामसुआ बिण्णिजणा, लाडणरिंदाण पंच कोडीओ ।
पावागिरिवर सिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ।। ६ ।।

अर्थ :-- रामचन्द्र के दो पुत्र, लाट देश के पाँच करोड़ राजा पावागिरि के शिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो ।

पंडुसुआ तिण्णिजणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
सत्तुंज य गिरि सिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥७॥

अर्थ :-- पाँडु के तीन पुत्र युधिष्ठर, भीम, अर्जुन और आठ करोड़ द्रविड़ राजा शत्रुंजय गिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

राम, हणू सुग्गीवो, गवयगवक्खो य णील महणीलो ।
णवणवदी कोडीओ, तुंगीगिरि णिव्वुदे वन्दे ॥८॥

अर्थ .-- राम, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील तथा ९९ करोड़ मुनिराज तुंगी पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें वंदना करता हूं ।

अगाणंगकुमारा विक्खा पचद्ध कोडि रिसि सहिया ।
सुवण्णगिरि मत्थयत्थे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥९॥

अर्थ -- अंग और अनंग कुमार साढ़े पाँच करोड़ प्रसिद्ध मुनियों के साथ सोनागिरि के शिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए, उन्हें नमस्कार हो ।

दहमुहरायस्स सुआ, कोडीपचद्ध मुणिवरे सहिया ।
रेवाउहयतडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१०॥

अर्थ -- दशमुख राजा अर्थात रावण के पुत्र साढे पाँच करोड़ मुनियों के साथ रेवा नदी के दोनों तटों से मोक्ष को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

रेवाणइएतीरे, पच्छिम भायम्मि सिद्धवर कूडे ।
दो चक्की दहकप्पे, आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे बन्दे ॥११॥

अर्थ -- रेवा नदी के तीर पर पश्चिम भाग में स्थित सिद्धवर कूट पर दो चक्रवर्ती, दशकामदेव और साढे तीन करोड़ मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार करता हूं ।

बड़वाणीवरणयरे, दक्खिणभायम्मि-चूलगिरिसिहरे ।
इदजीय कुम्भयण्णो, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१२॥

अर्थ ·-- बड़वाणी नगर के दक्षिण भाग में स्थित चूलगिरि के शिखर पर इद्रजीत और कुम्भकर्ण निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

पावागिरिवरसिहरे सुवण्ण भद्दाई मुणिवरा चउरो ।
चलणाणईतडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १३ ॥

अर्थ :-- चेलना नदी के तट पर स्थित पावागिरि के उत्कृष्ट शिखर पर सुवर्णभद्रादि चार मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

फलहोड़ी वरगामे, पच्छिम भायम्मि दोणगिरिसिहरे ।
गुरूदत्ताई मुणिंदा, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १४ ॥

अर्थ .-- फलहोड़ी नाम उत्कृष्ट ग्राम के पश्चिम भाग में द्रोणगिरि के शिखर से गुरूदत्त आदि मुनिराज निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

णायकुमार मुणिंदो, वालिमहावालि चेव अज्झेया ।
अट्ठावयगिरि सिहरे, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १५ ॥

अर्थ -- नाग कुमार मुनिराज, बाली और महाबली कैलास पर्वत के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

अच्चलपुरवरणयरे ईसाण भाए मेढ़गिरि सिहरे ।
आहुठ्ठयकोडीओ, णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १६ ॥

अर्थ -- अचलपुर नामक उत्कृष्ट नगर की ऐशान दिशा में मेढ़गिरि के शिखर पर साढ़े तीन करोड़ मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

वसत्थलम्मिणयरे, पच्छिम भायाम्मिकुँथुगिरिसिहरे ।
कुलदेसभूसण मुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १७ ॥

अर्थ :-- वंशस्थल नगर के पश्चिम भाग में स्थित कुँथगिरि के शिखर पर कुलभूषण देशभूषण मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

जसहररायस्ससुआ पंचसयाकलिग देसम्मि ।
कोडिसिला कोडि मुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ १८ ॥

अर्थ :-- यशोधर राजा के ५ सौ पुत्र और १ करोड़ मुनि कलिंग देश में स्थित कोटिशिला से निर्वाण को प्राप्त हुए उन्हें नमस्कार हो ।

पासस्स समवसरणे गुरूवरदत्त पचरिसिपमुहा ।
रिस्सिंदी गिरि सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१९॥

अर्थ '-- भगवान पार्श्वनाथ के समवशरण में वरदत्तादि प्रमुख पाँच मुनिराज रेशन्दी गिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए ।

जे जिणु जित्थु तत्था, जेदु गया णिव्वुदिं परमं ।
ते वंदामि य णिच्चं तियरण सुद्धो णमंसामि ॥२०॥

अर्थ :-- जो जिन जहाँ जहाँ से परम निर्वाण को प्राप्त हुए मै उनकी वन्दना करता हूं तथा त्रिकरण (मन वचन काय) से शुद्ध होकर उन्हें नमस्कार करता हू ।

संसाण तु रिसीण णिव्वाण जम्मि जम्मि ठाणम्मि ।
ते ह वन्दे सव्वे दुक्खक्खय कारणट्ठाए ॥२१॥

अर्थ :-- शेष मुनियों का निर्वाण जिस जिस स्थान पर हुआ है दु खों का क्षय करने के लिए मै उन सबको नमस्कार करता हूं ।

पास तह अहिणदण णायद्दहि मंगलाउरे वन्दे ।
अस्सारम्मे पट्टणि मुणिसुव्वओ तहेव वदामि ॥२२॥

अर्थ -- नागह्रद में पार्श्वनाथ, मंगलापुर में अभिनन्दन और आशा रम्य नगर में मुनिसुव्रतनाथ की वंदना करता हूं ।

बाहूबलि तह वदमि पोदनपुर हस्थिनापुर वन्दे ।
सन्ती कुँथुव अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च ॥२३॥

अर्थ -- पोदनपुर में बाहुबलि, हस्तिनापुर में शान्ति, कुँथु अरहनाथ एवं वाराणसी में सुपार्श्व और पार्श्वनाथ की वन्दना करता हूं ।

महुराए अहिछित्ते, वीरं पासं तहेव वंदामि ।
जंबुमुणिदो वदे, णिव्वुई पत्तोसि जंबुवणगहणे ॥२४॥

अर्थ .-- मथुरा में भगवान महावीर, अहिच्छत्र नगर में पार्श्वनाथ और जंबू नामक सघन वन में निर्वाण को प्राप्त हुए जंबू स्वामी को नमस्कार करता हूं ।

पंचकल्लाणठाणइ जाणिवि संजाद मच्चलोयम्मि ।
मणवयणकाय सुद्धो, सव्वे सिरसा णमंसामि ॥२५॥

अर्थ :-- मनुष्य लोक में पंचकल्याणको के जितने भी स्थान है मन, वचन, काय से शुद्ध होकर उन सबको सिर से नमस्कार करता हूं ।

अग्गलदेवं वन्दमि, वरणयरे णिवडकुंडली वंदे ।
पासं सिरिपुरि वंदमि, लोहागिरि संख दीवम्मि ॥२६॥

अर्थ :-- वर नगर में अर्गलदेव को तथा निवड़ कुंडली की वन्दना करता हूं । श्री पुर लोहा गिरि और शंखद्वीप के पार्श्वनाथ को नमस्कार करता हूं ।

गोम्मटदेवं वंदमि पंच सम धणुहदेहउच्चं तं ।
देवाकुणंति वुट्ठी केसर कुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥२७॥

अर्थ :-- जिनका शरीर ५ सौ धनुष ऊँचा है, ऐसे गोम्मट स्वामी को नमस्कार करता हूं । उनके ऊपर देव केशर और पुष्पों की वर्षा करते है ।

णिव्वाणठाण जाणिवि, अइसयठाणाणि अइसये सहिया ।
सजाद मच्च लोए, सव्वे सिरसा णमंसामि ॥२८॥

अर्थ -- मनुष्य लोक में जितने निर्वाण स्थान और अतिशयों से सहित स्थान है मै उन सबको सिर से नमस्कार करता हूं ।

जो जण पढइ तियालं, णिव्वुइकंडंपि भाव सुद्धीए ।
भुंजदि णरसुर सुक्खं, पच्छा सो लहइ णिव्वाण ॥२९॥

अर्थ -- जो मनुष्य भाव शुद्धिपुर्वक तीनों काल मे निर्वाण को पढ़ता है वह मनुष्य और देवों के सुख भोगता है तत्पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है ।

अंचलिका

इच्छामि भंते परिणिव्वाण भक्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सा लोचेउं, इमम्मि अवसप्पिणीए, चउत्थ समयस्स पच्छिमे भाय आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि, पावाए णयरीए कत्तियमासस्स

किण्हचउद्दसिएरत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसेभयवदो महदि, महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिंगदो, तिसुवि-लोएसुभवणवासिय वाणविंतर जोयिसिय कप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण, गंधेण, दिव्वेण अक्खेण, दिव्वेण दीवेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूव्वेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकाल अच्चंति पूजंति वंदंति णमंसंति परिणिव्वाण महाकल्लाण पुज्जं करंति अहमवि इह संतो तत्थ संताईयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ सुगई गमणं समाहिमरणं जिण गुण संपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ -- हे भगवान मैने निर्वाणभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है । उसकी आलोचना करना चाहता हूं इस अवसर्पिणी सम्बन्धी चतुर्थ काल के पिछले भाग में साढ़े तीन माह कम चार वर्ष शेष रहने पर पावानगरी में कार्तिक मास में कृष्ण चर्तुदशी की रात्रि में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए प्रभात काल में भगवान महति महावीर अथवा वर्द्धमान स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए । उसके उपलक्ष्य में तीनों लोकों में जो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषि और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार के देव रहते है वे सपरिवार दिव्य गंध दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्यचूर्ण दिव्य सुगन्धित पदार्थ और दिव्य स्नान के द्वारा निरन्तर उनकी अर्चा करते है, पूजा करते है वन्दना करते है, नमस्कार करते है और निर्वाण नामक महाकल्याणकों की पूजा करते है मै भी यहाँ रहता हुआ वहाँ स्थित उन निर्वाण क्षेत्रों की नित्यकाल अर्चा करता हूं, पूजा करता हू, वन्दना करता हूं, नमस्कार करता हू । इसके फलस्वरूप मेरे दु खों का क्षय हो कर्मों का क्षय हो रत्नत्रय की प्राप्ति हो सुगति में गमन हो समाधि मरण हो और मुझे जिनेन्द्र भगवान् के गुणो की संप्राप्ति हो ।

वीतराग स्तोत्रम् (मिश्रित भाषा)

शिवं शुद्धबुद्धं परं विश्वनाथं,

न देवो न बन्धुर्न कर्त्ता न कर्म ।

न अंगं न संगं न स्वेच्छा न कायम्,

चिदानन्दरूपं नमो वीतरागं ॥ १ ॥

न वंधो न मोक्षो न रागादिलोभं,

न योगं न भोगं न व्याधिर्न शोकम् ।

न कोप न मानं न माया न लोभम्,

चिदानन्दरूपम् नमो वीतरागं ॥ २ ॥

न हस्तौ न पादौ न घ्राणं न जिव्हा,

न चक्षु र्न कर्णं न वक्त्रं न निद्रा ।

न स्वामी न भृत्यं न देवो न मर्त्यः,

चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥ ३ ॥

न जन्म न मृत्युः न मोदो न चिन्ता,

न क्षुद्रो न भीतोनकाश्र्यं न तन्द्रा ।

न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा,

चिदानन्द रूपं नमो वीतरागम् ॥ ४ ॥

त्रिदण्डे त्रिखण्डे हरे विश्वनाथं,

हृषीकेश विध्वस्त कर्मादि जालम् ।

न पुण्यं न पापं न चाक्षादि पादम्,

चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥ ५ ॥

न बालो, न वृद्धो न तुच्छो न मूढो,

न खेदं न भेद न मूर्तिर्न स्वेद:

न कृष्ण न शुक्लम् न मोहं न तन्द्रा

चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥ ६ ॥

न आद्य न मध्य न अन्त न चान्यत्,

न द्रव्य न क्षेत्र न कालो न भाव:

न शिष्यो गुरूर्नापि न हीन न दीनम्

चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥ ७ ॥

ज्ञान स्वरूपं स्वयं तत्ववेदी,

न पुर्णं न शून्यं न चैत्य स्वरूपी ।

न चान्योन्यभिन्नं न परमार्थ-मेकम्,

चिदानन्दरूप नमो वीतरागम् ॥ ८ ॥

आत्माराम गुणाकार गुणनिधिम् चैतन्य रत्नाकर,

सर्वे भूतगतागते, सुख दुखे जाते त्वया सर्वगे,

त्रैलोक्याधिपते। स्वयं स्वमनसा ध्यायन्ति योगीश्वरा:,

वन्दे त हरिवश हर्ष हृदय श्रीमान् हृदाम्युद्यातम्

॥ ९ ॥

परमानन्द स्तोत्रम्

परमानन्द-संयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम् ॥ १ ॥
अनन्तसुख संपन्नं, ज्ञानामृत-पयोधरम् ।
अनन्त-वीर्य-सम्पन्न, दर्शनं परमात्मनः ॥ २ ॥
निर्विकारं निरबाधं, सर्व-संग-विवर्जितम् ।
परमानन्द-सम्पन्न, शुद्ध-चैतन्य-लक्षण ॥ ३ ॥
उत्तमा स्वात्मचिता स्यात्, मोहचिता च मध्यमा ।
अधमाकाम-चिंता स्यात्, पर-चिंता धमाधमा ॥ ४ ॥
निर्विकल्प-समुत्पन्नम्, ज्ञानमेव सुधा-रसम् ।
विवेकमजुलि कृत्वा, तं पिबन्ति तपस्विनः ॥ ५ ॥
सदानन्दमयं जीव यो जानाति स पडितः ।
स सेवते निजात्मान, परमानन्द-कारण ॥ ७ ॥
नलिनाच्च यथा नीर भिन्नम् तिष्ठति सर्वदा ।
सोऽयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥ ७ ॥
द्रव्य-कर्म-मलैर्मुक्तं भाव-कर्म विवर्जितम् ।
नोकर्म-रहितं सिद्ध, निश्चयेन चिदात्मकम् ॥ ८ ॥
आनन्द ब्रह्मणो रूपम्, निजदेहे व्यवस्थितम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥ ९ ॥
सद्ध्यान क्रियते भव्यैः मनोयेन विलीयते ।
तत्क्षण दृश्यते शुद्ध चिच्चमत्कार-लक्षणं ॥ १० ॥
ये ध्यानलीना मुनयः प्रधानाः, ते दुःखहीना नियमाद् भवन्ति ।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्म तत्व, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥ ११ ॥
आनन्दरूप परमात्मतत्व, समस्त-सकल्प-विकल्प-मुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसंति नित्यम्, जानाति योगी स्वयमेव तत्व ॥ १२ ॥
निजानन्दमयं शुद्धम्, निराकारम् निरामयम् ।

अनन्तसुखसम्पन्नं, सर्व संग-विवर्जितम् ॥ १३ ॥

लोकमात्र प्रमाणोऽयं, निश्चये न हि संशयः ।

व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः ॥ १४ ॥

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षणं गतविभ्रमः ।

स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्प समाधितः ॥ १५ ॥

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिन-पुंगवः ।

स एव परमं तत्वं, स एव परमो गुरूः ॥ १६ ॥

स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः ।

स एव परम ध्यानं, स एव परमात्मकः ॥ १७ ॥

स एव सर्व-कल्याण, स एव सुख-भाजनम् ।

स एव शुद्ध चिद्रूप, स एव परम शिवः ॥ १८ ॥

स एव परमानन्द·, स एव सुख-दायकः ।

स एव परम ज्ञान, स एव गुणसागरः ॥ १९ ॥

परमाल्हाद-सपन्नं, राग-द्वेष-विवर्जितम् ।

सोह तं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडितः ॥ २० ॥

आकार रहितं शुद्ध, स्व स्वरूपं व्यवस्थितम् ।

सिद्धमष्टगुणोपेत, निर्विकारम् निरंजनम् ॥ २१ ॥

तत्सदृशम् निजात्मानं, यो जानाति स पडितः ।

सहजानन्द चैतन्यप्रकाशाय, महीयसे ॥ २२ ॥

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध मध्ये यथा घृतम् ।

तिले मध्ये यथा तैलम्, देह-मध्ये तथा शिवः ॥ २३ ॥

काष्ठ मध्ये यथा वह्निः, शक्ति रूपेण तिष्ठति ।

अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पंडितः ॥ २४ ॥

--: इति प्रस्तावना :--

वीतरागाय नमः

[द्वितीय-खण्ड]

दशभक्त्यादि संग्रह

(१)

ईर्यापथ-भक्ति

नि:संगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रि:परीत्येत्य भक्तया,
स्थित्वा गत्वा निषद्योच्चरणपरिणतोऽन्त:शनैर्हस्तयुग्मम् ।
भाले संस्थाप्य बुद्धया मम दुरितहरं कीर्त्तये शक्रवन्द्यम्,
निन्दादूर सदाप्त क्षयरहितममुंज्ञान-भानुं जिनेन्द्रम् ॥ १ ॥

अर्थ -- मै मन वचन काय से शुद्ध होकर श्री जिनालय में जाता हूं । बड़ी भक्ति से प्रदक्षिणा देता हूं । फिर खड़ा होकर थोड़ा आगे चलता हूं । फिर बैठकर धीरे-धीरे कुछ स्तोत्र पढ़ता हुआ हाथ जोड़कर मस्तक पर रखता हूं और समस्त पापों से दूर करने वाले इन्द्रों के द्वारा पूज्य समस्त दोषो से रहित अविनश्वर और ज्ञानरूपी सूर्य ऐसे श्री अर्हन्त देव भगवान् जिनेन्द्र देव की, मै अपनी बुद्धि के अनुसार स्तुति करता हू ।

श्रीमत्पवित्रमकलंक मनन्तकल्पं,
स्वायं भुव सकल-मंगल मादि तीर्थं ।
नित्योत्सवं मणिमयं-निलयं जिनानां,
त्रैलोक्य-भूषण महं शरणम् प्रपद्ये ॥ २ ॥

अर्थ -- जो जिनालय परम ऐश्वर्य सहित है, पवित्र है, कलंक रहित है अनन्त काल से जिसकी परंपरा चली आ रही है जो भगवान जिनेन्द्र देव के सम्बन्ध से अत्यन्त पवित्र है अर्थात् जिसमें भगवान् जिनेन्द्र देव विराजमान है जिसमें सब प्रकार के मंगल होते रहते हैं जो भव्य जीवों को संसार से पार कर देने के लिए मुख्य तीर्थ

है, जिसमें सदा उत्सव होते रहते है । जो अनेक प्रकार के रत्नों से सुशोभित और तीनों लोकों को सुशोभित करने वाले है ऐसे जिनालयों की शरण में मै जाता हूं ।

श्रीमत्परमगम्भीर, स्याद्वादामोघ-लान्छनम्,
जीयात्त्रैलोक्य नाथस्य, शासन जिनशासनं ॥ ३ ॥

अर्थ -- जो अनेक अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मियों से भरपूर है और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिन्ह है ऐसा श्री तीन लोक के स्वामी का शासन श्री जैन शासन सदा जीवित रहो ॥३॥

श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखा-लोकनं भवेत् ।
आलोकन-विहीनस्य, तत्सुखा वाप्तय· कुत ॥ ४ ॥

अर्थ -- आज श्री जिनेन्द्र देव का मुख देखने मात्र से मुक्ति रूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई देता है भला जो श्री जिनेन्द्र देव के मुख का दर्शन नही करते उनको यह सुख कहाँ से मिल सकता है ।

अद्यो भवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव । त्वदीय-चरणाम्बुज वीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोक-तिलक । प्रतिभासते मे,
ससार वारिधिरयं चुलुक-प्रमाणं ॥ ५ ॥

अर्थ .-- हे देव । आज आपके चरण कमल देखने से मेरे दोनों ही नेत्र सफल हुए हैं । हे तीनों लोकों के तिलक आज यह संसार रूपी समुद्र मुझे चुल्लू भर पानी के समान जान पडता है ।

अद्य मे क्षालित गात्र, नेत्रे च विमलीकृते ।
स्नातोऽह धर्म तीर्थेषु जिनेन्द्र! तव दर्शनात् ॥ ६ ॥

अर्थ -- हे जिनेन्द्र देव। आज आपके दर्शन करने से मेरा शरीर पवित्र हो गया है मेरे दोनों नेत्र निर्मल हो गए है और आज मैने धर्म रूपी तीर्थ में स्नान कर लिया है ।

नमो नमः सत्व हितकराय, वीराय भव्याम्बुज भास्कराय ।
अनन्त लोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥७॥

अर्थ -- जो भगवान् वर्द्धमान स्वामी समस्त प्राणियों का भला करने वाले है भव्य रूपी कमलों को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले हैं । अनन्त लोक-अलोक को देखने वाले है देवों के द्वारा पूज्य है

और देवों के भी परम देव है ऐसे अर्हन्त देव भगवान् महावीर स्वामी के लिए मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ।

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय, विनष्टदोषाय गुणार्णवाय ।
विमुक्तिमार्ग प्रतिबोधनाय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ।। ८ ।।

अर्थ -- जो भगवान अर्हन्त देव इन्द्रों के द्वारा पूज्य हैं क्षुधा तृषा आदि अट्ठारह दोषों से रहित है अनंत गुणों के समुद्र हैं, मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले है और देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव है ऐसे अर्हन्त देव के लिए मै बार-२ नमस्कार करता हूं ।

देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग ।
सर्वज्ञ तीर्थंकर ! सिद्ध ! महानुभाव ।
त्रैलोक्यनाथ ! जिनपुंगव ! वर्द्धमान ।
स्वामिन् गतोऽस्मि शरण चरणद्वयं ते ।। ९ ।।

अर्थ -- हे देवाधिदेव ! हे परमेश्वर, हे वीतराग, हे सर्वज्ञ, हे तीर्थंकर हे सिद्ध हे महानुभाव, हे तीन लोकों के नाथ ! हे जिनेन्द्र देव श्री वर्द्धमान स्वामिन् मै आपके दोनों चरण कमलों की शरण प्राप्त होता हूं ।

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा: जितकषाया:,
जितजन्ममरणरोगा: जितमात्सर्या जयन्तु जिना: ।। १० ।।

अर्थ -- मद, हर्ष, द्वेष को जीतने वाले मोह और परिषह को जीतने वाले जन्म मरण रोगों को जीतने वाले और मत्सरता को जीतने वाले भगवान् जिनेन्द्र देव जयशील हों ।

जयतु जिनवर्द्धमानस्त्रिभुवन हित धर्मचक्रनीरजबन्धु: ।
त्रिदशपति-मुकुट भासुर
चूडामणि-रश्मि-रञ्जितारूण-चरण: ।। ११ ।।

अर्थ -- जो श्री वर्द्धमान स्वामी तीनों लोकों का हित करने वाले धर्म समूह रूपी कमलों के लिये सूर्य के समान है और जिनके अरूण (लाल रंग के) चरण कमल इन्द्र के मुकुट में देदीप्यमान चूड़ामणि रत्न की किरणों से और भी सुशोभित हो रहे है ऐसे श्री भगवान् वर्द्धमान स्वामी सदा जयशील हों ।

जय जय जय, त्रैलोक्यकाण्ड-शोभिशिखामणे,
नुद नुद नुद स्वान्तध्वान्तं जगत्कमलार्क नः ।
नय नय नय स्वामिन् शान्तिं नितान्तमनन्तिमां,
नहि नहि नहि त्राता लोकैकमित्र भवत्परः ।। १२ ।।

अर्थ :-- हे भगवन् ! आप तीनों लोकों में अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखा मणि के समान है । इसलिए आपकी जय हो, जय हो, जय हो, हे प्रभो आप जगत रूपी कमल को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान है । इसलिये मेरे हृदय के मोहांधकार को दूर कीजिए, दूर कीजिए । हे स्वामिन् ! कभी न नाश होने वाली अत्यन्त शान्ति दीजिए, दीजिए, दीजिए । हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र ! आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला संसार के दु:खों से बचाने वाला अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है ।

चित्ते मुखे शिरसि पाणिपयोजयुग्मे,
भक्तिं स्तुतिं विनतिमंजलिमन्जसैव ।
चेक्रीयते चरिकरीति चरीकरीति,
यश्चर्करीति तव देव! स एव धन्यः ।। १३ ।।

अर्थ -- हे देव ! जो पुरूष अपने हृदय में आपकी भक्ति करता है, आपकी स्तुति करता है, मस्तक से आपको नमस्कार करता है और अपने दोनों हाथ रूपी कमलों से आपके लिये बार-२ अंजुलि करता है अर्थात् दोनों हाथ जोड़ता है । हे भगवान वह पुरूष इस ससार में अत्यन्त धन्य समझा जाता है ।

जन्मोन्मार्ज्यम् भजतु भवतः पादपद्म न लभ्यं ।
तच्चेत् स्वैर चरतु न च दुर्देवता सेवता सः ।।
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभ दुर्लभ चेन्मुधास्ते ।
क्षुद्व्यावृत्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः ।। १४ ।।

अर्थ -- हे भगवन् ! यदि किसी पुरूष को जन्म मरण दूर करने वाले आपके चरण कमल न प्राप्त हुए हों तो वह अपनी प्रवृति इच्छानुसार करे तथापि उसे मिथ्या देवताओं का सेवन नही करना चाहिए यदि इस ससार में सुलभ रीति से, अन्न मिल जाए तो उसकी तो बात ही अलग है । किन्तु यदि अन्न की प्राप्ति कठिन भी हो, दुर्लभ भी हो तो ऐसा कौन भूखा मनुष्य है जो अपनी भूख मिटाने के लिये

व्यर्थ ही विष का भक्षण करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

रूपं ते निरूपाधि सुन्दरमिदं पश्यन् सहस्त्रेक्षणः,
प्रेक्षाकौतुककारि कोऽत्र भगवन्, नोपेत्यवस्थान्तरम् ।
वाणीं गद्गद्यन्वपुः पुंलकयन्नेत्रद्वयंस्त्रावयन्,
मूर्द्धानं नमयन्करौ मुकुलयंश्चेतोऽपि निर्वापयन् ।। १५ ।।

अर्थ -- हे भगवन् ! आपका यह रूप बिना ही वस्त्र आभूषण आदि उपाधियों के अत्यन्त सुन्दर है, तथा देखने वालों के लिये अत्यन्त कौतुक उत्पन्न करने वाला है । हे प्रभो! इस संसार में ऐसा कौन सा पुरूष है जो आपके ऐसे सुन्दर रूप को देखकर अपनी अवस्था को न बदल ले । अर्थात् आपके उस सुन्दर रूप को देखकर सब की अवस्था बदल जाती है । हजार नेत्रों को धारण करने वाला इन्द्र भी आपके उस सुन्दर रूप को देखकर अपनी वाणी को गद् गद् बना लेता है । उसका शरीर प्रफुल्लित हो जाता है । उसके दोनों नेत्रों से हर्ष के आँसू बहने लगते है । वह अपने मस्तक को नवा लेता है । दोनों हाथों को जोड़ लेता है और वह अपने हृदय में अत्यन्त सन्तुष्ट हो जाता है ।

त्रस्तारातिरिति त्रिकालविदित त्राता त्रिलोक्या इति
श्रेयः सूतिरितिश्रियां निधिरिति, श्रेष्ठः सुराणामिति ।
प्रोप्तोऽह शरणं शरण्यमगतिस्त्वाँ तत्-त्यजोपेक्षणम्,
रक्षक्षेमपदं प्रसीद जिन! किं, विज्ञापितै र्गोपितैः ।। १६ ।।

अर्थ -- हे भगवन् ! आप समस्त कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले है, समस्त पदार्थों की त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पर्यायों को जानते है, तीनों लोकों की रक्षा करने वाले है, अनेक कल्याणों को उत्पन्न करने वाले है । अनन्त चतुष्टय की निधि है और देवों में भी सर्वश्रेष्ठ है इसके सिवाय आप समस्त जीवों को शरण देने वाले है, और अत्यन्त कल्याणमय पद को प्राप्त होने वाले है । हे प्रभो ! यही समझकर और मुझे अपनी कोई दूसरी गति दिखाई न देने के कारण आपकी शरण में आया हूं । इसलिए हे नाथ प्रसन्न होईये अपनी उपेक्षा का त्याग कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये । मैने जो यह प्रार्थना की है उसे गुप्त रखने से क्या लाभ होगा ?

त्रिलोक राजेन्द्र किरीट कोटि,
प्रभाभिरालीढ पदार विन्दम् ।
निर्मूल मुन्मूलित कर्म वृक्षं,
जिनेन्द्रचन्द्र प्रणमामि भक्त्या ।। १७ ।।

अर्थ -- तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले अनेक राजा महाराजा और इन्द्रों के करोड़ों मुकुटों की प्रभा से जिनके चरण कमल सुशोभित हो रहे है और जिन्होंने कर्म रूपी वृक्ष को जड से नष्ट कर डाला है ऐसे भगवान जिनेन्द्र देव को मै बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हू । अथवा भगवान चन्द्र प्रभु जिनेन्द्र देव को मै बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूं ।

कर-चरण तनुविघातादटतोनिहत: प्रमादत्त: प्राणो ।
ईर्यापथमिति भीत्या मुन्चेतद्दोषहान्यर्थम् ।। १८ ।।

अर्थ -- चलते हुए मेरे हाथ पैर और शरीर के विघात से प्रमाद से जो कोई प्राणी मारा गया हो उसके दोष को नाश करने के लिए इसी डर से ही कहा गया मानो मै व्यर्थ या प्रमाद सहित चलने का त्याग करता हू ।

ईर्यापथे प्रचलताऽद्यमया प्रमादा
देकेन्द्रिय प्रमुख जीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगान्तरेक्षा,
मिथ्यातदस्तु दुरित गुरू-भक्ति तो मे ।। १९ ।।

अर्थ -- हे भगवन् ! ईर्यापथ शुद्धि से चलते हुए मुझ से प्रमाद वश यदि आज एकेन्द्रिय आदि जीव समूहों को बाधा हुई हो अथवा चार हाथ भूमि से अधिक दूर तक दृष्टि डाली हो तो वे मेरे सब पाप गुरू की भक्ति से मिथ्या हो ।

गद्य -- पडिक्कमामि भन्ते ! इरियावहियाए विराहणाए अणागुत्ते, अइग्गमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, पाणुग्गमणे, बीजुग्गमणे, हरिदुग्गमणे, उच्चार पस्सवणखेल सिंहाण वियडिय पइट्ठावणियाए, जे जीवा एेऽन्दिया वा बेऽन्दिया वा, तेऽन्दिया वा, चउरिंदिया वा, पंचेन्दिया वा, णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा सघट्टिदा वा संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिच्छदा वा, लेस्सिदा वा, छिंदिदा वा भिंदिदा वा, ठाणदो वा

ठाणचंकमणदो वा, तस्स उत्तरगुण, तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोक्कारं पज्जु वास करेमि तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

अर्थ :-- हे भगवान् मै प्रतिक्रमण करता हूं । अर्थात् किये हुए दोषों का निराकरण करता हूं । मैने मन, वचन, काय की गुप्ति रहित होकर ईर्यापथ करते समय जो कुछ जीवों की विराधना की है, उनके दोषों का मै निराकरण करता हूं । मैनें जो शीघ्र गमन किया हो, चलने की प्रथम क्रिया प्रारम्भ की हो, जहां कहीं ठहरने की क्रिया की हो, सामान्य गमन किया हो पैर फैलाए हो व संकुचित किए हो, श्वासोच्छ्वास लिया हो अथवा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय प्राणियों के ऊपर से अपने प्रमाद के कारण गमन किया हो, किसी बीज के ऊपर से गमन किया हो, हरितकाय के ऊपर से गमन किया हो, मैने जो मल निक्षेपण (टट्टी) किया हो मूत्र (पेशाब) किया हो, थूका हो, कफ डाला हो पीछी, कमण्डलु पुस्तक आदि उपकरण प्रमाद पूर्वक रक्खे हों, इन समस्त क्रियाओं के करने में जो एकेन्द्रिय जीव, वा दो इन्द्रिय जीव वा तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय अथवा पंचेन्द्रिय जीव अपने-२ स्थान पर जाते समय रोके गए हो, अपने स्थान से दूसरी जगह रक्खे गए हो, एक को दूसरे की रगड़ से पीड़ा पहुंचाई हो, व समस्त इकट्ठे कर एक जगह रख दिए हो, संतप्त कर दिए हों, चूर्ण रूप कर दिए हो अर्थात् कूट दिए हों, मूर्च्छित कर दिए हों टुकड़े-२ कर दिये हों, विदीर्ण कर दिये हों, अपने ही स्थान पर स्थित हो, अपने एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए चल रहे हों, ऐसे जीवों की मुझ से जो विराधना हुई, उसका प्रतिक्रमण करने के लिए तत्सम्बन्धित दोषों का निराकरण करने के लिए मै प्रवृत्त हुआ हूं ।

मै जब तक भगवान् अर्हन्त देव को नमस्कार करता हूं, स्मरण व पूजा करता हूं तब तक अपने शरीर से ममत्व का त्याग करता हूं अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूँ । इस शरीर से अनेक पाप कर्म होते है और अनेक दुष्ट चेष्टाएँ होती है इसलिए मै इसका त्याग करता हूं । यह भगवान् अर्हन्त देव को किया हुआ नमस्कार व किया हुआ उनका स्मरण अत्यन्त उत्तम है । क्योंकि भगवान अर्हन्त देव को नमस्कार करने से व उनका स्मरण करने से किए हुए समस्त दोष दूर हो जाते है । अथवा उन जीवों की, की हुई विराधना का प्रायश्चित्त हो जाता है । प्रमाद से उत्पन्न होने वाले समस्त

दोष दूर हो जाते है । तथा उन जीवों की विराधना से उत्पन्न होने वाले समस्त पाप नष्ट हो जाते है उन पापों की शुद्धि हो जाती है ईर्यापथ में होने वाले समस्त कर्मों का नाश हो जाता है ।

गाथा :- णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणँ णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

यहाँ पर णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिए ।

ओम नम· परमात्मने नमोऽनेकान्ताय शान्तये ।

अर्थ ·- मै परमात्मा के लिये नमस्कार करता हूं तथा अनेकान्त स्वरूप तत्त्वों का निरुपण करने वाले और अत्यन्त शान्त वीतराग परमदेव के लिए मै नमस्कार करता हूं ।

इच्छामि भंते ! आलोचेउं इरिया वहियस्स पुव्वुत्तर दक्खिण पच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण, जुगंतर दिट्ठिणा, भव्वेण दट्ठव्वा पमाददोसेण डवडवचरियाए पाणभूदजीव सत्ताणं उवघादो कदोवा कारिदोवा कीरतोवा समणुमण्णिदो वा, तस्स मिच्छा मे दुक्कड ।

अर्थ -- हे भगवान् ! मै आलोचना करने की इच्छा करता हू (निन्दा करना और गर्हा करना आलोचना कहलाती है अपने आप किये हुये दोषों की निन्दा करना मैने जो दुष्ट कर्म किये है सो बहुत बुरा किया है इस प्रकार अपने हृदय में भावना रखना निन्दा कहलाती है तथा गुरू के समीप जाकर उन्ही दोषों की निन्दा करना गर्हा है) ईर्यापथ गमन करते समय प्रमाद से जो दोष लगे हों उनकी मैं निन्दा गर्हा रूप आलोचना करता हूं ।

किसी भी भव्य जीव को चलाना हो पूर्व दिशा, उत्तर दिशा पश्चिम दिशा व दक्षिण दिशा की ओर चलना हो अथवा इन दिशाओं के मध्य भाग में विदिशाओं में चलना हो तो उसे उचित है कि वह चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता चले अर्थात् चार हाथ भूमि तक अपनी दृष्टि रक्खे और उसमें जो एकेन्द्रिय आदि जीव हो उनको देखता चले उनका बचाव करते चले । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों को अर्थात् विकलेन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते है वनस्पति कायिक जीव को 'भूत' कहते है । पंचेन्द्रिय जीवों को 'जीव' कहते है और पृथ्वी कायिक, जल कायिक, तेजस् कायिक, और वायु कायिक जीवों को ''सत्व'' कहते है सो ही लिखा है--

द्वित्रिचतुरिन्द्रिया: प्राणा:, भूतास्ते तरव: स्मृता: ।
जीवा: पंचेन्द्रिया: ज्ञेया:, शेषा: सत्वा: प्रकीर्तिता: ।।

अर्थ :-- दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय ''प्राणी'' कहलाते है वृक्ष सब ''भूत'' कहलाते है पंचेन्द्रिय ''जीव'' कहलाते है और बाकी के सब सत्व कहे जाते है । ऊपर की ओर मुँह उठाकर शीघ्रता के साथ इधर उधर चलने को 'दव दव चर्या' कहते है । प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषों के कारण ऊपर की ओर मुँह उठाकर शीघ्रता के साथ इधर उधर गमन किया हो और उसमें दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय प्राणी, वनस्पति कायिक जीव, पंचेन्द्रिय जीव और पृथ्वी कायिक, जल कायिक, तेजस् कायिक तथा वायु कायिक जीवों का घात किया हो, कराया हो व करते हुए को भला माना हो तो उन जीवों के घात व पीडा से जो पाप उत्पन्न हुए हो वे सब मिथ्या हों । कहीं कहीं पर टुकड़े के स्थान में ''टुक्कडं'' ऐसा भी पाठ है उसका भी यही अर्थ है ।

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया:, मायाविना लोभिना,
रागद्वेष मलीमसेन मनसा, दुष्कर्म यन्निर्मितम्,
त्रैलोक्याधिपते! जिनेन्द्र! भवत: श्री पादमूलेऽधुना,
निंदापूर्व मह जहामि सततं निर्वर्तये कर्मणाम् ।।

अर्थ -- हे तीनों लोको के स्वामी श्री जिनेन्द्र देव मै अत्यन्त पापी हूं, दुष्ट हूं, मंद बुद्धि हूं, कपटी हूं और लोभी हूं ऐसे मेरे द्वारा रागद्वेष से अत्यन्त मलीन मन में जो कुछ पाप उत्पन्न हुए हों उन सबकी निन्दा करता हुआ मै इस समय आपके चरण कमलों के सामने, कर्मों का नाश करने के लिए उन सब पापों को सदा के लिए छोड़ता हूं ।

जिनेन्द्रमुन्मूलित कर्मबन्धं, प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम् ।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं, क्रियाकलापं प्रगटं प्रवक्ष्ये ।।२।।

अर्थ :- चार घातिया कर्म के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, सन्मार्गानुसार जिन्होंने अपने स्वरूप को प्रकट किया है, अनन्त ज्ञानादि गुणों को जो धारण करने वाले है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर मै क्रियाकलाप को प्रकट रूप से कह रहा हूं ।

गद्य :- अथार्हत्पूजारम्भक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं

भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् ।

गद्य :-- हे भगवन् ! श्री अरहंत देव की पूजा करते समय अपने समस्त कर्मों को क्षय करने के लिये पूर्वाचार्यों की कही हुई विधि के अनुसार भाव पूजा, वन्दना और स्तुति सहित, अंतरंग बहिरंग गुण रूपी लक्ष्मी से सुशोभित सिद्धभक्ति और कायोत्सर्ग करता हूं ।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।। १ ।।

गद्य -- चत्तारि मंगलं-अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमा, चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणंपव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तंधम्मं, सरणंपव्वज्जामि ।

अड्ढाइज्जदीव दोसमुद्देसु, पण्णारसकम्मभूमिसु, जावअरहन्ताणं भयवन्ताणं, आदियराणं तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाणं, केवलियाणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, परियडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं धम्मवरचाउरंग चक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणम्, णाणाणम्, दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं ।

करेमि भंते ! सामायियं, (देववंदना) सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि,

जावज्जीवम् तिविहेण-मणसा, वचसा, कायेण, णा करेमि, ण कारेमि कारंतंपि ण समणुमणामि, तस्स भंते ! अइचार पच्चक्खामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणम्, जावअरहंताणम्, भयवंताणम्, पज्जुवासँ करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

गाथा :- जीवियमरणे लाहा लाहे संजोग विप्पजोगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादो, समदा सामायियं णाम ।।१।।

अर्थ :-- जीवित रहने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, बन्धुओं में, शत्रुओं में, सुख में तथा दुख में सब में जो समता धारण करता है, किसी से रागद्वेष नहीं करता है, उसको सामायिक कहते है ।

- (कायोत्सर्गं करोम्यहं) -

चतुर्विंशतिस्तव-

गाथा - थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णर पवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ।। १ ।।
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे ।
अरहंते कित्तिस्से, चौवीसं चेव केवलिणो ।। २ ।।
उसह मजिय च वन्दे, संभव मभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वन्दे ।। ३ ।।
सुविहि च पुप्फयतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमल मणंतं भयवं, धम्मं सन्तिं च वन्दामि ।। ४ ।।
कुन्थु च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वय च णमिं ।
वन्दामिरिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ।। ५ ।।
एव मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चौबीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयन्तु ।। ६ ।।
कित्तिय वदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाह, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।। ७ ।।
चंदेहिं णिम्मलयरा, अहिच्चेहिं अहियपयासंता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।। ८ ।।

।। इति श्री ईर्यापथ भक्तिः ।।

(२)

✿ सिद्धभक्ति ✿

विशेष-यह स्रग्धरा छद है इसके प्रत्येक चरण मे २१ अक्षर है उन्हें बोलते समय सात-सात अक्षरों पर विराम करना चाहिये ।

सिद्धानुद्धूतकर्म, प्रकृतिसमुदयान् साधितात्मस्वभावान्
वन्दे सिद्धिप्रसिद्ध्यै, तदनुपमगुण, प्रग्रहाकृष्टितुष्टः ।
सिद्धिः, स्वात्मोपलब्धिः, प्रगुणगुण-गणोच्छादि
दोषापहाराद्,
योग्योपादानयुक्त्या, दृषद् इह यथा, हेमभावोपलब्धिः ॥ १ ॥

अर्थ -- जिस प्रकार भट्टी, धमनी आदि निमित्त कारणों की युक्ति पूर्वक योजना करने से सुवर्णपाषाण में से किट्ट कालिमा आदि मैल सब निकल जाता है और शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति हो जाती है ; उसी प्रकार यह ससारी आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों से अत्यन्त मलिन हो रहा है । इस आत्मा में ज्ञानादिक गुण सर्वोत्कृष्ट है जो कि अन्य किसी भी द्रव्य मे नहीं रहते । अथवा जिनसे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो ऐसे ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा मे सर्वोत्कृष्ट गुण है । अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि सर्वोत्कृष्ट गुण है, ऐसे अनन्त गुणों का समुदाय आत्मा मे है । इस संसारी आत्मा के साथ जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घातिया कर्म लगे हुए है वे सब आत्मा के उन अनन्तज्ञान वा अनन्त-दर्शन रूप गुणों का घात करते है । इसलिए उन समस्त कर्मों को दोष कहते है । उन समस्त घातिया, अघातिया कर्म रूपी दोषों का सर्वथा नाश व अभाव हो जाने से जो अनन्त-ज्ञानादि स्वरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उसको 'सिद्धि' कहते है । उस सिद्धि को जो प्राप्त हो चुके है, जिनको उस शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति हो गई है, उनको 'सिद्ध' कहते है । वे सिद्ध भगवान् कर्मों की प्रकृतियों के समुदाय से सर्वथा रहित होते है । ससार में बहुत से ऐसे भी मनुष्य है जिनको अंजन गुटिका सिद्ध

हो जाती है । वे एक प्रकार का सिद्ध अंजन बनाते है जिसको आंख में लगा लेने से वे किसी को दिखाई नहीं देते तथा उनको सब कुछ दिखता है । ऐसे मनुष्यों को अंजनगुटिकासिद्ध कहते है । (यह एक प्रकार का तांत्रिक प्रयोग है, और यह मिथ्यादृष्टि के भी सिद्ध हो सकता है) वे अंजनगुटिकासिद्ध सिद्ध नहीं है किन्तु जिनके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं उन्हीं को 'सिद्ध' कहते है । यही सूचित करने के लिए आचार्य ने सिद्धों का स्वरूप समस्त कर्मप्रकृतियों से रहित बतलाया है । इसके सिवाय जिन्होंने अनन्तज्ञानदर्शन स्वरूप अपने आत्मा का निज स्वभाव सिद्ध कर लिया है उन्हीं का सिद्ध कहते है । बहुत से नैयायिक आदि मतवाले ईश्वर को सदा ज्ञानी मानते है । ईश्वर में सदा से रहने वाला ज्ञान मानते है । उनका खण्डन करने के लिए आचार्य कहते है कि जिन्होंने अनन्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही सिद्ध कहलाते है । ईश्वर में सदा से ज्ञान कभी नहीं हो सकता । पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करना पड़ता है तब कहीं जाकर पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है । जिनके पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है उन्हीं को सिद्ध कहते हैं । उन सिद्धों के उपमा रहित अनन्त-गुण है । उन अनन्त गुणरूपी रस्सी के द्वारा उन सिद्धों की ओर खिच जाने के कारण अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ मै उस शुद्ध आत्मस्वरूप सिद्धि की प्राप्ति के लिए उन सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ :- जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सुवर्ण पाषाण में से कीट कालिमा निकालकर शुद्ध सुवर्ण प्राप्त कर लेते है उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी मल को दूर करने से जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उसी को सिद्ध अवस्था कहते है । इसलिये वह सिद्ध अवस्था समस्त कर्मों से रहित है और आत्मा के निज स्वभाव रूप है । ऐसे सिद्धों के लिए मै इनके गुणों से मोहित होकर उसी सिद्ध-पद को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

आगे -- नैयायिक बौद्ध आदि अन्य दर्शनकार जो मोक्ष का स्वरूप मानते है उसका खण्डन करते हुए आचार्य मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बतलाते है तथा साथ में ही आत्मतत्व का निरूपण भी करते है --

नाभाव:सिद्धिरिष्टा, न निजगुणहति स्तत्तपोभि र्न-युक्तेः। अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्ष भागी ॥

ज्ञाता दृष्टा स्वदेह, प्रमिति रूपसमाहार विस्तारधर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्ति व्ययात्मा, स्वगुणयुत इतो नान्यथासाध्य सिद्धिः ॥ २ ॥

अर्थ :-- बौद्ध और वैशेषिक आदि मतवाले मोक्ष का स्वरूप 'अभावरूप' मानते है । वे कहते है कि जिस प्रकार तेल के समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है फिर वह किसी भी दिशा या विदिशा मे जाकर नहीं ठहरता, किन्तु वह सर्वथा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का जब क्लेश व दु खादि नष्ट हो जाता है तब अत्मा का सर्वथा अभाव हो जाता है; इसी को 'मोक्ष' कहते है । ऐसा बौद्ध मानते है । परन्तु आचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते है कि मोक्ष का स्वरूप अभावरूप नही है, क्योंकि ऐसा कोई भी बुद्धिमान नही है जो अपना नाश करने के लिए प्रयत्न करे । तथा मोक्ष के लिए प्रयत्न किया ही जाता है । इसलिए बौद्ध का माना हुआ मोक्ष का स्वरूप ठीक नही है ।

यौग मतवाले कहते है कि बुद्धि, सुख, दुख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये आत्मा के विशेष गुण है, इनका अत्यन्त नाश हो जाना ही मोक्ष है, परन्तु आचार्य कहते है कि यौगों के द्वारा भी माना हुआ मोक्ष का यह लक्षण ठीक नही है, क्योंकि मोक्ष का स्वरूप आत्मा के गुणों के नाश होने रूप नही है । इसका भी कारण यह है कि यदि आत्मा के गुणों का नाश होना ही मोक्ष मान लिया जाये तो लोगों का तपश्चरण करना, व्रत पालना आदि कुछ भी नही बन सकेगा, क्योंकि अपने आत्मा का नाश करने लिए अथवा अपने आत्मा के गुणों का नाश करने के लिए, कोई भी बुद्धिमान मनुष्य व्रत या तप का पालन नही करता । संसार में जो तप और व्रतों का पालन किया जाता है, वह आत्मा को दुर्गति से बचाने के लिए और आत्मा के गुणों की वृद्धि करने के लिए ही किया जाता है, इसलिए मानना चाहिये कि आत्मा के गुणों का नाश होना मोक्ष का स्वरूप नहीं है ।

चार्वाक कहता है कि आत्मा ही कोई पदार्थ नही है आत्मा का ही सर्वथा अभाव है फिर मोक्ष किसका ? किन्तु चार्वाक का यह भी कहना

ठीक नही है । इसी का खण्डन करते समय हुए आचार्य कहते है कि आत्मा है और वह अनादिकाल से चला आ रहा है । कोई कोई लोग आत्मा का अस्तित्व मानते तो है परन्तु उसी जन्म की आत्मा को ही मानते है । भूत और भविष्यत् काल में उसका अस्तित्व नहीं मानते । इसी बात का खण्डन करने के लिए आचार्य कहते है कि वह आत्मा अनादि काल से चला आ रहा है ।

अथवा यो कहना चाहिए कि वह आत्मा अनादि काल से कर्मो से बन्धा हुआ चला आ रहा है । संतान दर संतान रूप से बंधे हुए कर्मों के बधनबद्ध होता हुआ चला आ रहा है । इस कथन से आचार्य ने सांख्य मत का खण्डन किया है । सांख्य मतवाले मानते है कि आत्मा तो सदा मुक्त ही रहता है । वह आत्मा कभी कर्मबद्ध वा पापो से लिप्त नही होता । प्रकृति ही कर्मों से बद्ध वा पापों से लिप्त होती है । और वही प्रकृति उन कर्मों से छूटती रहती है, परन्तु इसका खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा सदा से मुक्त नहीं है, किन्तु अनादि काल से कर्मों के द्वारा बन्धन बद्ध हो रहा है, इसलिए सांख्य मत का यह मानना सर्वथा अयुक्त है इसके सिवाय सांख्य मतवाला यह भी मानता है कि यह आत्मा कर्मों का कर्त्ता नही है किन्तु उन कर्मों के फलों का भोक्ता अवश्य है, परन्तु सौंख्य मत का यह मानना भी सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है । इसी बात का निरूपण करते हुए आचार्य कहते है कि वह अनादि काल से चला आया आत्मा स्वय अपने आप कर्मों को करता है और फिर उससे जो सुख, दु ख, रूप फल प्राप्त होते है उनको भोगता है । यह जीव अपने मन, वचन, काय की जैसी प्रवृत्ति करता है, जैसी कषाय उत्पन्न करता है, उसी के अनुसार अपने कर्मो का फल प्राप्त होता है वह उसे भोगना पडता है । इस प्रकार आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहकर आचार्य ने 'बौद्ध वैशेषिक, योग, सौंख्य, चार्वाक' आदि सब के मतों का खंडन कर दिया है ।

अब जैनाचार्य यह दिखलाते है कि जब मोक्ष का स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार नहीं है तो फिर कैसा है ? इसके उत्तर में कहते है कि इस आत्मा ने जो कर्म स्वयं किये हैं उनका अत्यन्त नाश हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, उन कर्मो का नाश उन कर्मो का फल भोग लेने पर भी होता है और बिना फल भोगे भी होता है दोनों प्रकार से होता है परन्तु उन कर्मों का नाश हुए बिना कभी भी मोक्ष प्राप्त नही होता । इसके सिवाय वह आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है । ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव सहित

है । अनेक लोग आत्मा का स्वरूप जड़ मानते है अथवा केवल चैतन्यमात्र मानते है; इसका खन्डन करने के लिए 'जैनाचार्य' कहते हैं कि आत्मा जड़ नहीं है और न ज्ञानशून्य है; केवल चैतन्यमात्र है अर्थात् आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है । जानना और देखना इसका स्वभाव है ज्ञान और दर्शन स्वभाव को ही चैतन्य कहते है आत्मा का परिमाण अपने शरीर प्रमाण रहता है । 'सांख्य मीमांसक और योग मतवाले' आत्मा को व्यापक मानते हैं परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है । यदि सबका आत्मा व्यापक है और वह समस्त शरीरों में रहता है तो फिर सब जीवों को एक सा ज्ञान होना चाहिए, परन्तु सो होता नही है इससे सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक नहीं है किन्तु शरीर के ही समान रहता है । कदाचित यहाँ पर कोई यह शंका करे कि यदि आत्मा अपने शरीर के समान है तो फिर जो आत्मा हाथी के शरीर में है वह हाथी के शरीर के समान है फिर वह मर कर यदि चीटी के शरीर में जन्म ले, अथवा कोई चीटी का जीव हाथी के शरीर में जन्में तो वह अपना परिमाण कैसे बदल सकता है । इसके उत्तर में आचार्य कहते है कि जिस प्रकार किसी दीपक को छोटे घर में रख दे तो उतने ही घर में वह प्रकाश फैल जाता है और यदि उसी दीपक को बड़े घर में रख दें तो उसका प्रकाश फैलकर सब घर में फैल जाता है और यदि उसी दीपक को घड़े में रख दें तो उसका प्रकाश उतना ही रह जाता है और मैदान में टांग दें तो दूर तक फैल जाता है । जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में संकोच होने और फैलने की शक्ति है, उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार होने की शक्ति है । अपने-२ कर्मों के उदय से यह जीव जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर पाता है तब उसी परिमाण हो जाता है । जब छोटा शरीर पाता है तब आत्मा के प्रदेश संकुचित होकर उसी छोटे शरीर रूप हो जाते हैं और जब बडा शरीर पाता है तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर उस बडे शरीर रूप हो जाते है । बच्चे के शरीर में आत्मा उतने ही परिमाण रूप है फिर शरीर बड़ा होने पर वे ही आत्मा के प्रदेश फैल कर उस बड़े शरीर रूप हो जाते हैं । यही कारण है कि शरीर के बढ़ जाने पर भी शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं रहता जिसमें आत्मा न हो । इससे सिद्ध हो जाता है कि आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने की शक्ति है । जब वह आत्मा कर्मों के उदय से छोटा शरीर पाता है तब उस आत्मा के प्रदेश संकुचित उसी छोटे शरीर के परिमाण हो जाते है तथा जब बड़ा शरीर पाता है तब वे ही आत्म प्रदेश विस्तृत होकर उस बड़े शरीर रूप हो जाते है इसके सिवाय वह आत्मा 'उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप' है । 'सांख्य मीमांसक और योग' कहते है कि आत्मा सर्वथा नित्य है । सर्वथा नित्य होने के

कारण उसमें उत्पाद व्यय नहीं हो सकता, परन्तु इन लोगों का यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि एक आत्मा जो आज सुखी है वही आत्मा कल दुखी हो जाती है तथा जो आज दुखी है वह कल सुखी हो जाती है। इस प्रकार आत्मा में उत्पाद और विनाश स्पष्ट रीति से प्रतीत होता रहता है। इसलिए आत्मा सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु उत्पादव्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।

बौद्धमत वाला मानता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान रूप है। तथा ज्ञान में सदा उत्पाद विनाश होता रहता है। कभी ज्ञान बढ़ता है कभी घटता है, इसलिए आत्मा सर्वथा नित्य नहीं है, किन्तु उत्पाद व्यय स्वरूप है। बौद्धमत वाला आत्मा को ध्रौव्यस्वरूप नहीं मानता परन्तु उसका यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि आत्मा में ध्रौव्यपना न माना जायेगा तो ''मै वही हूं, जो बालक अवस्था में था और कुमार अवस्था में था, यह जो प्रत्येक जीव को प्रत्यभिज्ञान होता है सो नहीं होना चाहिए। यदि आत्मा को सर्वथा उत्पाद, व्यय, स्वरूप ही माना जायेगा और ध्रौव्यरूप न मानाजायेगा तो फिर लेन देन का व्यवहार व धरोहर रखने और लेने का व्यवहार कभी नहीं हो सकेगा। परन्तु यह सब व्यवहार होते है और ''मै वही हूं'' यह प्रत्यभिज्ञान सबको होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा ध्रौव्यस्वरूप है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप बतला कर आचार्य ने ''सांख्य मीमाँसक योग और बौद्ध का खण्डन कर दिया है।'' इसके सिवाय वह आत्मा अपने ज्ञानादि गुणों से सुशोभित होने के कारण ही उसके निजस्वरूप की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि आत्मा को ज्ञानादिक गुणविशिष्ट न माना जायेगा तो फिर उसके निजस्वरूप की प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती। ज्ञानावरणादिक कर्म आत्मा के ज्ञानादिक गुणों को ढक लेते है उन कर्मो के नाश होने से वे ज्ञानादिक गुण प्रगट हो जाते है। उसी को निजस्वरूप अथवा मोक्ष की प्राप्ति कहते है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को ज्ञानादिक गुण विशिष्ट मानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा कभी नहीं हो सकती ॥ २ ॥

आगे यह आत्मा स्वयंभु कैसे बनता है सो दिखलाते है --

स त्वन्तर्बाह्यहेतु, प्रभवविमलसद्दर्शनज्ञानचर्या ।
सम्पद्धेतिप्रघात, क्षतदुरिततया व्यन्जिताचिन्त्यसारैः ।
कैवल्यज्ञानदृष्टि, प्रवरसुखमहा, वीर्यसम्यक्त्वलब्धि ।
ज्योतिर्वातायनादि, स्थिरपरमगुणै, रद्भुतैर्भासमानः ॥ ३ ॥

अर्थ :-- दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम होना सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के लिये अन्तरंग कारण है तथा गुरू का उपदेश, जिनबिंबदर्शन जातिस्मरण आदि बाह्य कारण है । इन अंतरंग और बाह्यकारणों के मिलने से (१) सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, (२) सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होने के लिये (क) दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशमादिक होना अंतरंग कारण है । (ख) और गुरू का उपदेश, स्वाध्याय, तीव्र बुद्धि आदि बाह्य कारण है । सम्यक् चरित्र उत्पन्न होने के लिये मोहनीय कर्म का क्षयोपशमादिक अतरंग कारण है । (ख) और गुरू का उपदेश, स्वाध्याय, तीव्र बुद्धि आदि बाह्य कारण है । (३) सम्यक्-चरित्र उत्पन्न होने के लिये मोहनीय कर्म का क्षयोपशमादिक अन्तरंग कारण है और गुरूपदेश शरीरसंहनन आदि बाह्य कारण है, इन अतरग और बहिरंग कारणों के मिलने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होते है । तथा कर्मों के विशेष क्षयोपशम होने से ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अत्यन्त निर्मल हो जाते है । इस प्रकार के ये निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र आत्मा की सम्पत्ति है । कर्मो का नाश करने के लिये यही रत्नत्रय रूप सम्पत्ति आत्मा का शस्त्र है । इस रत्नत्रयरूप शस्त्र के प्रबल प्रहार से घातिया कर्मरूपी पाप बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । यह आत्मा अपने रत्नत्रयरूप शस्त्र के प्रबल प्रहार से जिस समय घातिया कर्मो को नष्ट कर देता है उसी समय इस आत्मा के केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख, अनत वीर्य, अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, यथाख्यात चारित्र, भामंडल, चमर और दंडादि शब्द से अनेक अनुपम विभूतियाँ प्राप्त होती हैं । ये ऊपर लिखी विभूतियां सिवाय घातिया कर्मो को नाश करने वाले अरहंतो के सिवाय अन्य किसी को भी प्राप्त नही हो सकती । इन विभूतियों में से ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व आदि विभूतियां तो आत्म स्वभाव रूप हैं और वे शाश्वत है फिर उनका नाश कभी नहीं होता । वे शुद्ध मुक्त स्वरूप आत्मा के साथ सदा बनी रहती हैं तथा भामंडल चमर, छत्र, सिंहासन आदि विभूतियां देवोपुनीत है । वे शरीर के साथ तक रहती हैं । ये समस्त विभूतियां अद्‌भुत है, इनका चिंतवन भी नहीं किया जा सकता तथा इन विभूतियो का माहात्म्य अचिंत्य है, अचिंत्य माहात्म्य स्पष्ट प्रगट दिखाई

देता है । जब यह आत्मा घातिया कर्मों के नाश कर देने पर ऊपर लिखे अचिंत्य और परमगुणों के द्वारा देदीप्यमान होता है तभी यह आत्मा स्वयंभू वा अरहंत बन जाता है । भावार्थ -- स्वयंभू वा अरहंत अवस्था को प्राप्त होता है और फिर अघातिया कर्मों का नाश करने पर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है ।। ३ ।।

जानन्पश्यन्समस्तं, सममनुपरतं संप्रतृप्य-न्वितन्वन् ।
धुन्वन्ध्वान्तं नितान्तं, निचितमनुपमं, प्रीणयन्नीशभावम् ।
कुर्वन्सर्वप्रजाना, मपरमभिभवन् ज्योतिरात्मानमात्मा ।
आत्मन्येवात्मनासौ, क्षणमुपजनय न्सत्स्वयंभूः प्रवृत्तः ।। ४ ।।

अर्थ :-- समस्त लोक और अलोक को युगपत् प्रतिक्षण जानता हुआ और देखता हुआ सम्यक् तृप्ति को प्राप्त हुआ अनन्त काल को अपने में व्याप्त करता हुआ निविड़ मोहान्धकार को विशेष ध्वस्त करता हुआ अमृत के समान हितकारक दिव्य वचनों से सभा को तृप्त करता हुआ सब जीवों का प्रभुत्व करता हुआ, शरीर की कांति के द्वारा या केवलज्ञान रूप ज्योति के द्वारा ईश्वरादिक के ज्ञान को और सूर्य चन्द्रादिक के तेज का अभिभव करता हुआ वह आत्मा अपने ही द्वारा अपने में ही अपने स्वरूप का प्रतिक्षण निमग्न करता हुआ स्वयंभू होता है ।। ४ ।।

छिन्दन्शेषानशेषा, न्निगलबलकलीस्तैरनंत स्वभावैः ।
सूक्ष्मत्वाग्र्यावहगाहागुरू लघुकगुणैः, क्षायिकैःशोभमानः ।
अन्यैश्चान्यव्यपोह प्रवण विषय संप्राप्ति लब्धिप्रभावै ।
रूर्ध्वंव्रज्यास्वभावात्समय मुपगतो धाम्नि सन्तिष्ठतेऽग्र्ये ।।५।।

अर्थ -- इसके अनन्तर वह स्वयंभू आत्माबारी कर्मों से भिन्न निगड़ के समान बलिष्ट अवशिष्ट अघाती कर्मों का छेदन करता हुआ अनन्त स्वभाव वाले ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अवगाहनत्व, अगुरूलघुत्व आदि क्षायिक गुणों से और उत्तरोत्तर कर्म प्रकृति विशेषों के व्यामोह (नाश) से और विशुद्ध हुआ आत्मा रूप विषय की प्राप्ति से जिन्हें महात्म्य प्राप्त हुआ है ऐसे चौरासी लाख गुणान्तवर्ती अन्य गुणों से सुशोभित होता हुआ ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में ऊपर पहुंच कर अग्रस्थान में स्थित हो जाता है ।। ५ ।।

अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः ।
प्रागात्मोपात्तदेह, प्रतिकृतिरूचिराकार एव ह्यमूर्तः ।
क्षुत-तृष्णा-श्वासकास, ज्वरमरणजरानिष्टयोग प्रमोह ।
व्यापत्याद्युग्र-दुःखप्रभवभवहतेः, कोऽस्य सौख्यस्यमाता ॥६॥

अर्थ .-- जिससे कि वहां पर पहुंच कर आत्मा सर्व व्यापी या वह कणिका प्रमाण अन्य आकार की प्राप्ति का कारण और कोई नही है इसलिये पहले अपने के द्वारा प्राप्त किये गये देह के आकार के समान कुछ कम दैदीप्यमान आकार का धारक ही होता है । क्षुधा, तृषा, श्वास, कांस, ज्वर, मरण, जरा, अनिष्ट संयोग, प्रमोह नाना प्रकार की आपत्तियां आदि तीव्र दु.ख जिससे उत्पन्न होते है ऐसे संसार के नाश हो जाने से इस सिद्धात्मा के इस सौख्य का प्रमाता इयन्ता का अवधार कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नही हो सकता ॥ ६ ॥

आत्मोपादानसिद्ध, स्वयमतिशयवद्वीतबाध विशाल ।
वृद्धिहासव्यपेत, विषयविरहित, निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ॥
अन्यद्रव्यानपेक्ष निरूपममित, शाश्वत सर्वकालम् ।
उत्कृष्टानन्तसार परम सुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥ ७ ॥

अर्थ -- सिद्धात्मा के सुख का उपादान कारण उनकी आत्मा ही है । उससे वह उत्पन्न होता है और किसी से वह उत्पन्न नहीं होता है वह स्वयं परम अतिशय को प्राप्त है । सब बाधाओं से रहित होता आत्मा के सब असख्यात प्रदेशो मे व्याप्त होने से विशाल (विस्तीर्ण) होता है । वृद्धि और ह्रास से रहित होता है । सासारिक सुख की तरह इन्द्रियो के विषयों से उत्पन्न नहीं होता है उस सुख का प्रतिद्वन्द्वी दु ख वहाँ नही है इसलिए वह प्रतिद्वन्द्वी से रहित होता है वह अन्य सातावेदनीय कर्म द्रव्य की और पुष्पमाला वनिता, चन्दनादि अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता है । उपमा रहित होता है, अप्रमित होता है अतएव कभी विनाश को प्राप्त न होकर सर्वकाल रहता है जिसका माहात्मय परम प्रकर्ष को प्राप्त है ऐसा परम सुख उस अनन्त धाम मे स्थित सिद्ध परमात्मा के होता है ॥ ७ ॥

नार्थः क्षुत्-तृड्विनाशाद्, विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या ।
नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यै र्नहिमृदुशयनै ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतंकार्तेरभावे तदुपशमन सद्भेषजानार्थ तावद् ।
दीपानर्थक्यवद्वा, व्यपगततिमिरे, दृश्यमाने समस्ते ॥ ८ ॥

अर्थ -- सिद्ध परमात्मा के क्षुधा, तृषा का अभाव है इसलिये उसके नाना रसों से युक्त, अन्न और पान से अपवित्र पदार्थों से स्पर्श न होने से गन्ध, माला आदि सुगंधित पदार्थों से ग्लानि, निद्रा, ज्वर आदि का उनके अभाव होता है इसलिये कोमल शय्या से कोई प्रयोजन नहीं होता । जिस तरह कि प्राणों का हरण करने वाली व्याधि से जनित पीड़ा के अभाव में उसको शमन करने वाली औषधि से अथवा अन्धकार के अभाव में जब सम्पूर्ण पदार्थ दृष्टि गोचर हो रहे हों तब दीपक से कोई प्रयोजन नहीं होता है ॥ ८ ॥

तादृक्सम्पत्समेता विविधनयतपः सयमज्ञानदृष्टि
चर्यासिद्धाः समन्तात्प्रविततयशसो, विश्वदेवाधिदेवाः ॥
भूता भव्या भवन्तः सकलजगति येस्तूयमानाविशिष्टैः ।
तान्सर्वान्नौम्यनंतान्, निजिगमिषुररं, तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ -- वे सिद्धभगवान् अनन्त ज्ञानादि गुण रूप संपदा से युक्त नाना प्रकार के नैगमादि नय, अनशनादि तप, सामायिकादि संयम, दर्शन, तेरह प्रकार के चारित्र से कृतकृत्यता को प्राप्त हुए हैं । चहूं और जिनका यश फैला हुआ है । सब देवों के अधिदेव हैं जो भूतकाल में हो गये है, वर्तमान काल में हो रहे है और आगामी काल में होंगे । सकल जगत में जो भव्य जनों द्वारा स्तुत्यमान है उन सब अनन्त सिद्धों को उनके स्वरूप को शीघ्र प्राप्त करने की इच्छा हुआ रखता मैं तीनों संध्याओं में नमस्कार करता हू ॥ ९ ॥

गद्य-- इच्छामि भंते ! सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, सम्मणाणसम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाण, चरित्तसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तय सिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, सयाणिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ,

कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ .-- हे भगवन् सिद्धभक्ति करने के अनन्तर जो मैनें कायोत्सर्ग किया है उसमें लगे हुए दोषों की आलोचना करने की मै इच्छा करता हूं । जो सिद्ध भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चरित्र सहित है, आठों कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सुशोभित हैं, जो ऊर्ध्वलोक के मस्तक पर जाकर विराजमान है, जो तपश्चरण से सिद्ध हुए है, नयों से सिद्ध हुए है, संयम से सिद्ध है, चारित्र से सिद्ध हुए है, जो भूतकाल, भविष्यत् और वर्तमान काल तीनों कालों में सिद्ध हुए हैं ऐसे समस्त सिद्धों की मै सदा हर समय अर्चा करता हूं पूजा करता हू, वन्दना करता हूं और नमस्कार करता हूं । मेरे दु खों का नाश हो, कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, श्रेष्ठ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्र के गुणों की प्राप्ति हो ।

कृत्वा कायोत्सर्गं चतुरष्ट दोष विरहित सुपरिशुद्ध ।
अति भक्ति संप्रयुक्तो, यो वन्दते स लघु लभते परम सुखम् ।। १० ।।

अर्थ - चार कायोत्सर्ग करके अष्टदोष रहित, अत्यन्त शुद्ध सिद्ध को जो अति भक्ति से वन्दता है वह शीघ्र परम सुख पाता है । जो व्यक्ति अत्यन्त निर्मल तथा ३२ प्रकार के दोष रहित कायोत्सर्ग को भक्तिपूर्वक करता है वह शीघ्र ही मुक्ति के सुख को प्राप्त करता है ।

(३)

❀ श्रुत-भक्ति ❀

स्तोष्ये संज्ञानानि, परोक्षप्रत्यक्षभेदभिन्नानि ।

लोकालोक विलोकन, लोलितसल्लोक लोचनानिसदा ॥ १ ॥

अर्थ :-- जिस सम्यग्ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद है और जिस प्रकार नेत्रों से घट-पटादि पदार्थों का ज्ञान होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भव्य जीवों को जिस सम्यग्ज्ञान से लोक, अलोक सब परिज्ञान होता है ऐसे १-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मन· पर्ययज्ञान, और ५-केवलज्ञान इन पाँचो सम्यग्ज्ञानों की सदा स्तुति करता हूं ।

सम्यग्ज्ञान कहने से मिथ्याज्ञान का निषेध हो जाता है ।

भावार्थ - लोककाश में भरे हुए जीवाजीव आदि समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है इसलिये मै सम्यग्ज्ञान की ही स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

आगे मतिज्ञान की स्तुति करते है ।

अभिमुखनियमितबोधन, माभिनिबोधिक-मनिन्द्रियेन्द्रियजं

बह्वाद्यवग्रहादिक, कृतषट्त्रिंशतत्रिशत भेदम् ॥ २ ॥

विविधर्द्धिबुद्धिकोष्ठ, स्फुटबीजपदानुसारिबुद्ध्यधिकं ।

संभिन्नश्रोतृतया, सार्धं श्रुतभाजनं वन्दे ॥ ३ ॥

अर्थ -- मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान कहते है । लिखा भी है मति: स्मृति, संज्ञा, चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । अर्थात-- मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोध ये सब एक ही मतिज्ञान के वाचक है । यह आभिनिबोध संज्ञा सार्थक है । ज्ञान के लिये जो योग्य देश, काल और ग्रहण करने योग्य सामग्री है उसको ''अभि'' कहते है । ''नि'' शब्द का अर्थ नियम है जैसे चक्षु के द्वारा रूप का ज्ञान होता है, नाक के द्वारा गंध का ज्ञान होता है, स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है । इन सबका पृथक्-२ इन्द्रियों

से जो नियमित रीति से ज्ञान होता है उसको "निबोध" कहते है । इस प्रकार योग्य स्थान पर योग्य काल में निर्दोष इन्द्रियों से जो पदार्थों का ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते है । आगे मतिज्ञान के भेद दिखलाते है--

१-अवग्रह, २-ईहा, ३-अवाय, ४-धारणा ये चार भेद हैं । इनमें से प्रत्येक के १-बहु, २-बहुविध, ३-एक, ४-एक विध, ५-शीघ्र, ६-अशीघ्र, ७-निसृत, ८-अनि सृत, ९-उक्त, १०-अनुक्त, ११-ध्रुव, १२-अध्रुव ये बारह विषय होते है । इस हिसाब से ४८ भेद हो जाते है । ये सब पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते है । इनसे गुणा कर देने से २८८ भेद होते है । ये अर्थावग्रह के भेद है । व्यंजनावग्रह अथवा अप्रगट पदार्थ का केवल अवग्रह ही होता है । ईहा, अवाय, धारणा नही होते तथा वह आँख और मन से नही होता । इस प्रकार उसके ४८ भेद होते है । दोनों मिलाकर मतिज्ञान के ३३६ भेद होते है ।

इसके सिवाय वह मतिज्ञान अनेक ऋद्धियों से सुशोभित है । तपश्चरणादिक के द्वारा मतिज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से ऋद्धियाँ उत्पन्न होती है । वे ऋद्धियाँ नीचे लिखे अनुसार है --

१-कोष्ठ बुद्धि -- जिस प्रकार भडारी एक ही कोठे में अनेक प्रकार के धान्य रखता है तथा उनको नष्ट भी नहीं होने देता । उसी प्रकार अपनी बुद्धि में अनेक प्रकार के ग्रन्थों की धारणा रखता है । उनकी अलग-२ व्यवस्था रखता है तथा किसी भी धारणा को नष्ट नहीं होने देता, ऐसी कोठे के समान बुद्धि की प्राप्ति को "कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि" कहते है ।

२- बीज बुद्धि -- जिस प्रकार अच्छे खेत में काल अनुसार एक बोया हुआ बीज भी अनेक धान्य उत्पन्न कर देता है । उसी प्रकार बीज के समान एक पद के ग्रहण करने से ही जिस बुद्धि के द्वारा अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाये उस बुद्धि को "बीज बुद्धि" कहते है ।

३- पदानुसारी बुद्धि -- जिस बुद्धि में किसी ग्रन्थ का पहला पद अथवा अंत का पद ग्रहण करने मात्र से समस्त ग्रन्थ का ज्ञान हो जाये ऐसी बुद्धि की ऋद्धि को "पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि" कहते है ।

४- संभिन्न श्रोतृता -- एक ही साथ अनेक शब्द होते हों उन सबको एक साथ अलग-अलग जिस विशेष बुद्धि के द्वारा जान सकते है उस बुद्धि की ऋद्धि को "सभिन्न श्रोतृता" ऋद्धि कहते हैं । चक्रवर्ती की सेना बारह

योजन लम्बे और ९ योजन चौड़े मैदान में रहती है उसमें हाथी, घोड़ा, ऊँट मनुष्यादि सभी एक साथ बोलते है उन सबकी अक्षर रूप भाषा को एक साथ अलग-अलग जान लेना इस ऋद्धि का काम है। ऐसी ऋद्धि इसी जन्म में अथवा पहले जन्म में उपार्जित किये हुये तप विशेष के क्षयोपशम होने के कारण होती है। इससे ये चार बुद्धि ऋद्धि कहलाती है। इनमें बुद्धि की विशेषता है, तपश्चरण से उत्पन्न होने वाली शक्ति की मुख्यता है, इसलिए इनका वर्णन अलग किया है। इसके सिवाय मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है। मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। लिखा भी है श्रुतंमतिपूर्वं इत्यादि अर्थात् श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है।

उन ऊपर लिखे समस्त भेदों से ऋद्धियों से सुशोभित ऐसे मतिज्ञान के लिये मै नमस्कार करता हूं ॥ २-३ ॥

आगे श्रुतज्ञान की स्तुति करते है।

श्रुतमपि जिनवर-विहितं गणधर रचितं द्वयनेकभेदस्त ।
अंगांगवाह्य भावित, मनंतविषयं नमस्यामि ॥ ४ ॥

अर्थ .-- मै केवल मतिज्ञान को ही नमस्कार नही करता किन्तु उस श्रुतज्ञान को भी नमस्कार करता हू जो श्रुतज्ञान अर्थ रूप से श्री जिनेन्द्र देव ने निरूपण किया है तथा अर्थ और पद रूप से जिनकी अंग पूर्व रूप रचना गणधर देवों ने की है उस श्रुतज्ञान के दो भेद है और अनेक भेद हैं। उनमें से श्रुतज्ञान के दो भेद अंग और अंग-बाह्य है तथा द्रव्य श्रुतज्ञान और भाव श्रुतज्ञान के भेद से श्रुतज्ञान के अनेक भेद है। शब्द रूप ज्ञान को ''द्रव्यश्रुत'' कहते हैं और उनसे जो पदार्थ ज्ञान होता है उसको ''भावश्रुत'' कहते हैं। उस श्रुतज्ञान का विषय अनंत पदार्थों से भरा हुआ वह समस्त लोकाकाश है। ऐसे श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

आगे भावश्रुतज्ञान को कहते हैं।

पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् ।
प्राभृतकप्राभृतकं, प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च ॥ ५ ॥
तेषां समासतोऽपि च, विंशति भेदान्समश्नुवानं तत् ।
वन्दे द्वादशधोक्तं गंभीरवरशास्त्र पद्धत्या ॥ ६ ॥

अर्थ ·-- श्रुत ज्ञान के २० भेद है- १-पर्याय, २-पर्यायसमास, ३-अक्षर, ४-अक्षरसमास, ५-पद, ६-पदसमास, ७-संघात, ८-संघात समास, ९-प्रतिपत्ति, १०-प्रतिपत्ति समास, ११-अनुयोग, १२-अनुयोग समास, १३-प्राभृतप्राभृत, १४-प्राभृत प्राभृत समास, १५-प्राभृतक, १६-प्राभृतक समास, १७-वस्तु, १८-वस्तु समास, १९-पूर्व, २०-पूर्वसमास ये सब श्रुतज्ञान के २० भेद है । इन सबका अंतर्भाव द्वादशांग श्रुतज्ञान में हो जाता है ।

१ सूक्ष्म नित्यनिगोद के लब्ध्यपर्याप्त जीव के पहलें समय में जो श्रुतज्ञान होता है उसको १- पर्याय श्रुतज्ञान कहते है । यह ज्ञान सबसे जघन्य होता है 'लब्ध्यक्षर' इसका नाम है । श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशय को 'लब्धि' कहते है और जिस ज्ञान का कभी नाश न हो उसको अक्षर कहते है । यह ज्ञान सदा बना रहता है इसका कभी आवरण नहीं होता । यह ज्ञान एक अक्षर का अनन्तवां भाग होता है । इसलिये यह ज्ञान सबसे जघन्य कहा जाता है । यह ज्ञान सदा आवरण रहित रहता है अतएव इतना ज्ञान सदा बना रहता है । यदि इसका अभाव मान लिया जाये तो जीव का नाश मान लिया जाये क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है यदि उसका भी नाश मान लिया जाये तो जीव का ही अभाव हो जायेगा । इसलिये जीव के कम से कम इतना ज्ञान अवश्य रहता है सो ही लिखा है--

सुहुमणिगोदअपज्जत्त, यस्स जादस्स पढमसमयह्मि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ।। १ ।।

(गोम्मटसार)

२- पर्याय समास ·-- जब पर्याय श्रुतज्ञान अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्योत गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि, इस प्रकार षट्गुणी वृद्धि होते होते जब असंख्यात लोक प्रमाण हो जाता है तब उसको ''पर्याय समास'' ज्ञान कहते है । अक्षर श्रुतज्ञान से पहले तक पर्याय समास कहलाता है ।

३- अक्षर श्रुतज्ञान ·-- प्रकार आकार आदि अक्षर रूप श्रुतज्ञान को ''अक्षर श्रुतज्ञान'' कहते है ।

४- अक्षर समास .-- अक्षर श्रुतज्ञान से ऊपर पद श्रुतज्ञान से नीचे जो श्रुतज्ञान के भेद है उनको ''अक्षरसमास'' कहते है ।

५- पद श्रुत: :-- अक्षर श्रुतज्ञान के आगे क्रम-क्रम से अक्षरों की वृद्धि होते होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाती है तब उस ज्ञान को ''पद श्रुतज्ञान'' कहते है ।

६- पद समास· :-- पद श्रुतज्ञान के आगे संघात श्रुतज्ञान होने तक श्रुतज्ञान के जितने भेद हैं उन सबको ''पदसमास'' कहते है ।

७- संघात :-- एक पदज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाती है तब यह संघात ज्ञान होता है । यह ज्ञान चारों गतियों में से किसी एक गति का वर्णन कर सकता है ।

८- संघात समास :-- अक्षरों के द्वारा बढ़ता हुआ जो ज्ञान संघात लेकर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान तक हो जाता है उसको ''संघात समास'' श्रुतज्ञान कहते है ।

९- प्रतिपत्ति ज्ञान :-- संघात समास से बढ़ते-बढ़ते जब संख्यात हजार संघातों की वृद्धि हो जाये तब ''प्रतिपति'' श्रुतज्ञान होता है इस ज्ञान के द्वारा चारों गतियों का स्वरूप वर्णन किया जा सकता है ।

१०- प्रतिपत्ति समास .-- प्रतिपत्ति ज्ञान से आगे जब संख्यात प्रतिपति रूप ज्ञान बढ़ जाता है, तब अनुयोग से पहले तक उसको ''प्रतिपत्ति समास'' कहते है ।

११- अनुयोग ·-- प्रतिपत्ति समास से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इस ज्ञान से १४ मार्गणाओं का स्वरूप जाना जाता है ।

१२- अनुयोग समास :-- अनुयोग ज्ञान से आगे और प्राभृत-प्राभृत ज्ञान से पहले जितने ज्ञान के विकल्प है वह सब ''अनुयोग समास'' है ।

१३- प्राभृत-प्राभृत :-- अनुयोग ज्ञान से आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते संख्यात अनुयोग होने पर ''प्राभृत-प्राभृत'' ज्ञान होता है । प्राभृत शब्द का अर्थ अधिकार है । वस्तुनामक श्रुतज्ञान के अधिकार को ''प्राभृत'' और उसके भी अधिकारों को ''प्राभृत-प्राभृत'' कहते है ।

१४- प्राभृत-प्राभृत समास :-- प्राभृत-प्राभृत से आगे और प्राभृत से पहले तक श्रुतज्ञान के जितने विकल्प है उन सबको ''प्राभृत-प्राभृत समास'' कहते है ।

१५- प्राभृत '-- प्राभृत-प्राभृतज्ञान की वृद्धि होते-होते जब २४ प्राभृत हो जाते है तब एक ''प्राभृत'' होता है ।

१६- प्राभृत समास .-- प्राभृत के ऊपर और वस्तु से नीचे जो श्रुतज्ञान के विकल्प है उन सबको ''प्राभृत समास'' कहते है ।

१७- वस्तु श्रुतज्ञान -- प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते-होते जब २० प्राभृत बढ जाते है तब ''वस्तु श्रुतज्ञान'' होता है ।

१८- वस्तु समास -- वस्तु ज्ञान से ऊपर क्रम से अक्षर पदों की वृद्धि होते-होते दस वस्तु ज्ञान की वृद्धि हो जाये उसमें से एक अक्षर कम तक तक जो ज्ञान के विकल्प है उनको ''वस्तु समास'' ज्ञान कहते है ।

१९- पूर्वश्रुत -- पूर्व ज्ञान के १४ भेद है । वस्तु समास के अंतिम भेद में अक्षर मिलाने से उत्पाद पूर्व होता है ।

२०- उत्पाद पूर्व समास -- उत्पाद पूर्व में भी वृद्धि होते-होते १४ वस्तु पर्याय वृद्धि होने पर उसमें से एक अक्षर कम करने से ''उत्पाद पूर्व समास'' ज्ञान होता है ।

उसमें एक अक्षर बढाने से अग्रायणीय पूर्व और उसकी वृद्धि होते होते अग्रायणीय पूर्व समास होता है । इसी प्रकार आगे के पूर्व और पूर्व समास समझने चाहिये ।

इस प्रकार वह द्वादशाग श्रुतज्ञान अनन्त पदार्थों को विषयभूत करने से अत्यन्त गम्भीर है और अबाधित विषय होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है इस प्रकार की शास्त्र प्रणाली के अनुसार वह श्रुतज्ञान १२ प्रकार का है । ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हू ।

आचार सूत्रकृत, स्थान समवायनामधेयं च ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ।। ७ ।।

वन्देन्तकृद्दश, मनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम् ।

प्रश्नव्याकरण हि, विपाकसूत्र च विनमामि ।। ८ ।।

अर्थ -- अंग प्रवृष्ट श्रुतज्ञान के १२ भेद है उनके नाम ये है -- (१) आचाराग (२) सुत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्त्यग (६) ज्ञातृकथाग (७) उपासकाध्ययनाँग (८) अंतकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपादिकदशांग (१०) प्रश्नव्याकरणांग

(११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टिवादांग । इन १२ भेद रूप श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूं । इन १२ अंगो की पदसंख्या और स्वरूप इस प्रकार है ।

१- आचारांग :-- इसकी पद संख्या १८ हजार और इसमे गुप्ति, समिति आदि मुनियों के आचरणो का वर्णन है ।

श्रुत ज्ञान के दो भेद है -- (१) द्रव्यश्रुत (२) भावश्रुत ।

द्रव्यश्रुत की रचना शब्दात्मक है इसलिए इसकी पदसंख्या कही जा सकती है । परन्तु भावश्रुत ज्ञानमय है इसलिए उसकी पदसंख्या आदि कुछ नहीं कही जा सकती है ।

द्वादशांग श्रुतज्ञान में आचारांग को सबसे पहले स्थान मिला है इसका कारण यह है कि मोक्ष का साक्षात् कारण मुनिमार्ग है और वह गुप्ति, समिति, पंचाचार, दशधर्म आदि रूप है इन सबका वर्णन आचारांग में है इसलिए सबसे पहले यही कहा है । अथवा भगवान अरहंत देव ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण किया उसी को सुनकर गणधर देव ने द्वादशांग श्रुतज्ञान की रचना की उसमें से सबसे पहले मोक्ष का साक्षात् कारण होने के कारण आचारांग सबसे पहला अंग कहा गया है ।

२- सूत्रकृतांग -- इसमें ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञान का विनय और अध्ययन के कारण आदि का वर्णन है इसकी पदसंख्या ३६००० है ।

३- स्थानांग -- इसमें जीवादिक द्रव्यों के १ से लेकर अनेक स्थानों तक का वर्णन किया है । जैसे -- संग्रहनय से आत्मा एक है । ससारी मुक्त के भेद से दो प्रकार का है । उत्पादव्ययध्रौव्य की अपेक्षा तीन प्रकार है । गतियों की अपेक्षा से चार प्रकार है । औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदायिक, परिणामिक भावों की अपेक्षा से पाँच प्रकार है । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर नीचे इन ६ दिशाओं की ओर (विग्रह गति में) गमन करने के कारण ६ प्रकार है । स्यात् अस्ति, स्यात्नास्ति, आदि सप्त भंगो की अपेक्षा से सात प्रकार है । ८ कर्मो के प्रतिक्षण आस्रव की अपेक्षा से ८ प्रकार नव पदार्थ रूप स्वरूप की अपेक्षा से ९ प्रकार है । पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक, प्रत्येक साधारण, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय-चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के भेद से १० प्रकार है इस प्रकार जीव के अनेक भेद है ।

इसी प्रकार पुद्‌गल, धर्म, अधर्म आदि समस्त द्रव्यों के विकल्प समझने चाहिए ये सब भेद स्थानाँग में निरूपण किये है । इस अंग की पदसंख्या ४२००० है ।

४- समवायांग -- इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से द्रव्यों में जो परस्पर समानता हो सकती है वह दिखलायी है । जैसे -- (१) धर्म द्रव्य (२) अधर्म द्रव्य (३) लोकाकाश और (४) एक जीव के प्रदेश समान है यह द्रव्य की अपेक्षा समानता है । (१) जम्बूद्वीप (२) अप्रतिष्ठान नरक (३) नन्दीश्वर द्वीप को बावड़िया और (४) सर्वार्थसिद्धि विमान समान क्षेत्र है । यह क्षेत्र-कृत समानता है (१) उत्सर्पिणी (२) अवसर्पिणी दोनों का काल समान है यह काल की समानता है (१) क्षायिक ज्ञान (२) क्षायिक दर्शन दोनों समान है । यह भाव कृत समानता है इस प्रकार समानता को निरूपण करने वाला समवायांग है इसकी पद संख्या एक लाख चौसठ हजार है ।

५- व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग '-- जीव है अथवा नहीं है इस प्रकार गणधर देव ने ६० हजार प्रश्न भगवान् अरहंत देव से पूछे उन सब प्रश्नों का तथा उनके उत्तरों का वर्णन इस अंग में है । इसकी पद संख्या दो लाख २८ हजार है ।

६- ज्ञातृकथाँग '-- इसमें भगवान् तीर्थंकर परम देव और गणधर देवों की कथाओं का तथा उपकथाओं का वर्णन है । अन्य महापुरूषों कीं कथाएं भी उसी में है इसकी पद संख्या ५ लाख ५६ हजार है ।

७- उपासकाध्ययनाँग '-- इसमें श्रावकों के समस्त आचरण, क्रिया अनुष्ठान आदि का वर्णन है । इसकी पद संख्या ११ लाख ७० हजार है ।

८- अन्तकृद्दशांग -- प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश मुनीश्वर ऐसे होते है जो भंयकर उपसर्गों को सहन कर समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष जाते है । उनका वर्णन इस अंग में है । संसार का अंत करने वाले दश-दश मुनियों का वर्णन जिसमें हो उसको अंतकृद्दशांग कहते है । इसकी पद संख्या २३ लाख २८ हजार है ।

९- अनुत्तरोपपादिक दशांग .-- प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश मुनि ऐसे होते है जो घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण से अपने प्राणों का त्याग करते है और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्धि इन अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते है उन सब का वर्णन इस अंग में

है । इसकी पद संख्या १२ लाख ४४ हजार है ।

१०- प्रश्नव्याकरणांग -- जो वस्तु खो गई है या मुट्ठी में है या और कोई चिंता का विषय हो उन सब प्रश्नो को लेकर उनका पूर्ण यथार्थ व्याख्यान वा समाधान का वर्णन इस अंग है । इसकी पद संख्या ९३ लाख १६ हजार है ।

११- विपाक सूत्रॉंग :-- इसमें अशुभ कर्मों का उदय शुभ कर्मों का उदय तथा उनका फल वर्णन किया है । इसकी पद संख्या एक करोड़ चौरासी लाख है ।

इस प्रकार ग्यारह अंगो की पद संख्या ४ करोड़ १५ लाख दो हजार है । ऐसे श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूं ।। ७-८ ।।

आगे १२ वें अंग दृष्टिवाद की स्तुति करते है ।

परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते, ।
सार्द्धं चूलिकयापि च, पंचविधं दृष्टिवादं च ।। ९ ।।

अर्थ -- दृष्टिवाद नाम के १२ वें अंग के ५ भेद है --

१-परिकर्म, २-सूत्र, ३-प्रथमानुयोग, ४-पूर्वगत, ५-चूलिका इन सबको मै नमस्कार करता हूं ।

१- परिकर्म '-- जिनमें गणित की व्याख्या कर उसका पूर्ण विचार किया हो उसको परिकर्म कहते है इसके ५ भेद है--

(१) चन्द्र प्रज्ञप्ति (२) सूर्य प्रज्ञप्ति (३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (४) द्वीप सागर प्रज्ञप्ति (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति ।

(१) चन्द्र प्रज्ञप्ति :-- इसमें चन्द्रमा की आयु, गति, परिवार विभूति आदि का वर्णन है इसकी पद संख्या ३६ लाख ५ हजार है ।

(२) सूर्य प्रज्ञप्ति .-- इसमें सूर्य की आयु, गति, परिवार, विभूति ग्रहण आदि का वर्णन है इसकी पद संख्या ५ लाख ३ हजार है ।

(३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति .-- इसमें जम्बूद्वीप सम्बन्धी सात क्षेत्र, कुलाचल, पर्वत, सरोवर नदियों आदि का वर्णन है । इसकी पद संख्या ३ लाख २५ हजार है ।

(४) द्वीप सागर प्रज्ञप्ति -- इसमें असंख्यात, द्वीप समुद्रों का वर्णन

है। उन द्वीप समुद्रों में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यालय, ज्योतिष, व्यन्तर आदि सबका वर्णन है । इसकी पद संख्या ८४ लाख २६ हजार है ।

(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति -- इसमें जीवाजीवादिक द्रव्यों का स्वरूप, उनका रूपी अरूपीपना आदि का वर्णन है । इसकी पद संख्या ८४ लाख ३६ हजार है ।

२ - सूत्र .-- इसमें जीव कर्मों का कर्ता है, उनके फल को भोगता है । शरीर परिमाण है इत्यादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है तथा यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से उत्पन्न नहीं हुआ है, अणुमात्र नहीं है सर्वगत नहीं है, इत्यादि रूप से अन्य मतों के द्वारा माने हुए पदार्थों के स्वरूप का खंडन है । इसकी पद संख्या ८८ लाख है ।

३ प्रथमानुयोग -- इसमें ६३ शलाका पुरूषों के चरित्र व पुराणों का निरूपण है । इसकी पद संख्या ५ हजार है ।

(४) पूर्वगत -- इसमें समस्त पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि का वर्णन है इसकी पद संख्या ९५ करोड़ ५० लाख पाँच है ।

(५) चूलिका के ५ भेद है -- १-जलगता, २-स्थलगता, ३-मायागता, ४-रूपगता, ५-आकाश गता ।

१- जलगता -- इसमें जल में गमन करने के लिये तथा जल का स्ताम्भन करने के लिये जो कुछ मंत्र, तंत्र व तपश्चरण कारण है उन सबका वर्णन है । इसकी पद सख्या २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार २०० है ।

२- स्थलगता -- इसमें पृथ्वी पर गमन करने के कारण मत्र तंत्र और तपश्चरणों का वर्णन है । पृथ्वी पर होने वाली जितनी वास्तुविद्यायें है मकान बनाने की विद्यायें आदि उन सबका वर्णन है । इसकी पद सख्या २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार २०० है ।

३- मायागता -- इसमें इन्द्रजाल सम्बन्धी मंत्र तंत्रों का वर्णन है इसकी पद संख्या २ करोड़ ९ लाख ८ हजार दो सौ है ।

४- रूपगता -- इसमें सिंह, व्याघ्र, हिरण आदि के रूप धारण करने के मंत्र, तंत्रो का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के चित्र बनाने का वर्णन है । इसकी पद संख्या २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार दो सौ है ।

५- आकाशगता :-- इसमें आकाश में गमन करने के कारण मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। इसकी पद संख्या २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार दो सौ है।

आगे यद्यपि पूर्वगत की स्तुति कर चुके हैं तथापि उसके अनेक भेद हैं इसलिये उन सब भेदों को कहते हुए उस पूर्वगत की फिर भी स्तुति करते हैं ।। ९ ।।

पूर्वगतं तु चतुर्दश, धोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम् ।
आग्रायणीयमीडे, पुरूवीर्यानुप्रवादं च ।। १० ।।
संततमहमभिवंदे, तथास्तिनास्ति प्रवादपूर्वं च ।
ज्ञानप्रवादसत्य, प्रवादमात्मप्रवादं च ।। ११ ।।
कर्मप्रवादमीडेऽथ, प्रत्याख्याननाम-धेयं च ।
दशमं विद्याधारं, पृथुविद्यानुप्रवादं च ।। १२ ।।
कल्याणनामधेयं, प्राणावायं क्रियाविशालं च ।
अथ लोकबिंदुसार, वंदे लोकाग्रसारपदं ।। १३ ।।

अर्थ -- पूर्वगत के १४ भेद है उनके नाम ये है--

१-उत्पादपूर्व, २-आग्रायणीय पूर्व, ३-वीर्यानुवादपूर्व, ४-अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व, ५-ज्ञान प्रवाद पूर्व, ६-सत्यप्रवाद, ७-आत्मप्रवाद, ८-कर्म प्रवाद, ९-प्रत्याख्यान पूर्व, १०-विद्यानुवाद पूर्व, ११-कल्याणवाद, १२-प्राणानुवाद पूर्व, १३-क्रिया विशाल, १४-लोक बिन्दुसार

१- उत्पाद पूर्व -- इसमें जीवादिक पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ है।

२- अग्रायणीय पूर्व :-- इसमे प्रधान व मुख्य पदार्थों का निरूपण है। दुर्नय सुनय और द्रव्यों का वर्णन है। इसकी पद संख्या ९६ लाख है।

३- वीर्यानुवाद :-- इसमें चक्रवर्ती, इन्द्र, धरेणन्द्र, केवली आदि की सामर्थ्य का माहात्म्य दिखलाया है। इसकी पद संख्या ७० लाख है।

४- अस्तिनास्तिप्रवाद .-- इसमें अनेक प्रकार से छहों द्रव्यों के अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या ६० लाख है।

५- ज्ञान प्रवाद ·-- इसमें पाँचो ज्ञानों का तथा तीनों मिथ्याज्ञानों के स्वरूप का वर्णन है। उसके प्रकट होने के कारण उनके आधार का पात्र (जिनसे वह ज्ञान होता है) आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या ९९ हजार ९९९ है।

६- सत्यप्रवाद -- इसमें वचन गुप्ति का वर्णन है, वचनों का संस्कार किस प्रकार होता है उसका वर्णन है। कंठ, तालु आदि उच्चारण स्थानो का वर्णन है, जिनके बोलने की शक्ति उत्पन्न हो गयी है ऐसे दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों के शुभ, अशुभ वचनों के प्रयोगों का वर्णन है इसकी पद संख्या १ करोड ६ है।

७- आत्मप्रवाद -- इसमें जीव के ज्ञान सुख और कृतत्व आदि धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या २६ करोड़ है।

८- कर्मप्रवाद -- इसमें कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, और निर्जरा आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या १ करोड़ ८० लाख है।

९- प्रत्याख्यान पूर्व -- इसमें द्रव्य और पर्यायों के त्याग का वर्णन है। उपवास करना, व्रत, समिति, गुप्ति का पालन करना प्रतिक्रमण प्रतिलेख, विराधना, विशुद्धि आदि का वर्णन है इसकी पद संख्या ८४ लाख है।

१०- विद्यानुवाद पूर्व -- इसमें ७०० लघु विद्या, ५०० महाविद्याओं का वर्णन है। आगे आठों महानिमित्तों का वर्णन है। तथा इन सब विद्याओं के साधन का वर्णन है इसकी पद संख्या १ करोड १० लाख है।

११- कल्याणवाद -- इसमें तीर्थंकर, परमदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या २६ करोड है।

१२- प्राणानुवाद -- इसमें प्राण, अपान के विभाग का वर्णन है। आयुर्वेद शास्त्र, मंत्र शास्त्र, गारूड़ी विद्या आदि का वर्णन है। इसकी पद सख्या १३ करोड़ है।

१३- क्रिया विशाल ·-- इसमें ७२ कलाओं का वर्णन है तथा छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र का वर्णन है। इसकी पद संख्या नौ करोड़ है।

१४- लोक बिन्दु सार :-- इस लोक में सबसे प्रधान और सारभूत जो मोक्ष है उसके सुख साधन और उसको प्राप्त करने के लिए कहे गये समस्त अनुष्ठानों का वर्णन है । इसकी पद संख्या १२ करोड़ ५० लाख है ।

इस प्रकार पूर्वगत के १४ भेद हैं इन सबको मै भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता हूं इनकी वन्दना करता हूं और स्तुति करता हूं । इस प्रकार १४ पूर्वो की स्तुति की ।।। १०-१३ ।।

अब आगे इन पूर्वों के अधिकार तथा प्रत्येक अधिकार के प्राभृत आदि का वर्णन करते हैं ।

दश च चतुर्दश चाष्टा, वष्टादश च द्वयोर्द्विषट्कं च ।

षोडश च विंशतिं च, त्रिंशतमपि पंचदश च तथा ।। १४ ।।

अर्थ :-- ऊपर जो उत्पादपूर्व आदि १४ पूर्व कहे है उनमें नीचे लिखे अनुसार अधिकार है । उत्पादपूर्व के १० अधिकार है, आग्रायणी के १४, वीर्यानुवाद के ८, अस्तिनास्तिप्रवाद के १८, ज्ञानप्रवाद के १२, सत्य प्रवाद के १२, आत्मप्रवाद के १६, कर्मप्रवाद के २०, प्रत्याख्यानपूर्व के ३०, विद्यानुवाद के १५, कल्याणवाद के १०, प्राणानुवाद के १०, क्रिया विशाल के १० और लोकबिन्दु सार के १० अधिकार हैं ।। १४ ।।

वस्तूनि दश दशान्येष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम् ।

विंशति विंशतिं प्रतिवस्तु प्राभृतकानि नौमि ।। १५ ।।

अर्थ .-- ये सब मिलकर १९५ अधिकार होते है इन सब अधिकारों को वस्तु कहते है एक-२ वस्तु वा अधिकार में २०-२० प्राभृत होते है इस प्रकार १९५ अधिकारों में ३९०० प्राभृत होते है तथा एक-२ प्राभृत में २४ प्राभृत होते है । सब प्राभृत प्राभृतों की संख्या ९३ हजार ६०० होती है ।

भावार्थ :- पूर्व १४, वस्तु १९५, प्राभृत ३९०० प्राभृत-प्राभृत ९३६०० होते है इन सबको मै भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ।।१५।।

आगे आग्रायणीय पूर्व के १४ अधिकार अथवा वस्तु कही जाती है उनके नामपूर्व परम्परा से उपलब्ध हो रहे है इसलिए आचार्य उनका खण्डन करते है ।

पूर्वान्तं ह्यपरान्तं ध्रुव-मध्रुव-च्यवनलब्धिनामानि ।
अध्रुव सम्प्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥ १६ ॥
सर्वार्थकल्पनीयं, ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं ।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा, चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य ॥ १७ ॥

अर्थ -- इस दूसरे आग्रायणीय नाम के पूर्व के १४ अधिकार है । उनके नाम ये हैं--पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुवसंप्राणिधि, अर्थभौमावय, सर्वार्थ कल्पनीय, ज्ञान, अतीतकाल, अनागतकाल, सिद्धि और उपाध्य ये नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे है इनको भी मै नमस्कार करता हूं ।

आगे इस आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकारों में से पाँचवा अधिकार ''च्यवनलब्धि'' है । उसके चौथे अध्याय का नाम ''कर्म प्रकृति'' है । उसके २४ अनुयोग हैं । उनके नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे है आगे उन्हीं की स्तुति करते है --

पंचमवस्तुचतुर्थं, प्राभृतकस्यानुयोग नामानि ।
कृतिवेदने तथैव स्पर्शन कर्म प्रकृति मेव ॥ १८ ॥
बंधन निबंधन प्रक्रमानुपक्रम मथाभ्युदय मोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा, लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ॥ १९ ॥
सातमसातं दीर्घम्, ह्रस्वं भव भस्वमवधारणीय संज्ञं च ।
पुरूपुद्गलात्मनाम च, निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ॥ २० ॥
सनिकाचित मनिकाचित, मथकर्मस्थितिकपश्चिम स्कंधौ ।
अल्पबहुत्व च यजे, तद्द्वाराणा चतुर्विंशम् ॥ २१ ॥

अर्थ -- (१) कृति (२) वेदना (३) स्पर्शन (४) कर्म (५) प्रकृति (६) बन्धन (७) प्रक्रम (८) अनुपक्रम (९) अभ्युदय (१०) मोक्ष (११) संक्रम (१२) द्रव्य लेश्या (१३) भाव लेश्या (१४) सात (१५) असात (१६) दीर्घ (१७) ह्रस्व (१८) भवधारणीय (१९) पुरूपुद्गलात्म (२०) निधत्तमनिधत्त (२१) सनिकाचितमनिकाचित (२२) कर्मस्थितिक (२३) पश्चिम स्कन्ध और (२४) अल्पबहुत्व ये २४ अनुयोग है ये चौबीसों अनुयोगचतुर्थ प्राभृत के द्वार के समान है । इनसे चतुर्थ प्राभृत में प्रवेश हो जाता है । इनके

सिवाय एक पच्चीसवां सर्वानुयोग नाम का अनुयोग और है इसमें जो कथन है वह समस्त अनुयोगों के लिए उपयोगी है अत: इसका नाम सर्वानुयोग है इसके होने से ही सबकी पूर्णता होती है इस प्रकार ये २४ अनुयोग अथवा २५ अनुयोग आग्रायणीय पूर्व के पांचवे च्यवन लब्धि नाम के अधिकार के कर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत कहे जाते है। इनको मै भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥ १८-२१ ॥

आगे द्वादशाँग श्रुतज्ञान की पद संख्या कहते है--

कोटीनां द्वादशशत, मष्टापंचाशतं सहस्राणाम् ।
लक्षत्र्यशीतिमेव, च पंच च वन्दे श्रुतपदानि ॥ २२ ॥

अर्थ -- इस प्रकार समस्त द्वादशाँग की पद सख्या ११२ करोड़ ८३ लाख, ५८ हजार पाँच है इस श्रुतज्ञान को मै सदा नमस्कार करता हूं ॥ २२ ॥

आगे एक-२ पद में कितने-२ अक्षर होते हैं सो कहते है--

षोड़शशत चतुस्त्रिंशत्कोटीनाँ त्र्यशीतिलक्षाणि ।
शतसख्याष्टासप्तति, मष्टाशीति च पद वर्णान् ॥ २३ ॥

अर्थ -- पद ३ प्रकार के होते है १- अर्थ पद, २- प्रमाण पद, ३- मध्यम पद। कहने वाले का अभिप्राय जितने अक्षरों से पूर्ण हो जाये उतने अक्षरों का एक अर्थ पद होता है इस पद के अक्षर नियत नही है। किसी पद में अधिक अक्षर होते है और किसी में कम। जैसे 'अग्नि लाओ' इसमें थोड़े से अक्षर है और 'इस सफेद गाय को अपनी जगह पर बाँध दो' इसमें अधिक अक्षर है।

आठ अक्षर का वा इससे अधिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाण पद कहते है इससे अग बाह्य श्रुत की संख्या कही जा सकती है। जैसे --अनुष्टप् श्लोक के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते है।

अंग प्रविष्ट श्रुत की संख्या के निरूपण करने वाले जो पद है उनको मध्यम पद कहते है इस श्लोक में उन्ही मध्यमपद के अक्षरों की संख्या का प्रमाण कहते है। १६३४ करोड़ ८३ लाख ७८ सौ ८८ अक्षर अर्थात १६ अरब ३४ करोड़ ८३ लाख ७ हजार ८८८ अक्षर एक-२ मध्यम पद के होते है।

समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों की संख्या एक ही प्रमाण्य है अर्थात् १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ इतने अक्षर है ।

इसमें मध्यमपद के अक्षरों का भाग देना चाहिए जो फल आये वह द्वादशांग की पद संख्या समझनी चाहिए तथा जो अक्षर बाकी रहते है वे अक्षर अंगबाह्य श्रुतज्ञान के समझने चाहिए । जो अक्षर बाकी रह जाते है उनमें मध्यमपद बन नहीं सकता । अत वे अक्षर अंगवाह्य के समझे जाते है इनकी संख्या ८ करोड़ १ लाख ८ हजार १७५ है । उस अंगवाह्य के अनेक भेद है । आगे इन्हीं की स्तुति करते है ।

सामायिकं चतुर्विंशति, स्तवं वन्दना प्रतिक्रमणं ।
वैनयिकं कृतिकर्मच, पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥ २४ ॥
वरमुत्तराध्ययनमपि, कल्पव्यवहार मेवमभिवंदे ।
कल्पाकल्पं स्तौमि, महाकल्पं पुण्डरीकम् च ॥ २५ ॥
परिपाटया प्रणिपतितोऽस्म्यहम्महापुन्डरीकनामैव ।
निपुणान्यशीतिकं च, प्रकीर्णकान्यंगवाह्यानि ॥ २६ ॥

अर्थ -- अंगवाह्य श्रुतज्ञान के १४ भेद है उनके नाम ये है-- १- सामायिक २- चतुर्विंशतिस्तव ३- वन्दना ४- प्रतिक्रमण ५- वैनयिक ६- कृतिकर्म ७- दशवैकालिक ८- उत्तराध्ययन ९- कल्पव्यवहार १०- कल्पाकल्प ११- महाकल्प १२- पुंडरीक १३- महा पुंडरीक १४- अशीतिक इन्हीं को प्रकीर्णक कहते है इनमें पदार्थों का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है ऐसे इन १४ प्रकीर्णको को मै बड़ी विनय से वन्दना करता हूं ।

१- सामायिक -- गृहस्थ और मुनि जो नियतकाल तक अथवा अनियत काल तक समता धारण करते है उसको सामायिक कहते है उनका जिसमें वर्णन हो वह सामायिक प्रकीर्णक है ।

२- चतुर्विंशतिस्तव '-- वृषभादि २४ तीर्थकरों के ८ प्रातिहार्य, ३४ अतिशय, चिन्ह तथा अनन्त चतुष्टय आदि की स्तुति करना स्तव है उसका जिसमें वर्णन हो वह चतुर्विंशति स्तव है ।

३- वन्दना -- पंचपरमेष्ठियों में से प्रत्येक की अलग-२ वन्दना करना वन्दना है । उसका जिसमें वर्णन हो वह वन्दना है ।

४- प्रतिक्रमण :-- जिसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन हो, उसको प्रतिक्रमण कहते है यथा १- दैवसिक दिन के दोषों का निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण २- रात्रिक, रात्रि के दोष का निराकरण करने वाला ४- चातुर्मासिक, जिसमें चार महीने के दोषों का निराकरण हो ।

५- सौंवत्सरिक प्रतिक्रमण :-- जिसमें एक वर्ष के दोषों का निराकरण हो । ६ ऐर्यापथिक, जिसमे ईर्यापथ सम्बंधी दोषों का निराकरण हो । ७ उत्तमार्थिक, जिसमें समस्त पर्याय सम्बन्धी दोषों का निराकरण हो इस प्रकार सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन जिसमें हो उसको प्रतिक्रमण प्रकीर्णक कहते है ।

५- वैनयिक ·-- जिसमें ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनयों का वर्णन हो उसको वैनयिक प्रकीर्णक कहते हैं ।

६- कृतिकर्म :-- जिसमे दीक्षा देने और दीक्षा लेने का विधान हो उसको कृतिकर्म कहते है ।

७- दशवैकालिक -- द्रुम, पुष्पित आदि दश-दश अधिकारों के द्वारा इसमें मुनियों के समस्त आचरणों का वर्णन है ।

८- उत्तराध्ययन ·-- इसमें अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करने वाले और उनके फलों का वर्णन है ।

९- कल्पव्यवहार :-- इसमें मुनियों के योग्य आचरणों का तथा उन आचरणों से च्युत होने पर योग्य प्रायश्चित का वर्णन है ।

१०- कल्पाकल्प -- इसमें गृहस्थ और मुनियों के योग्य तथा अयोग्य आचरणों का वर्णन है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा या समय के अनुसार योग्य आचरणों का निरूपण इसमें किया गया है ।

११- महाकल्प -- दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, भावना, उत्तमार्थ ये छह काल भेद माने है । इनके अनुसार इसमें मुनियों के आचरणों का निरूपण है ।

१२- पुंडरीक :-- इसमें भवनवासी, व्यंतर आदि देवों मे उत्पन्न होने के कारण तपश्चरण का वर्णन है ।

१३- महा पुंडरीक -- इसमें देव देवांगना अप्सरा आदि स्थानों के उत्पन्न होने के कारणों का वर्णन है ।

१४- अशीतिक -- इसमें मनुष्यों की आयु और सामर्थ्य के अनुसार स्थूल दोषों के और सूक्ष्म दोषों के प्रायश्चितों का वर्णन है ।

इस प्रकार ये १४ प्रकीर्णक कहलाते है । इनमें अत्यंत सूक्ष्म पदार्थों का वर्णन है इसलिए इनको निपुण कहते हैं ये अंग बाह्य इतने ही है । न इनसे कम है और न इनसे अधिक है । ऐसे अग बाह्य को मै नमस्कार करता हू । तथा इनकी स्तुति करता हूं ।

आगे अवधि की स्तुति करते है--

पुद्गलमर्यादोक्तं, प्रत्यक्षसप्रभेद-मवधिं च ।
देशावधि परमावधि, सर्वावधि भेद मभिवंदे ।। २७ ।।

अर्थ -- जो अधिकतर नीचे के विषयों की जाने उसको अवधि कहते है अथवा जिस ज्ञान का विषय पुद्गल ही हो उसको अवधि ज्ञान कहते है । अवधिज्ञान रूपी पदार्थ को ही जानता है अन्य को नहीं । यह अवधि ज्ञान प्रत्यक्ष है केवल आत्मा से उत्पन्न होता है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के समान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है और इसलिए परोक्ष नहीं है । इस अवधिज्ञान के अनेक भेद हैं और वे सब अबोधित है । यथा देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन मुख्य भेद है । इनमें से परमावधि, सर्वावधि चरम शरीरी मुनियों के होता है तथा देशावधि ज्ञान सबके होता है देशावधि और परमावधि मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अनेक भेद है क्योंकि अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम जैसे-२ बढ़ता है वैसा ही ये ज्ञान बढते जाते है । सर्वावधि ज्ञान में एक उत्कृष्ट भेद ही होता है क्योंकि यह सर्वावधि ज्ञान समस्त अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही प्रकट होता है ऐसे इस अवधिज्ञान को मै नमस्कार करता हूं ।

आगे आचार्य मन पर्यायज्ञान की स्तुति करते है:--

परमनसि स्थितमर्थं, मनसा परिविद्यमंत्रिमहितगुणम् ।
ऋजु विपुलमति विकल्पं, स्तौमि मनः पर्ययज्ञानं ।। २८ ।।

अर्थ :-- दूसरों के मन में स्थित पदार्थों को जो प्रत्यक्ष जान ले उसको मन· पर्यायज्ञान कहते है । यह जन्म, मरण रूप अपार संसार एक प्रकार का दुर्वार विष है । उस संसार रूपी विष को दूर करने में ऐसा अपराजित मंत्र मुनियों के पास ही रहता है इसलिए उन मुनियों को मंत्री कहते है । ऐसे मुनिराज भी विशेष बढ़ते हुए चारित्र के साथ रहने वाले इस मनः पर्याय ज्ञान की पूजा वा आराधना करते है । मन. पर्याय ज्ञानावरण -कर्म के क्षयोपशम से केवल आत्मा के द्वारा दूसरे के मन में ठहरे हुए पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेना मनः पर्याय ज्ञान है । यह मनः पर्यायज्ञान उत्तम मुनियों के ही होता है ।

यहाँ पर कोई कदाचित यह प्रश्न करे कि जब यह ज्ञान दूसरे के मन के सम्बन्ध से होता है तो फिर उसको अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं कह सकते है

महामंत्र णमोकार

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमोकारो
सव्व पाप पणासणो
मगंलाण च सव्वे सि
पढ़मं हवई मंगलम

क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में ठहरे हुए पदार्थ ही जाने जाते है अतएव मन का सम्बन्ध होने से इसको इन्द्रिय जन्य ज्ञान कहना चाहिए। परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न व शंका भी ठीक नही है। क्योंकि ''बादल में चन्द्रमा देखो'' इस वाक्य से जो ज्ञान होता है उसमें चन्द्रमा का ज्ञान कराने वाला बादल नहीं है किन्तु चन्द्रमा ही स्वयं अपना ज्ञान कराता है। इसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न होने में दूसरे का मन कारण नही है। जिन पदार्थों को मन. पर्यय ज्ञान जानता है वे पदार्थ दूसरे के मन में ठहरे है। मन केवल उन पदार्थो का आधार है इसलिये यह ज्ञान उत्पन्न होने में कारण नही है इससे स्पष्ट मालुम हो जाता है कि मन पर्यय मनः से उत्पन्न नहीं होता किन्तु आत्मा से उत्पन्न होता है। मन पर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशेष क्षयोपशम होने से ही यह मन· पर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है अतएव यह ज्ञान अतीन्द्रिय ही है।

इस मन पर्यय ज्ञान के दो भेद है--१-ऋजुमति, २- विपुलमती। जिसके मन, वचन, काय सरल है ऐसे पुरूष के मन में ठहरे हुए पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेना ''ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान'' है। तथा जिसके मन, वचन, काय सरल हों वा कुटिल हों ऐसे पुरूष के मन में ठहरे हुए पदार्थो को जान लेना ''विपुलमति मन पर्यय ज्ञान है''। ऐसे मनः पर्यय ज्ञान की स्तुति करता हूं।

आगे आचार्य केवल ज्ञान की स्तुति करते है --

क्षायिक मनन्त मेकं, त्रिकाल सर्वार्थ युगपदवभासम्।
सकलसुखधाम सततं, वंदेऽहं केवलज्ञानम्॥ २१॥

अर्थ .-- यह केवलज्ञानक्षायिक है क्योंकि समस्त ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होता है अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मों के अत्यन्त क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिये इसको क्षायिक कहते है। इसके सिवाय केवलज्ञान अनन्त है। इसका कभी नाश नहीं होता, अनन्त काल तक बराबर बना रहता है। तथा एक है, अद्वितीय है, इसको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती तथा न इसके कोई भेद है। यह ज्ञान अभेद रूप है। यह ज्ञान भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में होने वाले समस्त पदार्थ और उनकी समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है यह ज्ञान अनन्त सुख का स्थान है, केवल ज्ञान के होते ही अनन्त सुख की प्राप्ति

अवश्य होती है । ऐसे केवलज्ञान की मै सदा वन्दना करता हूं ॥ २९ ॥

आगे आचार्य स्तुति के फल की प्रार्थना करते है ।

एवमभिष्टुवतो मे, ज्ञानानि समस्त लोकचक्षूंषि ।
लघु भवतान्ज्ञानर्द्धि, ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनम् ॥ ३० ॥

अर्थ .-- ये पाँचो ही ज्ञान लोकाकाश के समस्त पदार्थों के जानने के लिये नेत्र के समान है । इसलिये मैंने इन ज्ञानों की स्तुति की है इस ज्ञान की स्तुति करने से मुझे बहुत शीघ्र उस अनन्त सुख की प्राप्ति हो । जो अनन्त सुख कभी नष्ट नही होता अथवा पुष्पमाला, भोजन, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता । केवलज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है तथा जिस सुख में ज्ञान की अनेक ऋद्धियां भरी हुई है । अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य जिस अनन्त सुख के साथ है ऐसा अनन्त सुख मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो ॥३० ॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।

गद्य- इच्छामि भंते ! सुदभक्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, अगोवंगपइण्णए, पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव, सुत्तत्थथुइ, धम्मकहाइयं, णिच्चकालं अंजेमि, पूजेमि, वन्दामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ :- हे भगवान ! श्रुतभक्ति करने के बाद मैंने जो कायोत्सर्ग किया है और उसमें जो भी दोष लगे है उनकी मै आलोचना करने की इच्छा करता हूं । श्रुतज्ञान के जो अंग और उपांग है । प्रकीर्णक, प्राभृतक, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका, सूत्रार्थ, स्तुति, धर्म कथा आदि है । उन सबकी मै सदाकाल अर्चा करता हूं, सबकी पूजा करता हूं, सबकी वन्दना करता हूं और सबके लिये नमस्कार करता हूं । ऐसा करने से मेरे समस्त दु:खो का नाश हो, समस्त कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति प्राप्त हो, समाधि मरण की प्राप्ति हो, और भगवान जिनेन्द्रदेव के अनन्त गुणों की प्राप्ति हो ।

-: इति श्रुतभक्ति :-

(४)

❀ चारित्र भक्ति ❀

श्रुत भक्ति कर अब आगे पंचाचार की स्तुति करते है--

येनेन्द्राम्भुवनत्रयस्य विलसत् केयूरहारांगदान् ।
भास्वन्मौलिमणिप्रभाप्रविसरत्-तुंगोत्तमांगान्नतान् ।।
स्वेषा पादपयोरूहेषु मुनयश्, चक्रुः प्रकामं सदा ।
वंदे पंचतयं तमद्य निगदन्, नाचारमभ्यर्चितम् ।। १ ।।

अर्थ -- जिनके सुन्दर केयूर, शरीर हार, बाजूबंद आदि आभूषणों से सुशोभित है, जिनके मस्तक दैदीप्यमान मुकुट की मणियों की कीर्ति के फैलाव से बहुत ऊँचे दिखलाई देते है, ऐसे तीनों लोकों के समस्त इन्द्रों को जिन मुनियों ने अपने पंचाचार के प्रभाव से अपने चरण कमलों में नम्रीभूत कर लिया है ऐसे अत्यन्त पूज्य पांचों आचारों के स्वरूप को कहने की इच्छा करने वाला मैं उन पांचों आचारों को बड़ी भक्ति से सदा नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ -- इन्द्रादिक देव भी मुनियों के चरण कमलों में नमस्कार करते है यह पंचाचार का ही प्रभाव है । वे मुनि पंचाचार का पालन करते है । इसलिये इन्द्रादिक देव उनको नमस्कार करते है । मैं भी उन्हीं पंचाचारों को नमस्कार करता हूं ।। १ ।।

आगे आचार्य ज्ञानाचार का स्वरूप कहते है --

अर्थ व्यजन तद्द्वया विकलता, कालोपधाप्रश्रया:
स्वाचार्याद्यनपन्हवो बहुमतिश्चे-त्यष्टधा व्याहतम् ।।
श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना भगवता, तीर्थस्य कर्त्राऽन्जसा
ज्ञानाचारमह त्रिधा प्रणिपता-म्युद्धूतये कर्मणाम् ।। २ ।।

अर्थ -- यह ज्ञानाचार ८ प्रकार का है --

१- अर्थाचार -- ज्ञान के द्वारा जाने हुए अर्थ व पदार्थ को अच्छी तरह धारण करना ।

२- व्यंजनाचार :-- शब्दों को स्पष्ट और निर्दोष उच्चारण करना ।

३- उन दोनों की पूर्णता अर्थात् शब्दाचार और अर्थाचार दानों की पूर्णता ।

४- कालाचार :-- योग्य समय में ज्ञान की आराधन करना । प्रात: काल संध्याकाल, मध्यांकाल, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, वज्रपात आदि के समय ज्ञान का आराधन नहीं करना चाहिये जहाँ दुर्गन्ध हो वहा भी ज्ञान का आराधन नहीं करना चाहिये । इन सबको छोड़कर योग्य समय में ज्ञान का आराधन करना चाहिये ।

५- उपधाचार '-- स्मरण पूर्वक अध्ययन करना चाहिये ।

६- प्रश्नाचार व विनयाचार .-- शास्त्रों का विनय करते हुए अध्ययन करना चाहिए ।

७- स्वाचार्याद्यनपन्हव अर्थात् पंचाचारों को निरूपण करने वाले आचार्य अथवा ज्ञान दान देने वाले उपाध्याय आदि का नाम नहीं छिपाना चाहिये ।

८- बहुमति .-- आचार्य व उपाध्यायों का आदर सत्कार करते हुए अध्ययन करना चाहिये । इस प्रकार ज्ञानाचार के आठ भेद है जिनके अनन्त चतुष्टय रूप अंतरंग लक्ष्मी और समवशरणादि बहिरंग लक्ष्मी विद्यमान है, जो अपनी जाति और कुल को प्रकाशित करने के लिये चन्द्रमा के समान है और श्रुतज्ञान रूप तीर्थ के अथवा धर्म रूप तीर्थ के यथार्थ कर्त्ता है । धर्म व श्रुतज्ञान को प्रगट करने वाले व निरूपण करने वाले है । ऐसे भगवान जिनेन्द्र देव ने इस आठ प्रकार के ज्ञानाचर का निरूपण किया है, ऐसे ज्ञानाचार को मै अपने समस्त कर्मों को नाश करने के लिये मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूं ।। २ ।।

आगे दर्शनाचार का स्वरूप कहते है--

शंकादृष्टिविमोहकांक्षणविधि, व्यावृत्तिसन्नद्धतां,
वात्सल्यं विचिकित्सना, दुपरतिं, धर्मोपबृंहक्रियाम् ।
शक्त्या, शासनदीपनं हितपथाद्, भ्रष्टस्य संस्थापनम्,
वंदे दर्शनगोचरं सुचरितंमूर्ध्ना नमन्नादरात् ।। ३ ।।

अर्थ .-- इस सम्यग्दर्शन रूप दर्शनाचार के भी आठ अंग है पहला

अंग नि॰ शंकित है। सर्वज्ञ है अथवा नही या ये पदार्थ सर्वज्ञ देव के कहे हुए है या नहीं इस प्रकार के सदेह को शंका कहते है। ऐसी शंका कभी न करना ऐसी शंका निवृत्ति में सदा तत्पर रहना अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत पदार्थों मे पूर्ण विश्वास करना निःशंकित अंग है। दूसरा अंग अमूढ दृष्टि अंग है। दृष्टि शब्द का अर्थ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान है उसकी मूढता अन्य मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना है। ऐसी मूढ़ता न करना ऐसी मूढ़ता की निवृत्ति करने में सदा तत्पर रहना अमूढ दृष्टि अंग है। तीसरा निःकांक्षित अंग है। आगामी भोगों की इच्छा का होना कांक्षा कहलाती है ऐसी कांक्षा न करना इच्छाओं की निवृति में सदा तत्पर रहना नि कांक्षित अंग है। चौथा अंग वात्सल्य है। साधर्मी भाइयों के साथ स्नेह रखना वात्सल्य है। पाँचवा अंग निर्विचिकित्सा है। विचिकित्सा ग्लानि को कहते है। मुनियों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है। छठा अंग उपवृहण है। उत्तम क्षमा आदि धर्मों की वृद्धि करना अथवा धर्म का अनुष्ठान करने वाले धर्मात्मा भाइयों के प्रमादवश लगे हुए दोषों को ढककर धर्म की वृद्धि करना धर्मोपवृंहण नाम का अंग कहा जाता है। सातवां अंग प्रभावना अंग है। अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण आदि के द्वारा जैन-धर्म का महात्म्य प्रगट करना प्रभावना है। आठवां अंग स्थितिकरण अंग है। जो मुनि वा श्रावक रत्नत्रय से भ्रष्ट हो रहा है उसको उदाहरण देकर वा हेतुवाद से वा नयवाद से समझाकर रत्नत्रय में स्थिर करना भ्रष्ट न होने देना, स्थितिकरण अंग है। इस प्रकार जिस दर्शनाचार में सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग है जिसका अनुष्ठान या धारण करना अत्यंत मनोहर वा सुगति देने वाला है अथवा जिसका अनुष्ठान गणधरादिक देव करते है ऐसे दर्शनाचार को मै बड़े आदर से मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

आगे तपाचार का स्वरूप कहते है।

एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः, संतापनं तानवम्,
सख्यावृत्तिनिबन्धनामनशनं, विष्वाणमर्द्धोदरम्।
त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः, स्वादो रसस्यानिशम्,

योढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगतिप्राप्त्यभ्युपायं तपः ॥ ४ ॥

अर्थ :-- तपश्चरण के दो भेद हैं । १ अंतरंग तपश्चरण २-बाह्य तपश्चरण । इन दोनों तपों के ६-६ भेद है । इनमें से बाह्य तपश्चरण के ६ भेद यहाँ दिखलाते है, जहाँ पर पशु, स्त्री, नपुंसक आदि न रहते हों ऐसे एकान्त स्थान में सोना या बैठना 'विविक्त शय्यासन' नाम का तप है । अनेक प्रकार के तपश्चरणों से शरीर को क्लेशित करना 'काय क्लेश' नाम का तप है । अपने आहार विहार आदि प्रवृत्ति में जो कारण है उनकी गिनती वा नियम करना ''वृत्तिपरिसंख्यान'' तप है । चार प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास करना ''अनशन'' तप है । अर्ध पेट भोजन करना ''अवमौदर्य'' तप है । इन्द्रिय रूपी हाथी को मद उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट या पौष्टिक रसों का सदा के लिये त्याग करना ''रस परित्याग'' तप है । इस प्रकार बाह्य तप के ६ भेद हैं । ये छहों प्रकार के तप बाहर से दिखलाई देते है लोगों को मालूम हो जाते हैं । इसलिये इनको बाह्य तप कहते है तथा ये छहों तप मोक्षमार्ग को प्राप्त कराने के कारण है । उनसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति अवश्य होती है । ऐसे छहों प्रकार के बाह्य तपों की मै स्तुति करता हूं । तथा वन्दना करता हूं ॥ ४ ॥

आगे अतरंग तपों वर्णन करते है--

स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः, संप्रत्यवस्थापनम्,
ध्यानं व्यापृतिरामयाविनि गुरौ, वृद्धे च बाले यतौ ।
कायोत्सर्जनसत्क्रिया विनय इत्येवं तपः षड्विधं ।
वन्देऽभ्यंतरमन्तरंग बलव द्विद्वेषि विध्वंसनम् ॥ ५ ॥

अर्थ :-- अन्तरंग तपश्चरण के ६ भेद है --१-स्वाध्याय, २- प्रायश्चित, ३- ध्यान, ४- वैयावृत्य, ५- कायोत्सर्ग, ६- विनय ।

१- स्वाध्याय :-- लाभ, सम्मान, कीर्ति, आदि की इच्छा रहित केवल कर्मों के नाश करने के लिये धर्म शास्त्रों का अध्ययन करना ।

२- प्रायश्चित :-- जो सामायिक, वन्दना आदि शुभ कार्यों को छोड़ रहे है या छोड़ चुके है उनको प्रायश्चित देकर फिर उसी सनातन मोक्षमार्ग में लगाना ।

३- ध्यान :-- अपने मन को किसी एक पदार्थ पर लगाकर अन्य समस्त चिंतवनों को रोक देना ध्यान है ।

४- वैयावृत्य :-- जो गुरू वा आचार्य रोगी हों अथवा कोई मुनि अत्यन्त वृद्ध हो अथवा कोई बालक अवस्था में कम अवस्था में मुनि हो गया और वह रोगी हो तो अपने शरीर से उसकी सेवा करना वैयावृत्य है ।

५- कायोत्सर्ग -- अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देना कायोत्सर्ग है ।

६- विनय -- चार प्रकार का विनय करना विनय तप है ।

इस प्रकार अंतरग तप के ६ भेद है । ये सब अन्तरंग तप अत्यन्त बलवान ऐसे क्रोधादिक अंतरंग शत्रुओं को नाश करने वाले है ऐसे इन छहों तपों को मैं बड़ी भक्ति के साथ नमस्कार करता हूं ।। ५ ।।

आगे वीर्याचार का वर्णन करते है ।

सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधत:, श्रद्धानमर्हन्मते,
वीर्यस्याविनिगूहनेन, तपसि स्वस्य प्रयत्नाद्यते: ।
या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा, लघ्वीभवोदन्वतो: ।
वीर्याचारमह तमूर्जितगुण, वन्दे सतामर्चितम् ।। ६ ।।

अर्थ -- जो मुनि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करते है और भगवान् अरहन्त देव के कहे हुए मत में गाढ श्रद्धान धारण करते है ऐस सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले मुनि अपने वीर्य व शक्ति को न छिपाकर बड़े प्रयत्न से, आदर से ऊपर कहे हुए बारह प्रकार के तपश्चरण पालन करने में अपनी प्रवृत्ति करते है, वह उनकी प्रवृत्ति संसार रूपी समुद्र से पार कर देने के लिये नाव के समान होती है । जिस प्रकार नाव छिद्र रहित होती है उसी प्रकार उन मुनियों की प्रवृति भी अतिचार रहित होती है । तथा नाव जिस प्रकार छोटी और हल्की एक ही लकडी की बनी हुयी अवश्य पार कर देती है । उसी प्रकार उन मुनियों की प्रवृत्ति भी आडम्बर रहित केवल तपश्चरण रूप होती है । ऐसी वह मुनियों की शक्ति है वा वार्याचार है जो कि समस्त कर्मों के नाश करने में अथवा कठिन तपश्चरणों के धारण में अत्यन्त गुणशाली है और गणधरादिक

बड़े-बड़े ऋद्धि धारी मुनि भी जिसकी पूजा करते है ऐसे वीर्याचार को अर्थात् अत्यन्त कठिन और घोर तपश्चरण करने की वृत्ति को मै नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥

आगे चारित्राचार का वर्णन करते है --

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनो, भाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः, पंचव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितंत्रयोदशतयं, पूर्वं न दृष्टं परै--
राचारं परमेष्ठिनो जिनपते, र्वीरं नमामो वयम् ॥ ७ ॥

अर्थ :-- चारित्र के १३ भेद है और वे इस प्रकार हैं । मन को वश में करना, वचन को वश में करना, काय को वश में करना, अर्थात् मन, वचन, काय की कोई क्रिया न होने देना गुप्तियां कहलाती है । इस प्रकार गुप्तियों के तीन भेद है । समितियां पाँच है --१-ईर्यासमिति, २-भाषासमिति, ३-एषणा समिति, ४-आदान निक्षेपण समिति, ५-उत्सर्ग समिति ।

१--सूर्य के प्रकाश में चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है ।

२--हितमित भाषा बोलना भाषा समिति है ।

३--शास्त्र में कही हुयी विधि के अनुसार शुद्ध निर्दोष भोजन ग्रहण करना एषणा समिति है ।

४--उपकरणों को देखभालकर रखना आदान निक्षेपण समिति है ।

५--जमीन को देखकर मल-मूत्र निक्षेपण करना व्युत्सर्ग समिति है ।

इनके सिवाय ५ महाव्रत हैं । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह । इन पाँचों पापों का मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से सर्वथा त्याग कर देना ये पाँच महाव्रत कहलाते है । इस १३ प्रकार के चारित्र के समुदाय को चरित्राचार कहते है । उस चरित्राचार के ऊपर लिखे हुए १३ भेद है । यह १३ प्रकार का चरित्राचार भगवान वीर नाथ ने ही निरूपण किया है । अरहंत परमेष्ठी तीर्थंकर परमदेव भगवान् वीरनाथ के सिवाय तथा भगवान ऋषभदेव के सिवाय अन्य अजितनाथ तीर्थंकरों से

लेकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर तक २२ तीर्थन्करों ने किसी ने निरूपण नही किया है । श्री ऋषभदेव तीर्थंकर के समय लोगों की बुद्धि सरल थी परन्तु मार्ग बन्द होने के कारण लोग जानकार नही थे । इसलिये उन्होंने १३ प्रकार का चारित्र निरूपण किया तथा भगवान महावीर के समय में लोगों की बुद्धि जड़रूप थी, परिणामों में कुटिलता थी इसलिये उन्होंने ऐसे भव्य जीवों के लिये १३ प्रकार का चारित्र निरूपण किया । बाकी के तीर्थंकरों ने समस्त पापों की निवृत्ति रूप एक सामायिक चारित्र का ही निरूपण किया था क्योंकि उनके समय में न तो जीव भोले थे और न जड़ बुद्धि वाले थे । ऐसे चारित्राचार के लिये मै नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥

आगे आज्ञाचार आदि के भेद से जो पाँच प्रकार का आचार बतलाया है उसकी समुदाय रूप से सबकी एक साथ स्तुति करने के लिये उन पंचाचारों को पालन करने वाले मुनियों की वन्दना करते है ।

आचार सहपंचभेदमुदितं, तीर्थं परं मंगलं,

निर्ग्रंथानपि सच्चरित्रमहतो, वंदे समग्रान्यतीन् ।

आत्माधीनसुखोदयामनुपमां, लक्ष्मीमविध्वंसिनीम्,

इच्छन्केवलदर्शनावगमन, प्राज्यप्रकाशोज्वलाम् ॥ ८ ॥

अर्थ .-- जिस आचार के ऊपर पाँच भेद बतलाये है, जो आचार भव्य जीवों को इस संसार समुद्र से पार कर देने वाला तीर्थ है, जो मोक्ष मार्ग में सर्वोत्कृष्ट है और जो पापों को नाश करने वाला अर्थात् अनन्त पुण्य उत्पन्न करने वाला मंगलमय है । ऐसे पंचाचार के लिये मै वन्दना करता हूं । तथा इनकी वन्दना के साथ-साथ इन पंचाचारों को धारण करने वाले समस्त मुनियों की भी मै वन्दना करता हूं जो कि उत्तम चारित्र के पालन करने वाले है और पूज्य है, अथवा जो उत्तम चारित्र के पालन करने से ही पूज्य है, ऐसे समस्त मुनियों के लिये मै वंदना करता हूं ॥ ८ ॥

इस संसार मे एक मोक्ष लक्ष्मी ही अविनश्वर है बाकी की समस्त लक्ष्मियाँ नाश होने वाली है । इसके सिवाय यह मोक्ष लक्ष्मी केवल आत्मा से उत्पन्न होने वाले अनन्त सुखमय तथा केवल दर्शन और केवल ज्ञान इन दोनों के अनंत प्रकाश से अत्यन्त दैदीप्यमान है और इसीलिये वह उपमा रहित है ऐसी मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मै पंचाचारों को और पंचाचार धारण करने वाले समस्त मुनियों को नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

आगे चारित्र पालन करते हुए जो दोष व अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं--

अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनोऽवर्तिष्यहं चान्यथा,

तस्मिन्नर्जितमस्यति प्रतिनवं, चैनो निराकुर्वति ।

वृत्ते सप्ततयीं निधिं सुतपसामृद्धिं नयत्यद्भुतं ।

तन्मिथ्या गुरूदुष्कृतं भवतु मे, स्वं निंदतो निंदितम् ।। ९ ।।

अर्थ :- मैंने अपने अज्ञान से यदि मुनियों की शास्त्र में कही हुई विधि के प्रतिकूल प्रर्वतन किया हो अथवा यदि मैंने स्वयं अपने अज्ञान से आगम से विरूद्ध प्रवर्तन किया हो और उस आगम के प्रतिकूल प्रवर्तन करने अथवा कराने में जो पाप लगे हों वे सब पाप इस चारित्र के पालन करने से नष्ट हो जाते है तथा नवीन नवीन जो पाप आते है वे भी सब इस चारित्र के पालन करने से रूक जाते है । इसके सिवाय इस चारित्र के प्रभाव से श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियों को आश्चर्य करने वाली तपश्चरण की सात ऋद्धियां प्राप्त होती है । १-बुद्धि ऋद्धि, २-घोर ऋद्धि, ३-विक्रिया ऋद्धि, ४-औषधि ऋद्धि, ५-रस ऋद्धि, ६-बल ऋद्धि, ७-अक्षीण ऋद्धि ये सात प्रकार की ऋद्धियां मुनियों को ऐसे चारित्र के प्रभाव से होती है । ऐसे इस चारित्र के पालन करने में जो मुझसे महापाप बन गया हो जो कि अत्यन्त गर्हित वा निंदनीय हो वह सब पाप अपने आत्मा की निंदा करने वाले मेरे मिथ्या हों ।। ९ ।।

आगे ऐसी महिमा को धारण करने वाला चारित्र भव्य जीवों को धारण करना चाहिये । ऐसा आचार्य उपदेश देते है--

संसारव्यसनाहति प्रचलिता, नित्योदयप्रार्थिनः,

प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शांतैनसः, प्राणिनः ।

मोक्षस्यैव कृत विशालमतुलं, सोपानमुच्चैस्तराम्,

आरोहन्तु चरित्रमुत्त-मिदं, जैनेन्द्रमोजस्विनः ।। १० ।।

अर्थ -- जो भव्य जीव संसार के दु खों के चक्करों से भयभीत हो गये है जो सदाकाल रहने वाली मोक्ष लक्ष्मी के प्राप्त होने की प्रार्थना करते है, जो आसन्नभव्य हैं अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुची है । जिनकी बुद्धि मोक्ष मार्ग में लगी रहने के कारण

अत्यन्त उत्तम है, जिनके पाप कर्मों का उदय शांत हो गया है और जो बडे तेजस्वी वा मोक्ष मार्ग में उद्यम करने वाले है ऐसे भव्य जीव इस ऊपर कहे हुए श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा निरूपण किये हुए तथा जिसकी संसार भर में कोई उपमा नही है जो अत्यन्त विशाल और अत्यन्त ऊँचा है ऐसे मोक्ष के लिये बनाये हुए जीने के (सीढियों के) समान इस उत्तम चरित्र को धारण करें, पालन करें ॥ १० ॥

कायोत्सर्ग -- इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये । अथ आलोचना

इच्छामि भते चारित्तभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्स आलोचेउ । सम्मणाणजोयस्स सम्मत्ताहिट्ठियस्स, सव्वपहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स, कम्मणिज्जरफलस्स, खमाहारस्स, पचमहव्वयसपण्णस्स, तिगुत्ति गुत्तस्स, पंचसमिदिजुत्तस्स, णाणज्झाणसाहणस्स, समया इव पवेसयस्स, सम्मचारित्तस्स सया अचेमि पूजेमि, वदामि णमसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाओ, सुगइगमण समाहिमरण, जिणगुणसं पत्ति होउ मज्झ ।

अर्थ -- हे भगवन् मैं चारित्र भक्ति करके कायोत्सर्ग करता हू तथा उस कायोत्सर्ग में जो अतिचार व दोष लगे हों उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हू । यह सम्यक् चारित्र सम्यग्ज्ञान सहित है सम्यग्दशन से परिपूर्ण है । मोक्ष प्राप्त कराने के कारणों में, सबमें प्रधान है, मोक्ष का साक्षात् कारण है, कर्मों की निर्जरा होना ही इसका फल है, उत्तम क्षमा ही इसका आधार है, पचमहाव्रतों से सुशोभित है तीनों गुप्तियों से इसकी रक्षा होती है, यह पाचों समितियो सहित है, ज्ञान और ध्यान का मुख्य साधन है, समता का प्रवेश इसके अतर्गत है, ऐसे सम्यक् चारित्र की मैं अर्चा करता हू । सदा पूजा करता हू सदा वदना करता हू और सदा नमस्कार करता हू । ऐसा करने से मेरे समस्त दु खों का नाश हो समस्त कर्मो का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो शुभगति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो, और श्री जिनेन्द्र देव के गुणों की प्राप्ति हो ।

इस प्रकार यह चारित्र भक्ति समाप्त हुई ।

(५)

✿ योगि भक्ति ✿

जातिजरोरूरोगमरणा, तुरशोकसहस्त्रदीपिता:,
दु:सहनरकपतन, सन्त्रस्तधिय: प्रतिबुद्धचेतस· ।
जीवितमबुबिंदुचपल, तडिदभ्रसमा विभूतय:,
सकलमिदं विचिन्त्यमुनय:, प्रशमाय वनान्तमाश्रिता: ॥ १ ॥

अर्थ -- जो मुनिराज जन्म, मरण बुढापा और भगदर आदि अनेक प्रकार के रोगों से दु खी है जो पुत्र, स्त्री आदि के वियोग जनित संताप से अत्यन्त जाज्वल्यमान हो रहे है असह्य नरक पतन से जिसकी बुद्धि भयभीत हो रही है और जिनके हृदय से हेयोपादेय का विवेक जागृत हो रहा है ऐसे मुनि इस जीवन को पानी की बूँद के समान अत्यत चचल समझकर तथा ससार की इस समस्त विभूतियों को बिजली के समान क्षणनश्वर समझकर ससार को नाश करने के लिये अथवा रागद्वेष को दूर करने के लिये वन का आश्रय लेते है अथात् वन में चले जाते है ॥ १॥

आगे ऐसे मुनि वन में जाकर क्या करते है सो कहते है --

व्रत समितिगुप्तिसयुता· शमसुखमाधायमनसिवीतमोहा· ।
ध्यानाध्ययनवशगता., विशुद्धयेकर्मणातपश्चरन्ति ॥ २ ॥

अर्थ -- जो मुनिराज पाँचो महाव्रतों का पालन करते है पॉचो समितियों का पालन करते है और तीनों गुप्तियों का पालन करते है तेरह प्रकार के चारित्र को प्रयत्न पूर्वक पालन करते है जिनका दर्शन मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो गया है और जो ध्यान तथा अध्ययन में ही सदा लीन रहते है ऐसे मुनि अपने मन में मोक्ष सुख को धारण कर कर्मो का नाश करने के लिये तपश्चरण का पालन

करते है । कही कही पर शिव सुख के स्थान पर शमसुख भी पाठ है । उसका अर्थ है--''परमवीतरागता के सुख को हृदय में धारण कर तपश्चरण पालन करते है ॥ २ ॥

दिनकरकिरणनिकर, सतप्तशिलानिचयेषु निस्पृहा:,
मलपटलावलिप्ततनव:, शिथिलीकृतकर्मबधना: ।
व्यपगतमदनदर्परति, दोषकषायविरक्तमत्सरा:,
गिरिशिखरेषु चडकिरणाभिमुखस्थितयोदिगबरा: ॥ ३ ॥

अर्थ -- जो मुनिराज कभी स्नान नही करते इसलिए उनके शरीर पर मैल के पटल जम जाते है मैल के पटलो से उनका शरीर मलीन हो गया है परन्तु उनके कर्मों के स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध सब शिथिल हो गये है, नष्ट हो गये है इसके सिवाय उनके काम का इष्ट पदार्थों से रति वा राग, मोहादिक दोष और क्रोधादिक कषाय सब नष्ट हो गये है, तथा मात्सर्य जिनसे सर्वथा विमुख हो गया है अर्थात् जो मात्सर्य से रहित है और सूर्य के सामने जो विराजे हुए है ऐसे दिगम्बर मुनिराज निस्पृह होकर पर्वतों के शिखर पर चढकर उसकी प्रचण्ड किरणों के समूह से अत्यन्त गर्म हुई शिलाओं के समूह पर विराजमान होकर घोर तपश्चरण करते है ।

भावार्थ -- वे मुनिराज समस्त दोषों से रहित होकर पर्वतों पर घोर तपश्चरण करते है ॥३॥

सज्ज्ञानामृतपायिभि:, क्षान्तिपय सिच्यमानपुण्यकायै:
धृतसतोषच्छत्रकै:, तापस्तीव्रोऽपिसह्यते मुनीन्द्रै: ॥ ४ ॥

अर्थ -- जो मुनिराज सम्यग्ज्ञान रूपी अमृत को पीते रहते है, जो अपने पुण्यमय शरीर को क्षमा रूपी जल से सींचते रहते है तथा जो संतोष रूपी छत्र को धारण करते रहते है । ऐसे मुनिराज असह्य काय क्लेश सहन करते रहते है ।

अभिप्राय यह है कि मुनिराज गर्मी के दिनों में पर्वत के शिखर पर जाकर तपश्चरण करते हैं केवल ज्ञान रूपी जल को पीते है । क्षमा रूपी जल से स्नान करते है और सतोष रूपी छत्र को धारण करते है, इस प्रकार गर्मी के दिनों में घोर तपश्चरण करते है ॥ ४ ॥

आगे वर्षा ऋतु में मुनिराज क्या करते है सो दिखलाते है--

शिखिगलकज्जलालिमलिनै, र्विबुधाधिपचापचित्रितै:,
भीमरवैर्विसृष्टचण्डा,-शनिशीतलवायुवृष्टिभि: ।
गगनतलं विलोक्यजलदै: स्थगितंसहसा तपोधना:,
पुनरपि तरूतलेषुविषमासु निशासु विशंकमासते ।। ५ ।।

अर्थ .-- वर्षा ऋतु में जो बादल आते है वे मयूर की गर्दन के समान नीले अथवा काजल वा भ्रमरों के समान काले होते है । तथा अनेक इन्द्रधनुषों से सुशोभित रहते है । वे बादल भयंकर शब्दो से गरजते है, बिजली गिराते है, वायु को शीतल करते है, और घनघोर वर्षा करते है। ऐसे बादलों को आकाश मंडल में छाये हुये देखकर वे मुनिराज शीघ्र ही भयानक रात्रियों में भी वृक्ष के नीचे आतापन योग धारण कर निर्भय होकर विराजमान रहते है ।। ५ ।।

वे मुनिराज वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे विराजमान रहते है, मूसलाधर वर्षा से उनके शरीर को बहुत कष्ट पहुँचता है तथापि वे मुनिराज अपनी प्रतिज्ञा किये हुए व्रत से च्युत नही होते है ऐसा दिखलाते है--

जलधाराशरताडिता न चलन्ति, चरित्रत: सदा नृसिंहा:,
ससार दु:खभीरव: परीषहारातिघातिन: प्रवीरा: ।। ६ ।।

अर्थ .-- वे मुनिराज यद्यपि पानी की धारा रूपी बाणों से ताड़ित किये जाते है, वर्षा की धारा बाणों के समान उनको दु ख देती है तथापि वे मुनिराज मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर होते है तथा संसार के दु.खों से वे भयभीत रहते है और इसीलिये परिषह रूपी शत्रुओं को वे सर्वथा घातकर डालते है । और इसी कारण से वे शूरवीरों में भी श्रेष्ठ गिने जाते है । ऐसे वे मुनिराज घोर वर्षा में भी अपने चारित्र से कभी चलायमान नही होते है ।। ६ ।।

आगे शीतकाल में ये मुनिराज क्या करते है सो कहते है ।

अविरतबहलतुहिन, कणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातनै,
रनवरतमुक्तसात्काररवै:, परूषैरथानिलै: शोषितगात्र यष्टय:।
इह श्रमणा धृतिकंबलावृता: शिशिरनिशां,

तुषारविषमा गमयन्ति, चतु:पथे स्थिता: ॥ ७ ॥

अर्थ -- शीतकाल में जो वायु चलती है वह सदा बरफ वा पाले की बडी-बडी बून्दों से भरी रहती है तथा वह वायु वृक्षों के सब पत्तों को गिरा देती है उससे निरंतर साय सांय ऐसा कठोर बड़ा भारी शब्द होता रहता है और वायु अत्यन्त वा असह्य होती है ऐसी झझा वायु से जिनकी शरीर रूपी लकड़ी सब सुख गई है ऐसे वे मुनिराज चौराहे पर चौडे मैदान में विराजमान होकर और सतोष रूपी कम्बल को धारण कर बडे सुख से पाला व बरफ पड़ने से अत्यन्त असह्य ऐसी शीतकाल की रात्रि को व्यतीत कर देते है ।

आगे स्तुति करने वाला अपनी स्तुति के फल की याचना करता है ।

इति योगत्रयधारिण·, सकलतपशालिन:, प्रवृद्ध पुण्यकाया: ।
परमानदसुखैषिण., समाधिमग्रयं दिशंतु नो भदन्ता: ॥ ८ ॥

अर्थ -- पर्वत के शिखर पर आतापन योग धारण करने वाले, वर्षा में वृक्ष के नीचे विराजमान होने वाले और शीतकाल में चौराहे पर विराजमान होने वाले मन, वचन काय तीनों गुप्तियों का पालन करने वाले बाह्य अभ्यन्तर समस्त तपश्चरणों से सुशोभित होने वाले अपने पुण्य के समूह को परम अतिशय से सुशोभित करने वाले अथवा अनेक प्रकार के तपश्चरण करने में अपने शरीर को उत्साहित करने वाले और मोक्ष रूपी सुख की इच्छा करने वाले तथा सबका कल्याण करने वाले ऐसे वे मुनिराज मुझको सर्वोत्तम शुक्ल ध्यान की प्राप्ति करें ।

गिम्हेगिरि सिहरत्थावरि-सायाले रूक्खमूलरयणीसु
सिसिरे वाहिरसयणाते साहू वंदिमो णिंच्च ॥ ९ ॥
गिरिकदर दुर्गेषु ये वसन्ति दिगम्बरा: ।
पाणिपात्र पुटाहारास्ते याति परमा गतिम् ॥ १० ॥

अर्थ -- ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर पर वर्षाकाल में वृक्ष के मूल भाग में रात्रि के समय और शिशिर ऋतु में बाहर खुले स्थान पर ध्यान करते है । उनकी वन्दना करता हूं । जो हाथ रूपी पात्र में आहार ग्रहण करते है, एकान्त में रहते है ऐसे जो दिगम्बर साधु पर्वत की

गुफा अथवा भयंकर वन में निवास करते है वे उत्कृष्ट गति को प्राप्त होते है ॥ १० ॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

इच्छामि भंते योगि भत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं ।
अड्ढाइज्जदीव दो समुद्देसु, पण्णारसकम्मभूमिसु
आदावणरूक्खमूलअब्भोवासठाणमो
णवीरासणेक्कपासकुक्कुडासण
चउ-छपक्ख-खव-णादियोगजुत्ताणं, सव्वसाहूणं,
णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि
दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं,
समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

आलोचना --

अर्थ -- हे भगवन् ! मै योगीभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं । ढाई द्वीप और दो समुद्रों में जो १५ कर्म भूमियां है उनमें जो साधु आतापन योग धारण करते है, वृक्ष के नीचे रहते है और चौड़े मैदान में रहते है इस प्रकार के तीनों को जो धारण करते है, जो मौनव्रत को धारण करते है, वीरासन (एक कर्वट से सोना) और कुक्कुटासन (मुर्गे का सा आसन) आदि अनेक आसनों से तपश्चरण करते है जो बेला, तेला करते है १५ दिन का उपवास और अधिक उपवास करते है । ऐसे समस्त मुनियों को मै नमस्कार करता हूं, सबकी वन्दना करता हूं । मेरे दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधि मरण की प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्र देव के गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति योगि भक्ति·)

(६)

❀ आचार्य भक्तिः ❀

सिद्धगुणस्तुतिनिरता, नुद्धूतरूषाग्निजालबहुलविशेषान् ।
गुप्तिभिरभिसपूर्णान्, मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान् ।।१।।

अर्थ -- जो आचार्य सिद्धों के सम्यक्त्व आदि गुणों की स्तुति करने में सदा लीन रहते है, क्रोध, मान, माया, लोभरूपी अग्नि के समूह के जो अनन्तानुबंधी आदि अनेक भेद है अर्थात् कषायों के जो भेद है वे सब जिन्होंने नष्ट कर दिये है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्तियों का पालन करते हैं, जो मोक्ष से ही सदा सबंध रखते है और जिनके भाव सत्य वचन से ही सदा भरपूर हैं, जो कभी किसी को नहीं ठगते, ऐसे आचार्य को मैं नमस्कार करता हू ।। १ ।।

इस श्लोक में तथा आगे के श्लोक में नमस्कार सूचक कोई वाक्य नही है वह वाक्य दशवें श्लोक में है और वहाँ तक सब श्लोकों का सम्बन्ध है इसलिए नमस्कार करता हूँ । यह वाक्य वहा से लिया है । आगे भी ऐसा ही समझना चाहिये ।

मुनिमाहात्म्यविशेषान्, जिनशासनसत्प्रदीपभासुरमूर्त्तीन् ।
सिद्धिं प्रपित्सुमनसो, बद्धरजोविपुलमूलघातन
कुशलान् ।। २ ।।

अर्थ -- जो मुनियों के विशेष माहात्म्य को, ज्ञान के अतिशय को प्रकाशित करने वाले है, जिनकी मूर्त्ति जिनशासन के प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान देदीप्यमान है, अथवा तपश्चरण के माहात्म्य से जिनके शरीर की मूर्त्ति दीपक के समान दैदीप्यमान हो रही है, जिनके मन में सिद्ध पद प्राप्त करने की इच्छा है और जो ज्ञानावरण आदि कर्मो के कारण रूप तत्प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य आदि दोषों को नाश करने में अत्यन्त कुशल है ऐसे आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूं ।। २ ।।

गुणमणिविरचितवपुषः षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातृन्सततम् ।
रहितप्रमादचर्यान् दर्शनशुद्धान्, गणस्य संतुष्टि करान् ॥३॥

अर्थ -- जिनके शरीर सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी मणियों से सुशोभित है, जो जीवादिक छहो द्रव्यों के निश्चय से आधार भूत रहते है अर्थात् जिनके हृदय में छहों द्रव्यों का सदा गाढ श्रद्धान रहता है, जिनके चारित्र विकथा आदि प्रमादों से सदा रहित रहते है, जिनका सम्यग्दर्शन सदा शंकादिक पच्चीसों दोषों से रहित होता है और जो संघ को सदा सन्तुष्ट रखते है ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हू ॥ ३ ॥

मौहच्छिदुग्रतपसः, प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभन व्यवहारान् ।
प्रासुकनिलयाननघा, नाशाविध्वंसिचेतसो हतकुपथान् ॥ ४ ॥

अर्थ -- अवधिज्ञान आदि अतिशय होने के कारण जिनका उग्र तपश्चरण, मोह और अज्ञान को नाश करने वाला है, जिनके हृदय में सदा धर्मवृद्धि की इच्छा रहती है, जिनका हृदय सदा शुद्ध लाभादिक की इच्छा से रहित रहता है इसीलिये जिनका समस्त व्यवहार अपने आत्मा का कल्याण करने वाला और अन्य भव्य जीवों का कल्याण करने वाला होता है । जिनका रहने का स्थान सम्मूर्छन जीवों से रहित सदा प्रासुक रहता है जो पापों से वा पापकार्यों से सर्वथा रहित होते है, जिनका हृदय इस लोक और परलोक की आशा से सर्वथा रहित होता है और जो मिथ्या दर्शन रूपी कुमार्ग को सदा नाश करने वाले होते है ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

धारितविलसन्मुडान्वर्जित बहुदडपिंडमडलनिकरान् ।
सकलपरीषहजयिनः क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान् ॥ ५ ॥

अर्थ -- जिनके मन, वचन, काय पाँचों इन्द्रियाँ और हाथ पैर आदि के व्यापार सब पाप रहित और इसीलिये अत्यन्त शोभायमान रहते है । जो मुनियों का समुदाय अधिक प्रायश्चित लेने वाला वा अधिक अपराधी होता है अथवा अधिक प्रायश्चित लेने वाला आहार ग्रहण करता है ऐसे मुनि समुदाय से जो आचार्य सर्वथा अलग रहते है, जो तपश्चरण के विशेष अनुष्ठानों से अनेक प्रकार की परीषहों को सदा जीतते रहते है । और जो प्रमाद रहित

होते है, ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हूं ।

अचलान्व्यपेतनिद्रान्, स्थानयुतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान् ।
विधिनानाश्रितवासा, नलिप्तदेहान्वि, निर्जितेद्रि
यकरिण: ॥ ६ ॥

अर्थ -- जो अनेक परीषहों के आ जाने पर भी अपने अनुष्ठान से वा व्रतों से कभी चलायमान नही होते । जो विशेषकर निद्रा से रहित होते है, प्राय कायोत्सर्ग धारण करते है, अनेक प्रकार के दु ख और दुर्गतियों को देने वाली लेश्याओं से जो सदा रहित होते है अर्थात् अशुभ लेश्याओं से सदा रहित होते है, जिन्होंने विधिपूर्वक घर का त्याग कर दिया है अथवा जो नियम से घर रहित है अथवा आगम के अनुसार जिनके कदरा, वसतिका आदि अनेक प्रकार के रहने के स्थान है, तपश्चरण के माहात्म्य से जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है । अर्थात् जिनका शरीर मल से अलिप्त है और जो इन्द्रियरूपी हाथी को सदा अपने वश में रखते है अर्थात् इन्द्रियों को जीतने वाले है ऐसे आचार्यो को मै सदा नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥

अतुलानुत्कुटिकासान्विविक्तचित्तानखंडितस्वाध्यायान् ।
दक्षिणभावसमग्रान्, व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान् ॥ ७ ॥

अर्थ -- संसार मे जिनकी कोई उपमा नहीं है, जो उत्कुटिकासन आदि कठिन कठिन आसनों से तपश्चरण करते है, जिनका हृदय सदा हेयोपादेय के विवेक से सुशोभित रहता है, जिनका स्वाध्याय सदा अखंडित रहता है, जो शुभ परिणामों से ही सदा सुशोभित रहते है जो मद, राग, लोभ, अज्ञान और मत्सरता से सदा अलग रहते है, ऐसे आचार्यों के लिए मै सदा नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥

भिन्नार्त्तरौद्रपक्षान्, सभावितधर्मशुक्लनिर्मलहृदयान् ।
नित्य पिनद्धकुगतीन्,
पुणयान्गण्योदयान्विलीनगारवचर्यान् ॥ ८ ॥

अर्थ -- जिन्होंने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानरूपी पक्षों का सर्वथा नाश कर दिया है जो अपने हृदय से धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का सदा अनुभव करते रहते है, जिन्होंने नरकादिक दुर्गतियों का सदा के

लिये नाश कर दिया है, जो अत्यन्त पवित्र वा पुण्यस्वरूप है जिनकी ऋद्धियाँ वा तपश्चरण के माहात्मय अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो दूररसास्वादन (दूर से ही रस का आस्वादन कर लेना) आदि ऋद्धियों की प्रवृत्तियों से सर्वथा रहित होते है । ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हूं ।। ८ ।।

तरूमूलयोगयुक्ता, नवकाशा तापयोगराग सनाथान् ।

बहुजन हितकर चर्या, नभयाननधान्, महानुभाव विधानान्।।९।।

अर्थ -- जो आचार्य वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे तरूमूल योगधारण करते है । ग्रीष्मकाल में आतापनयोग धारण करते है और शीतकाल में अभ्रावकाशयोग (मैदान में रहना) धारण करते है, जिनके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति अथवा चारित्र सदा अनेक जीवों का हित कऱने वाला होता है, जो सात प्रकार के भय से सर्वथा रहित होते है, जो सब तरह के पापों से रहित है, प्रबल पुण्य के उदय से जिनका प्रभाव सब जगह पड़ता है अथवा जो सदा धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही लीन रहते है, ऐसे आचार्यों को मै सदा नमस्कार करता हूँ ।। ९ ।।

ईदृशगुणसंपन्नान्, युष्मान्भक्तया विशालया स्थिरयोगान् ।

विधिनानारतमग्रयान्, मुकुलीकृतहस्तकमलशोभित

शिरसान् ।। १० ।।

अभिनौमि सकलकलुष, प्रभवोदयजन्मजरा मरणबंधन मुक्तान् ।

शिवमचलमनघमक्षय, मव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ।। ११ ।।

अर्थ .-- जो आचार्य ऊपर कहे समस्त गुणों से सुशोभित है जिनके मन, वचन, काय, अनेक परिषहों के आ जाने पर भी सदा स्थिर रहते है, समस्त गुणों को धारण करने से जो सदा मुख्य या प्रधान रहते है और अशुभ कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाले जन्म मरण बुढ़ापा आदि समस्त दोषों के सम्बन्ध से जो सर्वथा रहित होते है, ऐसे आचार्यो को मै बड़ी भारी भक्ति से विधिपूर्वक आचार्य भक्ति करके तथा अपने दोनों हाथ रूपी कमलों को जोड़कर मस्तक पर रखकर सदा नमस्कार करता हूं । तथा इस नमस्कार करने का फल अत्यंत प्रशंसनीय, हीनाधिकता से रहित, निर्दोष, अविनश्वर और बाधा रहित ऐसा मोक्ष का अनन्त सुख मुझे प्राप्त हो ऐसी

कामना करता हूँ अर्थात् ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए ही मै आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ ॥ १०-११ ॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिए -- (अर्थ आलोचना)

इच्छामि भते ! आइरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । सम्मणाण, सम्मदसणसम्मचारित्त जुत्ताण पचविहाचाराणं आयरियाण आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं, उवज्झायाणं, तिरयण गुण पालनरयाण, सव्वसाहूण, सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि पूजेमि वदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं समाहिमरण, जिणगुणसपत्ति होउ मज्झं

हे भगवान् ! मै आचार्य भक्तिकर कायोत्सर्ग करता हू । तथा इसमे जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ । मै सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित और पंचाचार पालन करने वाले आचार्यो की, आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले उपाध्यायों की और रत्नत्रय गुण को पालन करने वाले समस्त साधुओं की सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वन्दना करता हूं और नमस्कार करता हूं मेरे समस्त दु खों का नाश हो, कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभगति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्र देव के गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति आचार्य भक्ति)

(७)

❀ अथ पंचगुरूभक्ति: ❀

श्रीमदमरेन्द्रमुकुट, प्रघटितमणिकिरणवारिधाराभि: ।
प्रक्षालितपदयुगलान्, प्रणमामि जिनेश्वरान्भक्त्या ।। १ ।।

अर्थ :-- जिनके चरण कमल विशेष लक्ष्मी से सुशोभित ऐसे इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की किरण रूपी जलधारा से प्रक्षालित किये गये है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव भगवान अरहंतदेव को मै बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूं ।। १ ।।

अष्टगुणै: समुपेतान्, प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमितीन् ।
सिद्धान्सततमनन्तान्, नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्धयै ।। २ ।।

अर्थ -- जो सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित है और जिन्होंने अत्यन्त दुष्ट दु ख देने वाले ऐसे आठों कर्मरूपी शत्रुओं के समूह को नष्ट कर दिया है ऐसे अनन्त सिद्धों को मै अत्यन्त इष्ट ऐसी मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ ।। २ ।।

साचारश्रुतजलधीन्, प्रतीर्य शुद्धोरूचरणनिरतानाम् ।
आचार्याणांपदयुग, कमलानि दधे शिरसि मेऽहम् ।। ३ ।।

अर्थ -- जो पंचाचार सहित द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी समुद्र के पार हो गये है जो निर्दोष तथा उग्र तपश्चरण के पालन करने मे सदा तत्पर रहते है ऐसे आचार्यों के दोनों चरणकमलों को मै अपने मस्तक पर धारण करता हूँ ।। ३ ।।

मिथ्यावादिमदोग्र, ध्वान्तप्रध्वंसिवचनसंदर्भान् ।
उपदेशकान्प्रपद्ये मम दुरितारिप्रणाशाय ।। ४ ।।

अर्थ -- जिनके वचनों की रचना मिथ्यावादियों के अहंकार रूपी अंधकार का नाश करने वाली है, ऐसे उपाध्यायों की मैं अपने पाप रूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए शरण लेता हूं, अर्थात मै उनकी शरण में जाता हूं ।। ४ ।।

सम्यग्दर्शनदीप, प्रकाशका मेयबोधसभूता: ।

भूरिचरित्रपताकास्ते साधुगणास्तु मा पान्तु ॥ ५ ॥

अर्थ -- जो सम्यग्दर्शन रूपी दीपक से भव्य जीवों के मन के अन्धकार को दूर कर उनके मन को प्रकाशित करने वाले है, जीवादिक समस्त पदार्थों के ज्ञान से सुशोभित है और अतिशय चरित्र की पताका जिन्होंने फहरा रक्खी है, ऐसे साधुगण मेरी रक्षा करो ॥ ५ ॥

जिनसिद्धसूरिदेशक, साधुवरानमलगुण-गणोपेतान् ।

पंचनमस्कारपदैस्त्रिसंध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ॥ ६ ॥

अर्थ -- जो अनेक निर्मल गुणों के समूह से सुशोभित है, ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और उत्तम साधुओं को मैं मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से पच नमस्कार मंत्र पढकर तीनों काल नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥

एष: पंचनमस्कार:, सर्वपापप्रणाशन. ।

मगलाना च सर्वेषा, प्रथम मगलं भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ -- यह पंच नमस्कार मंत्र समस्त पापों का नाश करने वाला है और समस्त मंगलों में प्रथम वा मुख्य मंगल गिना जाता है ॥ ७ ॥

अर्हत्सिद्धाचार्यो, पाध्याया: सर्वसाधव: ।

कुर्वन्तु मगला. सर्वे, निर्वाणपरमश्रियम् ॥ ८ ॥

अर्थ -- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँचों परमेष्ठी सब मंगलरूप है इसलिए ये परमेष्ठी मेरे लिए मोक्षरूपी परम लक्ष्मी को प्रदान करे ।

सर्वान्जिनेद्रचद्रान्, सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।

रत्नत्रय च वदे, रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥ ९ ॥

अर्थ -- मैं रत्नत्रय प्राप्त के करने लिए, बडी भक्ति से समस्त अरहतो को नमस्कार करता हू, समस्त सिद्धों को नमस्कार करता हू, समस्त आचार्यो को नमस्कार करता हू, समस्त उपाध्यायों को नमस्कार करता हू, और समस्त साधुओं को नमस्कार करता हू ॥ ९ ॥

पातु श्रीपादपद्मानि, पचाना परमेष्ठिना ।

लालितानि सुराधीश, चूडामणिमरीचिभि ॥ १० ॥

अर्थ :-- जो इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए चूड़ामणि रत्न की किरणों से अत्यन्त सुशोभित हो रहे है और जो अनेक प्रकार की लक्ष्मी से सुशोभित है ऐसे पांचों परमेष्ठियों के चरण कमल मेरी रक्षा करें ।। १० ।।

प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान्, गुणैः सूरीन् स्वामातृभिः ।
पाठकान् विनयैः साधून्, योगांगैरष्टभिः स्तुवे ।। ११ ।।

अर्थ -- जो भगवान अरहंत देव आठ प्रातिहार्य और चौतीस अतिशय से सुशोभित है, जो सिद्ध सम्यक्त्व आदि आठ गुणो से सुशोभित हैं, जो आचार्य तीन गुप्ति और पांच समिति इन आठ प्रवचन मातृकाओं से सुशोभित है, जो उपाध्याय अनेक शिष्यों से सुशोभित है, और जो साधु प्रणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्यय, आहार, यम, नियम और आसन के योग साधन के इन आठ अंगो से सुशोभित है, उनकी मै स्तुति करता हूं । भावार्थ पांचों परमेष्ठियों की मै स्तुति करता हू ।। ११ ।।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये ।। (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भते ! पचमहागुरूभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउ, १ अट्ठमहापाडिहेरसजुत्ताणं अरहताण, अट्ठगुणसपण्णाण, २ उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाण सिद्धाणं, ३ अट्ठपवयणमउसजुत्ताण आयरियाणं, ४ आयारादिसुद णाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं ५ तिरयणगुणपालणरयाण सव्वसाहूण सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमण समाहिमरण जिणगुणसपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ -- हे भगवन् ! मै पंचगुरूभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हू । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं (१) भगवान अरहत देव आठ महाप्रतिहार्य गुणों से सुशोभित है, भगवान सिद्ध परमेष्ठी सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से विभूषित है और ऊर्ध्वलोक के शिखर पर विराजमान है (३) भगवान आचार्य परमेष्ठी अष्ट प्रवचन मातृकाओं से सुशोभित है (४) भगवान

उपाध्याय परमेष्ठी आचारग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले है और (५) सर्व साधु परमेष्ठी रत्नत्रय गुणों का पालन करने वाले है। इन पाचों परमेष्ठियों की मैं सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं और नमस्कार करता हूं। मेरे दु·खों का नाश हो और कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो।

(इति पचगुरूभक्ति·)

"श्री चंद्र प्रभु जिनेन्द्राय नम:"

(८)

❀ चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिः ❀

गद्य--अथ देवसिय(राइय)पडिक्कमणाए

सव्वाइच्चारविसोहिणिमित्तं।

पुव्वाइरिय कमेण चउवीसतित्थयरभत्ति काउस्सग्गंकरेमि ।

अर्थ -- दैवसिक प्रतिक्रमण में लगे हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार मैं तीर्थंकर भक्ति और तत्संबन्धी कायोत्सर्ग करता हू ।

गाथा--णमो अरहंताणं, णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं । १ ।

अर्थ -- मै अरहंतो के लिए नमस्कार करता हूं, सिद्धों के लिए नमस्कार करता हूं, आचार्यों के लिए नमस्कार करता हूं, उपाध्यायों के लिए नमस्कार करता हूं, और समस्त साधुओं के लिए नमस्कार करता हूं ।। १ ।।

चउवीसं तित्थयरे, उसहाइवीरपच्छिमे वन्दे ।

सव्वे सगणगणहरे, सिद्धेसिरसा णमंसामि । २ ।

अर्थ -- मैं श्री वृषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान पर्यन्त समस्त चौबीस तीर्थंकरों को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हू तथा मुनि, गणधर और सिद्धों को भी नमस्कार करता हूं ।। १ ।।

ये लोकेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवांतर्गता,

ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश्, चंद्रार्कतेजोऽधिका. ।

ये साध्विन्द्रसुराप्सरोगण शतैर्गीतप्रणुत्यार्चिताः,

तान्देवान्वृषभादिवीरचरमान्, भक्त्या नमस्याम्यहम् । ३ ।

अर्थ -- जो तीर्थंकर परमदेव एक हजार आठ लक्षण धारण करते है, जो जीवादिक पदार्थ रूपी महासागर के पारंगत है अर्थात् समस्त पदार्थों को एक साथ जानते है, जो जन्ममरण रूप संसार को

बढ़ाने वाले मिथ्यात्व आदि कारण है, उनको जिन्होंने सर्वथा नष्ट कर दिया है, जिनका प्रकाश सूर्य चन्द्रमा से भी अधिक है, शरीर का प्रकाश करोड़ो सूर्य से भी अधिक है और ज्ञान का प्रकाश लोक आलोक से भी अधिक है। सैकड़ो इन्द्र और असंख्यात देव अप्सराओं के समूह जिनकी कीर्ति को गाकर, जिनके लिए नमस्कार कर पूजा करते है ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थकर परम देवों को मै बडी भक्ति से नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

नाभेय देवपूज्य, जिनवरमजित, सर्वलोकप्रदीप,
सर्वज्ञं सभवाख्य, मुनिगणवृषभ नदनं देवदेवम् ।
कर्मारिघ्न सुबुद्धि, वरकमलनिभं पद्मपुष्पाभिगधं,
क्षान्त दात सुपार्श्वं, सकलशशिनिभ चंद्रानामानमीडे ॥ ४ ॥

अर्थ -- देवों के द्वारा पूज्य ऐसे श्री वृषभदेव की मै स्तुति करता हूँ। १ समस्त लोक को व लोकाकाश में भरे हुए पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान भगवान अजितनाथ की स्तुति करता हूँ। २ मुनिगणों में श्रेष्ठ और सर्वज्ञ ऐसे श्री संभवनाथ की स्तुति करता हूँ। ३ देवाधिदेव श्री अभिनन्दनाथ की मै स्तुति करता हूँ। ४ कर्मरूपी शत्रु का नाश करने वाले भगवान् सुमतिनाथ की स्तुति करता हूँ। ५ श्रेष्ठ कमल समान कांति को धारण करने वाले भगवान पद्मप्रभु की स्तुति करता हूँ। ६ उत्तम क्षमा को धारण करने वाले और इन्द्रियों को सर्वथा वश में करने वाले भगवान् सुपार्श्वनाथ की मै स्तुति करता हूं। ७ पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यन्त सुशोभित भगवान् चन्द्रप्रभु की मै स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥

विख्यात पुष्पदन्त, भवभयमथन, शीतलं लोकनाथ,
श्रेयास शीलकोश, प्रवरनरगुरू, वासुपूज्यंसुपूज्यम् ।
मुक्त दान्तेन्द्रियाश्व, विमलमृषिपतिं सिहसैन्यं मुनीन्द्र,
धर्म सद्धर्मकेतु, शमदमनिलय स्तौमि शान्तिंशरण्यम् ॥५॥

अथ -- समार क भय को नाश करने वाले और अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे भगवान् पुष्पदन्त की स्तुति करता हू। ९ तीनो लोकों के स्वामी

भगवान् शीतलनाथ की स्तुति करता हूं । १० शील व्रत के निधि भगवान् श्रेयाँसनाथ की मै स्तुति करता हूं । ११ गणधरादिक देवों के गुरू और अत्यन्त पूज्य ऐसे श्री वासु पूज्य की मै स्तुति करता हूँ कर्मों से सर्वथा मुक्त होने वाले और इन्द्रिय रूपी घोड़े को सर्वथा वश में करने वाले भगवान विमलनाथ की मै स्तुति करता हूँ । १२ समस्त ऋषियो के स्वामी मुनिराज श्री अनन्तनाथ की मैं स्तुति करता हूँ । १३ सद्धर्म की ध्वजा को धारण करने वाले भगवान धर्मनाथ की मै स्तुति करता हूँ । १४ अत्यन्त शांतता को धारण करने वाले, इन्द्रियों को सर्वथा वश करने वाले और समस्त जीवों के शरण भूत ऐसे भगवान शांतिनाथ की मै स्तुति करता हूँ ॥ ५ ॥

कुथु सिद्धालयस्थं श्रमणपतिमरं, त्यक्तभोगेषुचक्रं,
मल्लि विख्यातगोत्रं, खचरगणनुत, सुव्रत सौख्यराशिम् ।
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरिकुलतिलक नेमिचन्द्रं भवान्तं,
पार्श्व नागेन्द्रवन्द्य, शरणमहमितो, वर्द्धमान च भक्त्या ॥६॥

अर्थ -- सिद्धालय में जाकर विराजमान होने वाले समस्त मुनियों के स्वामी ऐसे भगवान कुंथुनाथ की शरण जाता हूँ । १७ भोगोपभोग के समस्त पदार्थों का त्याग करने वाले भगवान अरहनाथ की मै शरण जाता हूं । १८ प्रसिद्ध काश्यप नाम के गोत्र में उत्पन्न होने वाले भगवान मल्लिनाथ की मै शरण जाता हूँ । १९ समस्त देव और विद्याधर जिनके लिये नमस्कार करते है और जो अनन्त सुख की राशी है ऐसे भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की मै शरण जाता हूँ । २० देवों के समस्त इन्द्र जिनको नमस्कार करते है ऐसे भगवान नमिनाथ की मै शरण जाता हूँ । २१ जो हरि वश के तिलक है और ससार को नाश करने वाले है । ऐसे भगवान नेमिनाथ की मै शरण जाता हूँ । २३ नागेन्द्र से पूजित भगवान पार्श्वप्रभु स्वामी की मै भक्ति पूर्वक शरण जाता हूँ । और इसी प्रकार भक्ति से भगवान् वर्द्धमान स्वामी की मै शरण में जाता हूं । इस प्रकार मै चौबीसों तीर्थकरों की स्तुति करता हू और चौबीसो तीर्थकरो को नमन करता हूँ और शरण में जाता हूँ ॥ ६ ॥

इसके बाद कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भंते ! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं । १ पचमहाकल्लाणसंपण्णाणं
२ अट्ठमहापाडिहेरसहियाण ३.चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं
४ बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहिदाणं
५ बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणि जइअणगारोवगूढाणं
६. थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीर पच्छिम-मंगलमहापुरिसाणं, णिच्चकालं, अंचेमि पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं, ।

अर्थ -- हे भगवान मैं चौबीसों तीर्थकरों की भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ ।

१ जो तीर्थंकर गर्भ, जन्म आदि पाँचों महा कल्याणकों से सुशोभित है, १ जो आठ महाप्रतिहार्यों सहित विराजमान है, ३ जो चौतीस विशेष अतिशयों से सुशोभित है, ४ जो देवों के बत्तीस इन्द्रों के मणिमय मुकुट लगे हुए मस्तकों से पूज्य है, जिनको समस्त इन्द्र आकर नमस्कार करते है, ४ बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार आदि सब जिनकी सभा में जाकर धर्मोपदेश सुनते है । और ६ जिनके लिये लाखों स्तुतियाँ की जाती है ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यंत चौबीसों महा पुरूष तीर्थंकर परम देव की मैं सदा अर्चा करता हूँ । पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ । और उनके लिये सदा नमस्कार करता हूँ । मेरे दु:खों का नाश हो और कर्मों का नाश हो । मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान जिनेन्द्र देव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति तीर्थकर भक्ति)

(९)

✿ शान्ति-भक्तिः ✿

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः,
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः, संसारघोरार्णवः ।
अत्यंतस्फुरदुग्ररश्मिनिकर, व्याकीर्णभूमंडलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिल, च्छायानुरागं रविः ॥ १ ॥

अर्थ .-- हे भगवन् जो ये संसारी जीव आपके दोनों चरण कमलों की शरण आये है सो कुछ आपके स्नेह से नहीं आये है किन्तु आपके चरण कमलों की शरण में आने का कारण अनेक प्रकार के दुःखों से भरा हुआ यह संसार रूपी महासागर ही है । इस दुःख स्वरूप संसार से त्रस्त होकर ही आपके चरण कमलों की शरण में आये है, क्योंकि आपके चरण कमल उस संसार के दुःख को समूल नाश कर देते है । गर्मी के दिनों में चन्द्रमा की किरणों से, पानी से और छाया से अनुराग होता है । उसका कारण जिसकी अत्यन्त, देदीप्यमान तेज किरणों का समूह समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है ऐसा ग्रीष्म ऋतु का सूर्य ही समझना चाहिये । भावार्थ -- जिस प्रकार गर्मी के दिनों में सूर्य से संतप्त हो कर यह जीव छाया और जल से अनुराग करता है क्योंकि छाया और जल उस संताप को दूर करने वाले है इसी प्रकार आपके चरण कमल भी संसार के दुःखों को दूर करने वाले है । इसीलिये संसार के दुःखों से अत्यन्त दु.खी हुए प्राणी उन दुःखों को दूर करने के लिये आपके चरण कमलों की शरण लेते है ॥ १ ॥

आगे -- हे भगवन् ! आपके चरण कमलों को नमस्कार करने से इस लोक सम्बन्धी फल भी मिलता है यही दिखलाते है ।

क्रुद्धाशीर्विषदष्टदुर्जयविष, ज्वालावलीविक्रमो,
विद्याभेषजमंत्रतोयहवनै, र्याति प्रशांतिं यथा ।
तद्वत्ते चरणारूणांबुजयुग, स्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्,

विघ्ना: कायविनायकाश्च सहसा, शाम्यन्त्यहो विस्मय: ॥ २ ॥

अर्थ -- क्रोधित हुए सर्प के काट लेने से जो असह्य विष समस्त शरीर में फैल जाता है वह गारूड़ी मुद्रा के दिखाने वा उसके पाठ करने से, विष को नाश करने वाली औषधियों को देने से, मंत्र से, जल से और होम करने आदि से बहुत शीघ्र शांत हो जाती है उसी प्रकार हे भगवन् जो मनुष्य आपके दोनों चरण रूपी अरूणकमलों का स्तोत्र करते है दोनों चरण कमलों की स्तुति करते है, उनके समस्त विघ्न नष्ट हो जाते है और शरीर के समस्त रोग शीघ्र नष्ट हो जाते है । हे भगवन् यह भी एक महा आश्चर्य की बात है । भावार्थ -- विघ्न को दूर करने के लिये बहुत सा परिश्रम करना पड़ता है परन्तु रोग और विघ्न आदि केवल आपकी स्तुति करने मात्र से दूर हो जाते है । यही सब से अधिक आश्चर्य की बात है ॥ २ ॥

आगे -- हे भगवन् ! आपको प्रणाम करने से क्या होता है सो दिखलाते है :--

संतप्तोत्तम काचन क्षितिधर, श्रीस्पर्द्धि गौरद्युते,
पुसा त्वच्चरणप्रणामकरणात् पीडा: प्रयान्ति क्षयं ।
उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशत, व्याघातनिष्कासिता,
नाना देहि विलोचन द्युतिहरा शीघ्रयथा शर्वरी ॥ ३ ॥

अर्थ .-- अंधकारमय रात्रि अनेक प्रकार के प्राणियों के नेत्रों के प्रकाश को रोकने वाली है परन्तु वही रात्रि उदय होते हुए सूर्य की देदीप्यमान सैकड़ों किरणों के आघात से मानों निकाल दी गई है इस प्रकार नष्ट हो जाती है । उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके शरीर की कान्ति तपाये हुए उत्तम सोने के समान मेरू पर्वत की शोभा की स्पर्द्धा करने वाली है अथवा तपाये हुये उत्तम सोने के समान आपके शरीर की कांति अत्यन्त देदीप्यमान एवं अनुपम शोभा को धारण करने वाली है । हे भगवन् आपके चरण कमलों को नमस्कार करने से मनुष्यों की पीड़ायें क्षणभर में नष्ट हो जाती है । इसमें कोई संदेह नही है ॥ ३ ॥

आगे -- स्तुति ही प्राणियों को अजर अमर पद अर्थात् मोक्ष पद का कारण है ऐसा कहते है :--

त्रैलोक्येश्वर भंग लब्ध विजया, दत्यंतरौद्रात्मकान्,
नाना जन्मशतांतरेषुपुरतो, जीवस्य संसारिण: ।
को वा प्रस्खलतीह केन विधिना, कालोग्रदावानलान्,
न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगल, स्तुत्यापगावारणम् ।। ४ ।।

अर्थ :-- हे भगवन् ! इस संसार में यह काल वा यम एक प्रचंड दावानल है, इसने अनेक प्रकार के सैकड़ो जन्मों में तीनों लोकों के स्वामी धरणेन्द्र देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि का नाश कर सर्वत्र विजय प्राप्त की है । इसीलिए यह कालरूपी दावानल अत्यंत रौद्र रूप व भयानक है । हे प्रभो ! इन संसारी जीवों के सामने यदि आपके दोनों चरण कमलों की स्तुति रूपी नदी इस दावानल अग्नि को रोकने वाली न होती तो भला कौन मनुष्य किस प्रकार इससे बच सकता था अर्थात् कभी नहीं । अभिप्राय यह है कि इस संसार में जीवों को जन्ममरण करना ही पड़ता है । एक आपके चरण कमलों की स्तुति ही ऐसी है जो इन जीवों को जन्म मरण से बचा सकती है और अजर अमर पद अर्थात् मोक्षपद दे सकती है ।। ४ ।।

आगे -- आपके चरण कमलों की स्तुति करने से शरीर को नष्ट करने वाले असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते है ऐसा दिखलाते है --

लोकालोकनिरतरप्रवितत, ज्ञानैकमूर्त्ते विभो,
नानारत्नपिनद्धदंडरुचिर, श्वेतातपत्रत्रय ।
त्वत्पादद्वयपूतगीतरवत:, शीघ्रं द्रवन्त्यामया,
दर्पाध्मातमृगेंद्रभीमनिनदाद्, वन्या यथा कुजरा: ।। ५ ।।

अर्थ -- हे प्रभो ! आप लोक अलोक में घनी भूत फैले हुए समस्त लोक अलोक में व्याप्त हुए केवल ज्ञान की एक अद्वितीय मूर्ति है और अनेक प्रकार के रत्नों से जड़े हुए दंड से सुशोभित, ऐसे तीन श्वेत छत्र आपके मस्तक पर फिर रहे हैं । हे भगवन् ! ऐसे आपके दोनों चरण कमलों की स्तुति में गाये हुए पवित्र गीतों के शब्दों से अर्थात् आपके चरण कमलों की स्तुति करने मात्र से बड़े-बड़े रोग इस प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाते है जैसे गर्व से उद्धत हुए सिंह की गर्जना के भयंकर शब्दों को सुनकर जंगल के बड़े-बड़े हाथी भाग जाते है ।

भावार्थ -- जिस प्रकार सिंह की गर्जना को सुनते ही हाथी भाग जाते है उसी प्रकार भगवन् शांति नाथ की स्तुति करने मात्र से समस्त रोग नष्ट हो जाते है ।। ५ ।।

आगे -- आपके चरण कमलों की स्तुति से मोक्ष के अनंत सुख भी प्राप्त होते है ऐसा आचार्य कहते है --

दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुल, श्रीमेरूचूडामणे,
भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर, प्राणीष्टभामंडल ।
अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुल, त्यक्तोपमं शाश्वतं,
सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगल, स्तुत्यैव संप्राप्यते ।। ६ ।।

अर्थ -- हे स्वामिन् ! देवाँगनाओं के नेत्रों के लिए भी आप अत्यन्त सुन्दर है । महाविभूति को धारण करने वाले मेरू पर्वत की चूडामणि के समान है । देदीप्यमान उदय होते हुए सूर्य की कांति को भी हरण करने वाले है और आपका प्रभामंडल समस्त प्राणियो को इष्ट वा प्रिय है । हे प्रभो ! ऐसे आपके दोनो चरण कमलों की स्तुति करने से ही इस जीव को जो सब प्रकार की बाधाओं से रहित है, जिसका महात्म्य अचिंत्य है, संसार में जिसकी कोई उपमा नहीं है, कोई समानता नहीं है और जो शाश्वत् रहने वाला है ऐसा मोक्ष सुख प्राप्त है ।। ६ ।।

आगे आचार्य कहते है कि ऐसा अनुपम मोक्ष सुख समस्त पापों के नाश होने से होता है और उन समस्त पापों का नाश भगवान के चरण कमल के प्रसाद से होता है --

यावन्नोदयते प्रभापरिकर:, श्रीभास्करो भासयस्,
तावद्धारयतीह पकजवनं, निद्रातिभारश्रमम् ।
यावत्त्वच्चरणाद्वयस्य भगवन्, न स्यात्प्रसादोदय,
स्तावज्जीवनिकाय एष वहति, प्रायेण पाप महत् ।। ७ ।।

अर्थ -- हे भगवन् ! अपनी किरणों के समूह से परिपूर्ण और अपना तथा अन्य पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ सूर्य, जब तक उदय नहीं होता तब तक ही, कमलों का वन नींद के बोझ के परिश्रम को धारण करता है अर्थात मुद्रित रहता है सूर्य के उदय होते ही वह प्रफुल्लित हो जाता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! जब

तक आपके दोनों चरण कमलों की प्रसन्नता का उदय नहीं होता है तभी तक यह जीवों का समूह प्राय: महापापों को धारण करता रहता है । आपके चरण कमलों की प्रसन्नता होते ही वे समस्त पाप स्वयं नष्ट हो जाते है ।। ७ ।।

शान्तिं शान्तिजिनेन्द्र ! शांतमनसस्, त्वत्पादपद्माश्रयात्,
संप्राप्ता: पृथिवीतलेषु बहव:, शान्त्यर्थिन: प्राणिन:
कारूण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो, दृष्टिं प्रसन्नांकुरू,
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदत:, शांत्यष्टकं भाक्तित: ।। ८ ।।

अर्थ :-- हे शान्तिजिनेन्द्र ! इस संसार में जो जीव शान्ति की इच्छा करते है अर्थात् परम कल्याणरूप शान्ति चाहते है अथवा संसार को नाश करने रूप शान्ति चाहते है, अथवा जिनके मन से राग द्वेष सब निकल गया है, ऐसे अनेक जीव इस समस्त पृथ्वी मण्डल पर केवल आपके चरण कमलों का आश्रय लेने से ही मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त कर चुके है । हे प्रभो ! मै भी आपकी भक्ति करने वाला एक भक्त हूँ आपके दोनों चरण कमलों को ही मै परम देवता मानता हू और बड़ी भक्ति से इस शांत्यष्टक का पाठ कर रहा हूं । इस शांत्यष्टक के द्वारा आपकी स्तुति कर रहा हूं । हे स्वामिन् ! कृपाकर मुझपर भी अपनी दृष्टि प्रसन्न कीजिए, मुझ पर अनुग्रह कीजिये अर्थात् मुझे भी मोक्ष रूप परम शांति दीजिये अथवा हे प्रभो ! मेरी दृष्टि को वा सम्यग्दर्शन को अत्यन्त निर्मल बना दीजिये जिस से मुझे वह परम शांति स्वयं प्राप्त हो जाये ।। ८ ।।

शांतिजिनंशशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रं ।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तम मंबुजनेत्रम् ।। ९ ।।

अर्थ -- जिनका मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान अत्यन्त निर्मल है, जो शील, गुण, संयम और व्रतों के अद्वितीय पात्र है जिनका शरीर एकसौ आठ शुभ लक्षणों से सुशोभित है, जिनके नेत्र कमल के समान सुशोभित है और जो गणधरादिक देवों से भी परमोत्कृष्ट है ऐसे भगवान् शांतिनाथ को मै नमस्कार करता हूं ।। ९ ।।

आगे भगवान शांतिनाथ के गृहस्थ अवस्था मे क्या-क्या गुण थे सो ही दिखलाते है ।

पंचम मीप्सित चक्रधराणां, पूजित मिन्द्र-नरेन्द्र-गणैश्च ।
शांतिकरं गण शांति मभीप्सुः, षोडशतीर्थंकरं प्रणमामि ।

अर्थ -- जो भगवान शान्तिनाथ गृहस्थावस्था में बारह चक्रवर्तियों में पाँचवें चक्रवर्ती थे, और जो मुनि अवस्था में सोलहवें तीर्थंकर थे, इन्द्र और चक्रवर्तियों के समूह भी जिनकी पूजा करते थे जो शाँतिनाथ चारों प्रकार के संघ की शान्ति चाहते थे, अर्थात् सबके संसार का नाश अथवा राग द्वेष का नाश चाहते थे, और सबको शान्ति प्रदान करने वाले थे, ऐसे भगवान् शान्तिनाथ को मै नमस्कार हूं ।। १० ।।

आगे उनके आठ महाप्रतिहार्यों की शोभा दिखलाते है :--

दिव्यतरूः सुरपुष्पसुवृष्टि, र्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ
आतपवारणचामरयुग्मे, यस्य विभाति च मंडलतेजः ।।११।।
तं जगदर्चितशान्तिजिनेन्द्रं शांतिकर शिरसा प्रणमामि ।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं, मह्यमरं पठते परमां च ।।१२।।

अर्थ .-- भगवान् शान्तिनाथ के समीप अशोक वृक्ष शोभायमान है, देवों के द्वारा पुष्पवृष्टि शोभायमान है, दुंदुभि बाजे शोभायमान है, सिंहासन शोभायमान है, एक योजन तक पहुंचने वाली ध्वनि, दिव्यध्वनि शोभायमान है, तीन छत्र शोभायमान है, चौसठ चमर शोभायमान है (भगवान के दोनों ओर चामरेन्द्र चौसठ चमर ढोरते रहते है, यहाँ पर इन्द्रों की दो जातियों की अपेक्षा से ही दो चमर बतलाये है वास्तव मे चौसठ चमर होते है) और प्रभामण्डल का प्रकाश शोभायमान है । इसके सिवाय वे भगवान शांतिनाथ तीनों लोकों के द्वारा पूज्य है और मोक्ष रूप परम शान्ति को देने वाले है । ऐसे उन शान्तिनाथ भगवान को मै मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूं । वे भगवान् शान्तिनाथ समस्त संघ के लिए परम शान्ति प्रदान करें तथा इस पाठ को पढ़ने वाले भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति करने वाले मुझको भी, बहुत शीघ्र परम शान्ति प्रदान करें ।। ११-१२ ।।

आगे चौबीसो तीर्थंकरो से शांति की प्रार्थना करते हुए स्तुति करने वाले कहते है --

येऽभ्यर्चिता मुकुट-कुंडल-हाररत्नैः,
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः ।
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपाः,
तीर्थंकराः सततशांतिकरा भवंतु ॥ १३ ॥

अर्थ -- जो भगवान् इन्द्रादिक देवों के द्वारा जन्माभिषेक के समय मुकुट, कुण्डल और हीरों के रत्नों से पूजित हुए है अर्थात् मुकुट, कुन्डल, हार आदि पहनाकर जिनकी पूजा की गई है तथा अनेक प्रकार से जिनके चरण कमलों की स्तुति की गई है तथा जो उत्तम वंश में उत्पन्न हुए है, संसार में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है, जो तीर्थंकर अर्थात् आगम के स्वामी वा प्रवर्त्तक है और सदा शान्ति प्रदान करने वाले है ऐसे भगवान् चौबीसों तीर्थंकर मेरे लिये सदा शान्ति प्रदान करने वाले हों ॥ १३ ॥

सपूजकाना प्रतिपालकानां, यतींद्रसामान्यतपोधनानां ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिंभगवान्
जिनेंद्रः॥ १४ ॥

अर्थ -- वे केवलज्ञानी पूज्य भगवान् जिनेन्द्रदेव पूजा करने वालों के लिए, चैत्य, चैत्यालय और धर्म की रक्षा करने वालों के लिये, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के लिये, शैक्ष्य आदिसामान्य तपस्वियों के लिये, देश के लिये राष्ट्र के लिये, नगर के लिये और राजा के लिये शान्ति प्रदान करें ॥ १४ ॥

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान्, धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्, वितिरतु मघवा, व्याधयो
यान्तुनाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारिः, क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीव-लोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥ १५ ॥

अर्थ :-- इस संसार में समस्त प्रजा का कल्याण हो, बलवान राजा धार्मिक हो, समय-२ पर इन्द्र (बरसने वाले बादल) अच्छी वर्षा करें, रोग सब नष्ट हो जावें दुष्काल, चोर और मारी अर्थात् प्लेग आदि

मारक रोग वा शस्त्रादिक से होने वाला अपघात इन संसारी जीवों को कभी न हो, तथा जो समस्त जीवों को सुख देने वाला है ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह, बिना किसी रूकावट के सदा प्रवृत्त होता रहे ॥ १५ ॥

तद् द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभ:स-देश:, संतन्यतां प्रतपतां सततं स काल: ।
भाव: स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण, रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षुवर्गे ॥ १६ ॥

अर्थ -- जिसके अनुग्रह से मोक्ष के इच्छुक प्राणियों को ऐसी द्रव्य सामग्री शुभ रूप निरंतर उत्पन्न हो । वह देश विस्तार को प्राप्त हो वह काल निरंतर रहो और वे परिणाम निरंतर वृद्धि को प्राप्त हो ॥ १६ ॥

प्रध्वस्तघाति कर्माण: केवलज्ञानभास्करा: ।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं, वृषभाद्या: जिनेश्वरा: ॥ १७ ॥

अर्थ -- जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये है जो केवल ज्ञान रूपी सूर्य प्रकाशित होवे है। वे वृषभादिक २४ तीर्थंकर संसार को शान्ति करें ॥ १७ ॥

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिए । (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भंते ! सन्तिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ । १ पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं २. अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं ३ चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं ४ बत्तीसदेवेंदमणिमउडमत्थयमहियाणं ५. बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणि जदिअणगारोवगूढाणं ६. थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइवीर पच्छिम-मंगलमहापुरिसाणं, णिच्चकालं, अंचेमि पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं, ।

अर्थ -- हे भगवान् मैं शान्ति भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करने की इच्छा करता हू (१) जो

गर्भ, जन्म आदि पांचों महा कल्याणकों से सुशोभित है, (२) जो आठ महा प्रतिहार्यों सहित विराजमान है, (३) जो चौतीस विशेष अतिशयों से सुशोभित है, (४) जो बत्तीस देवेन्द्रों के रत्नमय मुकुटों से सुशोभित मस्तकों से नमस्कार किये जाते है , (५) बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती ऋषि, मुनि, यति, अनगार जिनकी सदा सेवा करते रहते है (६) और जो लाखों स्तुतियों के पात्र है, ऐसे श्री वृषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यंत चौबीसों महापुरूषों की (तीर्थंकर परम देव की) मैं सदा अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूं और उनके लिये सदा नमस्कार करता हूँ । मेरे दुखों का नाश हो, और कर्मों का नाश हो । मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, समाधि मरण की प्राप्ति हो भगवान् जिनेन्द्र देव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति शान्ति भक्ति)

(१०)

❀ समाधि भक्ति ❀

स्वात्माभिमुखसंवित्ति, लक्षण श्रुतचक्षुषा ।
पश्यन्पश्यामि देव त्वा, केवलज्ञानचक्षुषा ॥ १ ॥

अर्थ :-- हे भगवन्, अपने आत्मा के स्वरूप में तल्लीन होने वाला ज्ञान ही आपका लक्षण है, अर्थात् आपका स्वरूप केवलज्ञानमय है, ऐसे आपको श्रुतज्ञान रूपी नेत्र से देखता हुआ मै केवलज्ञान रूपी नेत्र से देख रहा हूं ॥ १ ॥

भावार्थ -- जो भव्य जीव श्रुत ज्ञान से आगम के अनुसार आपकी आराधना करता है उसको केवल ज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है । जो श्रुतज्ञान से आपको देखता है वह केवल ज्ञान से भी अवश्य देखता है ।

शास्त्राभ्यासो, जिनपतिनुति:, संगति· सर्वदार्यै:,
सद्वृत्ताना, गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि, प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्त्वे,
सपद्यंता, मम भवभवे, यावदेतेऽपवर्ग: ॥ १ ॥

अर्थ -- जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो तब तक मेरे भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए शास्त्रों का अभ्यास सदा बना रहे, तब तक मै भगवान जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता रहूं, तब तक मै सदा व्रती पुरूषों की सगति मे रहू, तब तक मै श्रेष्ठ व्रतो के गुणो की कथा मे ही सदा लीन रहूं, किसी के भी दोष कहते समय मेरे मौनव्रत हो सर्व के साथ बोलते हुए मेरे मुख से प्रिय और हित करने वाले वचन निकलें और मेरी भावना सदा आत्मतत्व मे बनी रहे, हे प्रभो तब तक भव भव मे, ये सब बातें, मुझे प्राप्त रहे ॥ १ ॥

जैनमार्गरूचि, रन्यमार्गनिर्वेगता, जिनगुणस्तुतौमति: ।
निष्कलंक, विमलोक्ति, भावना, सभवन्तु मम जन्म जन्मनि ॥३॥

अर्थ -- जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त हो तब तक मेरा श्रद्धान भगवान्

जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मोक्ष मार्ग में ही बना रहे, अन्य मिथ्या मार्ग से मुझे वैराग्य उत्पन्न हो, मेरी बुद्धि तब तक भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की स्तुति करने में लगी रहे, और मेरी भावना कर्ममल कलंक रहित और अठारह दोषों से रहित ऐसे भगवान् अरहंत देव के वचनों में ही बनी रहे। हे प्रभो ! ये सब बातें मुझे जन्म जन्म में प्राप्त होती रहे ॥ ३ ॥

गुरुमूले यतिनिचिते; चैत्य सिद्धान्त, वार्धि सद्घोषे ।
मम भवतु जन्मजन्मनि, सन्यसन, समन्वितं मरणम् ॥ ४ ॥

अर्थ -- हे देव, जहाँ पर अनेक मुनियों का समुदाय विराजमान है ऐसे आचार्य के समीप, जिन प्रतिमा के समीप अथवा जहाँ पर सिद्धांत रूपी समुद्र के गम्भीर शब्द हो रहे है ऐसे स्थानों में मेरे जन्म-जन्म में सन्यास सहित मरण हो ॥ ४॥

जन्मजन्मकृतं पापं, जन्मकोटिसमार्जितम् ।
जन्ममृत्युजरामूल, हन्यते जिनवंदनात् ॥ ५ ॥

अर्थ -- भगवान् जिनेन्द्रदेव की वन्दना करने से जन्म-जन्म के किए पाप नष्ट हो जाते है तथा जो जन्म मरण और बुढ़ापा आदि दु खों के मूल कारण है ऐसे करोड़ों जन्मों में इकट्ठे किये पाप भगवान की वंदना करने से नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्री पादयोः सेवया,
सेवासक्त, विनेय कल्पलतया, कालोऽघ, यावद्गतः ।
त्वां तस्याः, फलमर्थये तदधुनाप्राण, प्रयाणक्षणे ।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने, कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥ ६ ॥

अर्थ -- हे देवाधिदेव ! आपके चरण कमलों की सेवा करना, सेवा करने वाले भक्त पुरूषों के लिए इच्छानुसार फल देने वाली कल्पलता के समान है। हे भगवन् ! मैने बालकपन से लेकर आज तक आपके चरण कमलों की सेवा की है। हे देव आज इस समाधि मरण के समय, आपसे, उस सेवा पूजा का फल मांगता हूं। हे स्वामिन् ! जब तक मेरे प्राण इस शरीर से निकलें तब तक आपके नाम के अक्षर पढने में, मेरा कंठ रूके नहीं, बस इतनी ही प्रार्थना आपसे करता हूं। भावार्थ - समाधि-मरण के समय, मैं बराबर पंच नमस्कार मंत्र का जप, करता रहूं और आयु के अंत

तक आपका नाम जपता रहूं बस यही जन्म भर की सेवा फल मुझे दे दीजिये ॥ ६ ॥

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।

तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्, यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः ॥ ७ ॥

अर्थ -- हे भगवान मुझे जब तक मोक्ष की प्राप्ति हो, तब तक आपके दोनों चरणकमल मेरे हृदय में विराजमान रहें, और मेरा हृदय आपके चरण कमलों में तल्लीन बना रहे क्योंकि-- ॥ ७ ॥

एकापि समर्थेय, जिनभक्ति, दुर्गतिं निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं, दातु मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ ८ ॥

अर्थ -- यह भगवान जिनेन्द्रदेव की एक भक्ति ही समस्त नरकादिक दुर्गतियों से बचाने के लिये समर्थ है तथा समस्त पुण्यों को पूर्ण करने के लिये समर्थ है । यह भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति भव्य जीवों को मोक्ष लक्ष्मी देने के लिये भी पूर्ण समर्थ है ॥ ८ ॥

पच अरिजयणामे, पच, य मदि-सायरे जिणे वंदे ।

पच जसोयरणामे, पचयसीमदरे वदे ॥ ९ ॥

रयणत्तयं च वदे, चव्वीसजिणे च सव्वदा वंदे ।

पचगुरूणा वंदे, चारणचरण सदा वंदे ॥ १० ॥

अर्थ -- मै रत्नत्रय को नमस्कार करता हूं चौबीस तर्थीकरो को सदा नमस्कार करता हू पंच परमेष्ठियों की वंदना करता हूं और चारण मुनियों के चरण कमलों को सदा नमस्कार करता हूं ॥ ९-१० ॥

अर्हमित्यक्षरब्रह्म, वाचक परमेष्ठिनः ।

सिद्धचक्रस्य सद्बीज, सर्वतः प्रणिदध्महे ॥ ११ ॥

कर्माष्टकविनिर्मुक्त, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम् ।

सम्यक्त्वादिगुणोपेत, सिद्धचक्र नमाम्यहम् ॥ १२ ॥

अर्थ -- 'अर्हम' यह अक्षर परम ब्रह्म का वाचक है पंच परमेष्ठी का वाचक है, और सिद्धचक्र का सर्वोत्तम बीज मन्त्र है । इसलिए मै इस 'अर्हम' अक्षर को अपने हृदय में सब और से धारण करता हूं । भगवान सिद्ध परमेष्ठी आठों कर्मों से सदा रहित है, मोक्ष लक्ष्मी के स्थान है, और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सुशोभित

हैं ऐसे सिद्धचक्र को समस्त सिद्धों के समूह को मै नमस्कार करता हूं ।। ११-१२ ।।

आकृष्टिं, सुरसंपदां विदधते, मुक्तिश्रियो वश्यताम्,
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां, विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तंभं, दुर्गमनं प्रति प्रयततो, मोहस्य सम्मोहनम्,
पायात्, पंचनमस्क्रियाक्षरमयी, साराधना देवता ।। १३ ।।

अर्थ :-- पंच नमस्कार मंत्र के अक्षरों से बना हुआ नमस्कार मंत्र आराधना करने योग्य देवता है इस देवता के आराधन करने से अर्थात् पच नमस्कार मंत्र का जाप करने से स्वर्ग की सम्पदा का आकर्षण होता है, मोक्ष रूपी लक्ष्मी वश हो जाती है, चारों गतियों में होने वाली विपत्तियों का उच्चाटन हो जाता है आत्मा के द्वारा होने वाले पापों से विद्वेष हो जाता है । नरकादिक दुर्गतियों का स्तंभन होता है और इस देवता का आराधन करने वाले पुरूष का मोह स्वयं मूर्छित हो जाता है । ऐसा यह पंच नमस्कार मंत्र मेरी रक्षा करो ।। १३ ।।

अनंतानन्तसंसार, संततिच्छेदकारणम् ।
जिनराजपदाम्भोज, स्मरणं शरणं मम ।। १४ ।।

अर्थ -- भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों का स्मरण करना अनन्तानन्त संसार परंपरा के नाश करने का कारण है इसलिये मै भगवान् के उन चरण कमलों की शरण लेता हूं ।। १४ ।।

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारूण्यभावेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।। १५ ।।

अर्थ .-- हे प्रभो ! इस संसार में आपके सिवाय और कोई मेरी रक्षा करने वाला नही है, यही समझकर मैने आपकी शरण ली है । मै केवल आपकी ही शरण मानता हूं । अतएव हे जिनेन्द्रदेव ! मुझ पर करूणा कीजिये, इस संसार के दुखों से मुझे बचाइये ।। १५ ।।

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतारागात्परो देवो न भूतो भविष्यति ।। १६ ।।

अर्थ :-- हे प्रभो ! इन तीनों लोकों में, वीतराग परम देव के सिवाय अन्य कोई भी देव आज तक किसी भी जीव की रक्षा करने वाला नहीं

हुआ है, नहीं हुआ है, नहीं हुआ है तथा वीतराग परमदेव के सिवाय, अन्य कोई भी देव, तीनों लोकों में आगे कभी भी किसी भी जीव की रक्षा करने वाला नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा, अतएव हे वीतराग देव आप ही मेरी रक्षा कीजिये ।। १६ ।।

जिने भक्तिर्जिने भक्ति र्जिने भक्ति र्दिने दिने
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेऽस्तु भवे भवे ।। १७ ।।

अर्थ -- हे भगवान् ! मेरी भक्ति प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे, श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे, श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे । तथा वही आपके चरण कमलों की भक्ति भव भव में मुझे सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो ।। १७ ।।

याचेऽह याचेऽह जिन! तव चरणारविन्दयो र्भक्तिम्
याचेऽह याचेऽह पुनरपि तामेव तामेव ।। १८ ।।

अर्थ -- हे भगवान् जिनेन्द्र देव, मै आपके दोनों चरण कमलों की भक्ति की याचना करता हूं, याचना करता हूं । हे स्वामिन ! फिर भी मै उसी आपके चरण कमलों की भक्ति की आपके ही दो चरण कमलों की भक्ति की याचना करता हूं, याचना करता हू ।

(इसके अनतर कायोत्सर्ग करना चाहिये) (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भते । समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, रयणत्तय सरूवपरमप्पज्झाणलक्खण समाहिभत्तीये णिच्चकालं अचेमि, पूजेमि वदामि णमसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ सुगइगमण समाहिमरण जिणगुणसपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ -- हे भगवन् ! मै समाधिभक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हू । इस समाधि भक्ति में रत्नत्रय को निरूपण करने वाले शुद्ध परमात्मा के ध्यानस्वरूप शुद्ध आत्मा की सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वदना करता हूं , और नमस्कार करता हूं, मेरे दु.खों का नाश हो और कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति समाधिभक्ति)

(११)

❀ निर्वाण-भक्ति ❀

विबुधपति खगपतिनरपति, धनदोरगभूतयक्षपतिमहितम्;
अतुलसुखविमलनिरूपम, शिवमचलमनामयं-हि संप्राप्तम् ॥ १ ॥
कल्याणैः संस्तोष्ये, पंचभिरनघं त्रिलोकपरमगुरूम् ।
भव्यजनतुष्टिजननै, दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या ॥ २ ॥

अर्थ :-- जो भगवान् महावीर स्वामी, इन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती कुबेर के स्वामी धरणेन्द्र, चमरेन्द्र, यक्षपति आदि सब के द्वारा पूज्य है, तथा ससार में जिसकी कोई उपमा नहीं, जो समस्त कर्मों से रहित है और इसी लिये जो उपमा रहित है ऐसे मोक्षपद को जो प्राप्त हो चुके है और जो फिर वहा से कभी चलायमान नही होते सदा अनन्तकाल तक मोक्ष सुख का ही अनुभव किया करते है । वैशेषिक मत के समान मुक्त होने पर भी फिर संसार में परिभ्रमण नही करते इसके सिवाय वे भगवान् व्याधियों से सर्वथा रहित है, जो सब प्रकार के पापों से रहित है और इसीलिए तीनों लोकों के गुरू है ऐसे भगवान् महावीर स्वामी को मै बड़ी भक्ति से नमस्कार करता हूं, जो बड़ी कठिनता से प्राप्त होते है और जो भव्य जीवों को सदा सन्तोष उत्पन्न करने वाले है ऐसे १ गर्भ २ जन्म ३ दीक्षा ४ केवल और ५ मोक्ष कल्याणकों से उनकी स्तुति करता हूं भावार्थ उनके पंच कल्याणकों का वर्णन कर उनकी स्तुति करता हूं ।

आषाढसुसितषष्ठयां, हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिनि ।
आयातःस्वर्गसुखं, भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः ॥ ३ ॥
सिद्धार्थनृपतितनयो, भारतवास्ये विदेहकुडपुरे ।
देव्यां प्रियकारिण्यां, सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः ॥ ४ ॥

अर्थ -- भगवान् महावीर स्वामी का जीव पहले अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान का स्वामी था । वह वहां पर अपनी आयु पूरी कर अर्थात्

बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोग कर इस भरत क्षेत्र के विदेह देश में कुण्डल पुर नगर में राजा सिद्धार्थ की महादेवी प्रियकारिणी के गर्भ में आया वह आषाढ़ शुक्ला षष्ठी का दिन था और चन्द्रमा हस्त तथा उत्तरा नक्षत्र के मध्य में था । गर्भ में आने के पहले माता ने सोलह स्वप्न देखे थे ।। ३-४ ।।

चैत्रसितपक्षफाल्गुनि, शशांकयोगे दिने त्रयोदश्यां ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु, ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ।। ५ ।।
हस्ताश्रिते शशांके, चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशीदिवसे ।
पूर्वाण्हे रत्नघटै, र्विबुधेन्द्रा श्चक्रुरभिषेकम् ।। ६ ।।

अर्थ -- चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन शुभ लग्न में भगवान् महावीर स्वामी ने जन्म लिया । उस दिन चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर आ गया था तथा समस्त सौम्यग्रह अपनी अपनी राशि के उच्च स्थान पर आ गये थे चैत्र शुक्ला चतुर्दशी के दिन पर जब कि चन्द्रमा हस्त नक्षत्र पर आ गया था उस समय प्रात काल सब इन्द्रों ने मिलकर मेरू पर्वत की पाडुंकशिला पर ले जाकर भगवान् महावीर का अभिषेक किया था ।। ५-६ ।।

भुक्त्वा कुमारकाले, त्रिंशद्वर्षाण्यनतगुणराशिः ।
अमरोपनीतभोगान्, सहसाभिनिबोधितोन्येद्युः ।। ७ ।।
नानाविधरूपचितां विचित्रकूटोच्छ्रितांमणि विभूषाम् ।
चद्रप्रभाख्यशिविका, मारूह्य पुराद्विनिःक्रान्तः ।। ८ ।।
मार्गशिकृष्णादशमी, हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे ।
षष्ठेनत्वपराण्हे, भक्तेन जिनःप्रवव्राज ।। ९ ।।

अर्थ -- अनन्त गुणों की राशि ऐसे उन भगवान् महावीर स्वामी ने कुमार काल के तीस वर्ष तक देवों के द्वारा प्राप्त हुए गंध, पुष्पमाला वस्त्राभूषण आदि भोगोपभोग का उपभोग किया । तीस वर्ष के अनंतर ही किसी एक दिन वे विरक्त हुए, उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर उनकी प्रशंसा और स्तुति की । तदनन्तर जो अनेक प्रकार से सजाई गई है जिस पर अनेक प्रकार के ऊंचे कंगुरे लग रहे है और जो अनेक प्रकार के मणियों से सुशोभित है ऐसी चन्द्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर वे भगवान् नगर से

बाहर निकले । मार्ग शीर्ष कृष्णा दशमी के दिन शाम के समय भगवान् महावीर स्वामी ने दीक्षा धारण की । उस समय चन्द्रमा हस्त और उत्तरा नक्षत्र के मध्य भाग में था । तथा भगवान् ने दीक्षा लेते ही दो उपवास करने की प्रतिज्ञा की थी ॥ ७ से ९ ॥

ग्रामपुरखेटकर्वट, मटंबघोषाकरान्प्रविजहार ।
उग्रैस्तपोविधानै, र्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥ १० ॥
ऋजुकूलायास्तीरे, शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे
अपराण्हे षष्ठेना, स्थितस्यखलु-जृंभिका-ग्रामे ॥ ११ ॥
बैसाखसितदशम्यां, हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

अर्थ -- देवों द्वारा पूज्य ऐसे भगवान् महावीर स्वामी ने बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए गांव, नगर खेट (नदी पर्वत के बीच का गांव) कर्वट (जिसके चारों और पर्वत हों) मटंब (जिससे पांच सौ गांव लगते हों) घोष (छोटी झोपडी) आकार (जिसमें खानि हो) आदि सब जगह विहार किया । तदनंतर ऋजुकूला नदी के किनारे जृंभिका नाम के गांव में शाल वृक्षों से घिरी हुई एक शिला पर दो उपवास की प्रतिज्ञा कर खड़े हुए । उसी दिन शाम के समय उन्होंने क्षपक श्रेणी पर चढना प्रारम्भ किया । उस दिन बैसाख शुक्ला दशमी थी और चन्द्रमा हस्त और उत्तरा नक्षत्र के मध्य में था । उस समय उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥ १० से १२ ॥

अर्थ--अथ भगवान् संप्रापद् दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यम् ।
चातुर्वर्ण्यसुसघस्, तत्राभूद्गौतमप्रभृति ॥ १३ ॥
छत्राशोकौ घोषं, सिंहासनदुंदुभी कुसुमवृष्टिम् ।
वरचामरभामंडल, दिव्यान्यन्यानि चावापत् ॥ १४ ॥
दशविधमनगाराणा, मेकादशधोत्तरं तथा धर्मम् ।
देशयमानो व्यवहरंस्त्रिशद्-वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥ १५ ॥

अर्थ .-- तदनंतर वे भगवान् अत्यन्त मनोहर और दिव्य ऐसे वैभार पर्वत पर जो विराजमान हुए । वहां पर गौतम गणधर को आदि लेकर रत्नत्रय से सुशोभित चारों प्रकार का संघ था । भगवान् के

समवसरण में १ दिव्य छत्र, २ अशोक वृक्ष, ३ दिव्य ध्वनि, ४ सिंहासन, ५ दुदुभी, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चमर और, ८ भामंडल ये आठ महाप्रातिहार्य थे । तथा चार सौ कोस तक सुभिक्षका रहना आकाश में चलना आदि कितने ही दिव्य अतिशय, भगवान् को प्राप्त हुए थे । उन समवसरण में भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के उत्तम क्षमा आदि इस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया और श्रावकों के लिये ग्यारह प्रतिमाओं का उपदेश दिया । इस प्रकार धर्म का उपदेश देते हुए भगवान् ने तीस वर्ष तक विहार किया ।। १३ से १५ ।।

पद्मवनदीर्घिकाकुल, विविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने, व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ।। १६ ।।
कार्तिककृष्णास्यान्ते, स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं सम्प्रापद्, व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ।। १७ ।।

अर्थ -- अंत में वे भगवान् कमलों से सुशोभित ऐसे पानी के तालाब से तथा अनेक प्रकार के वृक्षों के समूह से सुशोभित और अत्यन्त मनोहर ऐसे पावानगर के उद्यान में कायोत्सर्ग से विराजमान हुए । उस समय उनके साथ और भी अनेक मुनि थे । कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन स्वाति नक्षत्र में भगवान् ने बाकी के समस्त अघातियां कर्मों का अर्थात् वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु का नाश किया और जन्म, मरण, बुढापा आदि दु खों से रहित तथा कभी न नाश होने वाला ऐसा मोक्ष सुख प्राप्त किया ।। १६-१७ ।।

परिनिर्वृत जिनेन्द्र, ज्ञात्वा विबुधा ह्यथासुचागम्य ।
देवतरूरक्तचन्दन, कालागुरूसुरभिगोशीर्षैः ।। १८ ।।
अग्नीन्द्राज्जिनदेह, मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः ।
अभ्यर्च्य गणधरानपि, गतादिव खं च वनभवने ।। १९ ।।

अर्थ -- भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधारे ऐसा जानकर इन्द्रादिकदेव बहुत शीघ्र आये । उन्होंने भगवान् के शरीर की पूजा की और फिर देवदारू, लाल चन्दन से अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से निकली हुई अग्नि से तथा सुगंधित धूप और उत्तम मालाओं से भगवान् के शरीर का अग्नि सस्कार किया । फिर उन देवों ने

गणधरों की पूजा की । तदनंतर वे देव स्वर्ग को, आकाश को, वनों को और भवनों को चले गये । अर्थात् कल्पवासी देव स्वर्गों को चले गये । ज्योतिष्कदेव आकाश को चले गये । व्यंतरदेव भूतारण्यवन को चले गये और भवनवासीदेव अपने - २ भवनों को चले गये ।

इस अठारहवें श्लोक में आशु के स्थान में शुचा भी पाठ है । उसका अर्थ यह है कि भगवान् के मोक्ष जाने पर देवों को शोक हुआ अब भगवान् मोक्ष चले गये अब उनके दर्शन नहीं होंगे यही उनके लिये शोक का कारण था ऐसा शोक करते हुए ही वे देव आये ॥ १८-१९ ॥

इत्येवं भगवति वर्धमानचंद्रे, यः स्तोत्रंपठति सुसंध्ययोर्द्वयोर्हि ।
सोऽनतं परमसुखं नृदेवलोके, भुक्त्वांते शिवपदमक्षयं प्रयाति ॥ २० ॥

अर्थ -- जो भव्य जीव दोनों सध्या कालों में अर्थात् प्रात. काल और सांयकाल दोनों समय ऊपर लिखे अनुसार भगवान् वर्धमान स्वामी का स्तोत्र पढता है वह मनुष्य लोक और देवलोक में अनंत परम सुख का अनुभव करता हुआ अंत में कभी न नाश होने वाले मोक्ष सुख को प्राप्त होता है ।

विशेष -- यह वसंत तिलका । नामक छंद है, इसमें ८ तथा ६ से विराम होता है ।

यत्रार्हतां गणभृतां श्रुतपारगाणां,
निर्वाणभूमिरिह, भारतवर्षजानाम् ।
तामद्य शुद्धमनसा, क्रियया वचोभिः ।
संस्तोतुमुद्यत-मतिः, परिणौमि भक्त्या ॥ २१ ॥

अर्थ -- इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए चौबीस तीर्थंकरों की जो निर्वाण भूमि है, गणधर देवों की जो निर्वाण भूमि है तथा श्रुत केवलियों की जो निर्वाण भूमि है अथवा अन्य साधारण मुनियों की जो निर्वाण भूमि है उन सब की स्तुति करने की इच्छा करने वाला मै शुद्ध मन से, शुद्ध वचन से और शरीर की क्रिया से बड़ी भक्ति पूर्वक समस्त निर्वाण भूमियों को नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

कैलाशशैलशिखरे, परिनिर्वृतोऽसौ ।

शैलेशिभावमुपपद्य, वृषो महात्मा ॥

चंपापुरे च वसुपूज्य, सुतः सुधीमान्,

सिद्धिं परामुपगतो, गतरागबंधः ॥ २२ ॥

अर्थ -- महात्मा भगवान् वृषभदेव स्वामी अठारह हजार शीलों के पूर्ण स्वामी होकर कैलाश पर्वत के शिखर पर से मोक्ष पधारे थे । तथा केवलज्ञान को धारण करने वाले और समस्त कषायों से रहित ऐसे भगवान् वासुपूज्य स्वामी चंपापुर से मोक्ष पधारे थे ॥ २२ ॥

यत्प्रार्थ्यते शिवमयं, विबुधेश्वराद्यैः, ।

पाखंडिभिश्च परमार्थगवेषशीलैः ।

नष्टाष्टकर्मसमये, तदरिष्टनेमिः,

संप्राप्तवान् क्षितिधरे, बृहदूर्जयन्ते ॥ २३ ॥

अर्थ -- जिस मोक्ष को प्राप्त करने के लिये इन्द्रादिक देव भी प्रार्थना करते रहते है तथा जिस मोक्ष की प्राप्ति के उपायों को वा अठारह हजार शीलों के भेदों को अन्वेषण करने वाले खोज करने वाले अन्य पाखंडी लोग भी जिस मोक्ष की इच्छा करते है ऐसा वह मोक्ष इन भगवान् अरिष्ट नेमिनाथ ने आठों कर्मों को नाश करने के समय में ही महाऊर्जयंत पर्वत से प्राप्त किया । अर्थात् भगवान् नेमिनाथ स्वामी गिरनार पर्वत से मोक्ष पधारे ॥ २३ ॥

पावापुरस्यबहिरू, न्नतभूमिदेशे,

पद्मोत्पलाकुलवता, सरसां हि मध्ये ।

श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो,

निर्वाणमाप भगवान्, प्रविधूतपाप्मा ॥ २४ ॥

अर्थ -- पावापुर नगर के बाहर सूर्य विकासी और चन्द्रविकासी कमलों से भरे हुए सरोवर के मध्य भाग में ऊंचे टीले पर से वे केवल ज्ञान से सुशोभित, समस्त पापों को नाश करने वाले और अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे भगवान् वर्द्धमान जिनेन्द्रदेव मोक्ष पधारे ॥ २४ ॥

शेषास्तु ते जिनवरा, जितमोहमल्ला,

ज्ञानार्कभूरिकिरणै, रवभास्य लोकान् ।

स्थानं परं निरवधारित, सौख्यनिष्ठं,

सम्मेदपर्वततले, समवापुरीशाः ॥ २५ ॥

अर्थ .-- मोहरूपी मल्ल को जीतने वाले और इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य ऐसे बाकी के बीस तीर्थंकर केवल ज्ञानरूपी सूर्य की अनेक किरणों से तीनों लोकों को प्रकाशित करते हुए सम्मेदशिखर पर्वत के ऊपर के भाग से जिसके सुख की कोई सीमा नहीं है जहां पर अनंतानंत सुख है ऐसे परम स्थान व मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए थे ॥ २५ ॥

आद्यश्चतुर्दशदिनै, र्विनिवृत्तयोगः,

पष्ठेननिष्ठितकृति, र्जिनवर्द्धमानः,

शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः,

मासेन ते यतिवरास्, त्वभवन्वियोगाः ॥ २६ ॥

अर्थ -- १ भगवान वृषभदेव की आयु जब चौदह दिन की रह गई थी तब उन्होंने अपने द्रव्यमन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था, २ भगवान् वर्द्धमान् स्वामी की आयु जब दो दिन की रह गई थी तब उन्होंने अपने द्रव्य मन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था और जिन्होंने घनीभूत कर्मों के बंधन के जाल को सर्वथा नष्ट कर दिया है ऐसे बाकी के बाईस तीर्थंकरों ने एक महीने की आयु बाकी रहने पर अपने द्रव्य मन, वचन, काय की क्रियाओं को रोक लिया था अर्थात् योग निरोध धारण किया था ॥ २६ ॥

माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः, कुसुमैः सुदृब्धा-

न्यादाय मानसकरै, रभितः किरंतः ।

पर्येम आदृतियुता, भगवन्निषद्याः,

संप्रार्थिता वयमिमे, परमां गतिं ताः ॥ २७ ॥

अर्थ :-- वचनों के द्वारा होने वाली स्तुतिरूपी पुष्पों से बनी हुई इस माला को लेकर तथा भगवान् की निर्वाण भूमियों के चारों ओर मनरूपी

हाथ उस माला को चढ़ाते हुए हम लोग बड़े आदर के साथ उन निर्वाण भूमियों की परिक्रमा करते है और हमको परमगति वा मोक्ष गति प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करते है ।। २७ ।।

आगे तीर्थंकरों की निर्वाण भूमियों क सिवाय अन्य मुनियों की जो निर्वाण भूमियों की परिक्रमा करते है उससे हमको परमगति वा मोक्ष प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करते है। ।। २७ ।।

आगे तीर्थंकरों की निर्वाण भूमियों के सिवाय अन्य मुनियों की जो निर्वाण भूमिया है उनकी स्तुति करते है --

शत्रुजये नगवरे, दमितारिपक्षा: ।
पडो: सुता: परमनिर्वृतिमभ्युपेता: ।
तुग्या तु सगरहितो, बलभद्रनामा ।
नद्यास्तटे जितरिपुश, च सुवर्णभद्र: ।। २८ ।।
द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेंढ्रके च,
वैभार पर्वततले, वरसिद्धकूटे ।
ऋष्यद्रिके च विपुला, द्रिबलाहके च
विंध्ये च पोदनपुर, वृषदीपके च ।। २९ ।।
सह्याचले च हिमवत्, यपि सुप्रतिष्ठे ।
दडात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ ।
ये साधवो हतमला:, सुगतिं प्रयाता.,
स्थानानि तानि जगति, प्रथितान्यभूवन् ।। ३० ।।

अर्थ -- कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ये तीनों भाई पवित्र शत्रुंजय पर्वत से मोक्ष पधारे । समस्त परिग्रहों से रहित बलदेव, तुंगीगिरी पर्वत से मोक्ष पधारे । कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले सुवर्णभद्र, नदी के किनारे से (पावागिर पर्वत के पास चलना नदी के किनारे) मोक्ष पधारे । द्रोणागिरि, उत्तम कुंडल पर्वत, मेढगिरि पर्वत (मुक्तागिरि), वैभार पर्वत, उत्तम सिद्धवरकूट, ऋष्याद्रि, विपुलाचल, बलाहक, विंध्य पर्वत, पोदनपुर, वृषदीपक सह्याद्रि, हिमवान, सुप्रतिष्ठ, दंडात्मक,

गजपंथ, पृथुसारयष्टि आदि जिन-जिन पर्वतों पर से अनेक मुनिराज कर्ममलकलंक को नाश कर मोक्ष को पधारे है, वे सब स्थान इस संसार में प्रसिद्ध हो गये है ॥ ३० ॥

इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके,
पिष्टोधिकां मधुरता, मुपयाति यद्वत् ।
तद्वच्च पुण्यपुरूषै, रूषितानि नित्यं,
स्थानानि तानि जगता, मिह पावनानि ॥ ३१ ॥

अर्थ -- जिस प्रकार ईख के रस से उत्पन्न होने वाले गुड के रस में मिला हुआ आटा अधिक स्वादिष्ट और मीठा जान पड़ता है इसी प्रकार तीर्थंकर गणधर तथा सामान्य मुनि जहा-जहां निवास करते है वे सब स्थान इस संसार के प्राणियों को सदा के लिए अधिक पवित्र करने वाले हो जाते है ॥ ३१ ॥

इत्यर्हता शमवता, च महामुनीनां,
प्रोक्ता मयात्र परिनिर्वृतिभूमिदेशा: ।
ते मे जिनाजितमया, मुनयश्च शाता:,
दिश्यासुराशु सुगतिं, निरवद्यसौख्याम् ॥ ३२ ॥

अर्थ -- इस प्रकार मैने भगवान् तीर्थंकर परमदेव की जो निर्वाण भूमि बतलाई है अत्यन्त शांतता को धारण करने वाले सामान्य मुनियों की निर्वाणभूमि बतलाई है और महामुनि गणधर देवों की जो निर्वाणभूमि बतलाई है वे सब निर्वाणभूमियां सब तीर्थंकर परमदेव गणधर केवली और सामान्य केवली मुझे शीघ्र ही शुभगति देवें तथा जिसमें सब तरह की बाधाओं से रहित परमसुख है ऐसे मोक्ष को देवें ॥ ३२ ॥

कैलाशाद्रौ मुनीन्द्र:, पुरूरपदुरितो, मुक्तिमाप प्रणूत:,
चपाया, वासुपूज्यस्त्रिदशपतिनुतो नेमि रप्यूर्जयते ।
पावाया वर्धमानस्त्रिभुवनगुरुखो विंशतिस्तीर्थनाथा:,
सम्मेदाग्रे प्रजग्मु, र्ददतु विनमता, निर्वृतिं, नो
जिनेन्द्रा: ॥ ३३ ॥

दूसरे ग्रन्थों में निम्नलिखित श्लोक विशेष पाये जाते है वे भी यहां लिखे जाते है·-

चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि·

अर्थ :-- १ कैलाश पर्वत पर पापों से रहित, मुनियों के स्वामी श्री वृषभनाथ जिनेन्द्र मुक्ति को पधारे । २ इन्द्र के द्वारा पूजित वासुपूज्य जिनेन्द्र चंपापुर से मोक्ष को पधारे । ३ गिरनार (ऊर्जयंत) पर्वत से नेमिनाथ भगवान् मोक्ष पधारे । ४ अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान पावापुर से मोक्ष पधारे । ५ तीन लोक के गुरू अवशिष्ट २० तीर्थंकर श्री सम्मेदशिखर से मोक्ष पधारे, ये सब तीर्थंकर नमस्कार करने वाले हम सब को मुक्ति प्रदान करें ।। ३३ ।।

गौर्गजोऽश्व: कपि: कोक: सरोज: स्वस्तिक:शशी ।
मकर: श्रीयुतो वृक्षो, गंडो महिषसूकरौ ।। ३४ ।।
सेधावज्रमृगच्छागा:, पाठीन: कलशस्तथा ।
कच्छपश्चोत्पल शखो, नागराजश्च केसरी ।। ३५ ।।

अर्थ -- १ वृषभनाथजी का बैल, २ अजितनाथजी का हाथी, ३ संभवनाथजी का घोड़ा, ४ अभिनन्दनजी का बंदर, ५ सुमितनाथ जी का चकवा, ६ पद्मप्रभूजी का कमल, ७ सुपार्श्वनाथ जी का स्वस्तिक (सांथिया), ८ चंद्रप्रभूजी का चंद्र, ९ पुष्पदन्तजी का मगर, १० शीतलनाथ जी का कल्पवृक्ष, ११ श्रेयांसनाथजी का गेंडा, १२ वासुपूज्य जी का भैंसा, १३ विमल नाथजी का सूकर (सुअर), १४ अनंतनाथ का सेही, १५ धर्मनाथ जी का वज्र, १६ शांतिनाथ जी का हिरण १७ कुंथुनाथ जी का अज (बकरा), १८ अरहनाथ जी का मीन (मछली), १९ मल्लिनाथ जी का कलश, २० मुनिसुव्रतनाथजी का कछुआ, २१ नमिनाथजी का लाल कमल, २२ नेमिनाथ जी का शंख, २३ पार्श्वनाथ जी का सर्प, २४, वर्द्धमान स्वामी का सिंह ।

चौबीस तीर्थंकरो के वंश --

शांति कुन्थवरकौख्या यादवौ नेमिसुव्रतौ ।
उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ, शेषा इक्ष्वाकुवंशजा: ।। ३६ ।।

अर्थ -- १ शांतिनाथ, २ कुंथुनाथ और ३ अरहनाथ ये तीन तीर्थंकर

कुरूवंश में उत्पन्न हुये है । १ नेमिनाथ और २. मुनिसुव्रत ये दो तीर्थंकर यदुवंश में उत्पन्न हुए हैं और १ पार्श्वनाथ उग्रवंश में तथा महावीर स्वामी नाथ वंश में पैदा हुये है बाकी के १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में पैदा हुये है ।

इसके अनंतर कायोत्सर्ग करना चाहिये । आलोचना

गद्य--इच्छामि भंते ! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं । इमम्मि अवसप्पिणीये, चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए, आउट्ठमासहीणे, वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि पावाये णयरीए, कत्तियमासस्स किण्हचउद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो । तिसुवि लोएसु भवणवासियवाणविंतर जोयिसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण अक्खेण दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेणु धुव्वेण, दिव्वेण चुण्णोण, दिव्वेण दीवेण दिव्वेण वासेण दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं, अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणमहाकल्लाणपुज्जं करंति । अहमवि इह संतो, तत्थ संताइयं णिच्चकालं अचेमि पूजेमि, वंदामि, णमसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमण, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ -- हे भगवन् ! मै निर्वाण भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं, उसमें जो दोष लगे हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं । इस अवसर्पिणी काल के, चौथे समय के पिछले भाग में, जब तीन वर्ष साढे आठ महीना कम थे, तब पावापुर नगर से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में, प्रातः काल स्वाति नक्षत्र में भगवान् महति महावीर (वर्द्धमान स्वामी) मोक्ष पधारे थे । उस समय तीनों लोकों में निवास करने वाले, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देव, अपने-अपने परिवार सहित आये थे, और वे दिव्य गंध, दिव्य फूल, दिव्य धूप, दिव्य सुगन्धित चूर्ण, दिव्य वस्त्र से और अभिषेक से सुसज्जित होकर

सदा अर्चा करते थे, पूजा करते थे, वंदना करते थे, नमस्कार करते थे और निर्वाण कल्याणक की पूजा करते थे मै भी वैसा ही होकर, सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं और नमस्कार करता हू । मेरे दु खों का नाश हो, कर्मो का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो, और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति निर्वाण भक्ति)

✿ ✿ ✿

णमोकार महामंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोएसव्वसाहूणं
एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होई मगलम्

(१२)

❀ नंदीश्वर भक्तिः ❀

त्रिदशपतिमुकुटतटगत, मणिगणकरनिकरसलिलधाराधौत ।
क्रमकमलयुगलजिनपति, रूचिरप्रतिबिंबविलयविरहितनिलयान्
॥ १ ॥
निलयानहमिह महसा, सहसाप्रणिपतनपूर्वमवनौम्यवनौ ।
त्रयूयां त्रयूया शुद्धया, निसर्गशुद्धान्विशुद्धये घनरजसा
॥ २ ॥

अर्थ -- इन्द्रों के मुकुटों के किनारे पर लगे हुए अनेक मणियो के किरणों के समूह रूपी जल की धारा से जिनके दोनो चरण कमल प्रक्षालित हो रहे है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के प्रतिबिम्बों को विनाश रहित सदा के लिए, अनंतानंत काल के लिए स्थान देने वाले, स्वाभाविक शुद्ध और तेज की राशि ऐसे तीनों लोकों के अकृत्रिम चैत्यालयों को मै मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक महापापों को नाश करने के लिए, बहुत शीघ्र पृथ्वी पर पड़कर नमस्कार करता हू ॥ १-२ ॥

आगे अधो लोक सम्बन्धी भवनवासियों के विमानों के अकृत्रिम चैत्यालयों को कहते है --

भावनसुरभवनेषु, द्वासप्तति, शत, सहस्र संख्याभ्यधिकाः ।
कोट्यःसप्त प्रोक्ता, भवनानां, भूरि, तेजसां, भुवनानाम् ॥ ३ ॥

अर्थ .-- अत्यंत तेज को धारण करने वाले, ऐसे भवनवासी देवों के भवनों में रहने वाले, अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या सात करोड़ बहत्तर लाख है ।

भावार्थ -- भवनवासियों के इतने ही भवन है और उनमें प्रत्येक में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है ॥ ३ ॥

आगे व्यंतर देवों के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते है --

त्रिभुवनभूतविभूनां, संख्यातीतान्यसंख्य, गुणयुक्तानि ।

त्रिभुवन जन नयन मनः, प्रियाणि भवनानि भौम विबुधनुतानि ॥ ४ ॥

अर्थ -- जिनको समस्त व्यंतरदेव नमस्कार करते है और जो तीनों लोकों के मनुष्यों के नेत्र और मन को अत्यन्त प्रिय लगते है, ऐसे तीनों लोकों के समस्त प्राणियों के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र देव के मन्दिर असंख्यात को असंख्यात से गुणा करने पर जितनी संख्या होती है उतने है । भावार्थ-व्यतर देवों के आवास भी असंख्यातासख्यात है और उनमें प्रत्येक में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है ॥ ४ ॥

आगे ज्योतिष्कदेव और वैमानिक देवों के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते है -

यावन्ति सन्ति कान्त, ज्योति, र्लोकाधि, देवताभिनुतानि,

कल्येऽनेकविकल्पे, कल्पातीतेऽहमिन्द्रकल्यानल्ये ॥ ५ ॥

विशतिरथ त्रिसहिता, सहस्रगुणिता च सप्तनवतिः, प्रोक्ता ।

चतुरधिकाशीतिरतः, पचक, शून्येन विनिहता, न्यनघानि ॥ ६ ॥

अर्थ -- सुन्दर और उत्तम ज्योतिषी देवों के विमानअसंख्यातासंख्यात है । इसलिये उन विमानों में होने वाले अकृत्रिम चैत्यालय भी असंख्यातासंख्यात है ।

कल्पवासी देवों के अनेक भेद है तथा जिनमें अहमिंद्रो की कल्पना है ऐसे कल्पातीत विमान भी बहुत है और विशाल है उन सबमें, पापरहित अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या शून्य से गुणा किये हुए चौरासी लाख, एक हजार से गुणा किये हुए सतानवे अर्थात् सतानवे हजार तेईस है, अर्थात् चौरासी लाख सतानवे हजार, तेईस है । यह संख्या कल्पवासी और कल्पातीत दोनों प्रकार के देवों के अकृत्रिम चैत्यालयों की है । यदि इनके चैत्यालयों की पृथक-२ संख्या कही जाये तो कल्पवासियों के चैत्यालय 'चौरासी लाख, छयानवे हजार सात सौ, और कल्पातीत देवों के चैत्यालयों की संख्या तीन सौ तेईस है ॥ ५-६ ॥

आगे मनुष्य क्षेत्र के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या कहते है ।

अष्टापंचाशदतश्, चतुः शतानीह मानुषे च क्षेत्रे ।

लोकालोकविभाग, प्रलोकनालोक, संयुजा,

जयभाजाम् ॥ ७ ॥

अर्थ :-- लोक और अलोक के विभाग को देखने के लिए प्रकाश के समान, केवल दर्शन से सुशोभित होने वाले, और घातिया कर्मों को नाश करने के कारण सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाले, भगवान् अरहंतदेव के अकृत्रिम चैत्यालय इस मनुष्य क्षेत्र में चार सौ अट्ठावन है ॥ ७ ॥

आगे तीनों लोकों में अब कितने अकृत्रिम चैत्यालय है सो दिखलाते है --

नवनवचतु:शतानि च, सप्त च, नवति:, सहस्रगुणिता:,

षट् च ।

पंचाशत्पंचवियत्, प्रहता:, पुनरत्र, कोटयोऽष्टौ, प्रोक्ता: ॥८॥

एतावत्येव सता, मकृत्रिमाण्यथ, जिनेशिना भवनानि ।

भुवनत्रितये त्रिभुवन, सुरसमिति, समर्च्यमान, सत्प्रतिमानि

॥ ९ ॥

अर्थ -- तीनों लोकों में भगवान् जिनेन्द्रदेव के अकृत्रिम चैत्यालय आठ करोड, छप्पन लाख, सतानवे हजार, चार सौ इक्यासी, है । इनमें अनेक जिन प्रतिमायें विराजमान है और तीनों लोकों के देवों के समूह उन प्रतिमाओं की पूजा करते है । अधोलोक में सात करोड़ बहत्तर लाख चैत्यालय है । मध्यलोक में चार सौ अट्ठावन है, और ऊर्ध्व लोक में चौरासी लाख, सतानवे हजार, तेईस है, ये सब मिलकर ऊपर की संख्या के बराबर होते है इनसे ज्योतिष्क और व्यतर देवों के असंख्यातासख्यात चैत्यालय अलग है ॥ ८-९ ॥

आगे मध्यलोक के चार सौ अट्ठावन चैत्यालय कहा-कहां है सो दिखलाते है । (नन्दीश्वर द्वीप के ५२, पंच मेरू के ८० चैत्यालय मिलकर ४५८ होते है)

वक्षाररूचककुंडल, रौप्यनगोत्तरकुलेषुकारनगेषु ।

कुरूषु च जिनभवनानि, त्रिशतान्यधिकानि तानि षड्विंशत्या ॥ १० ॥

अर्थ .-- एक २ विदेह क्षेत्र में सोलह सोलह वक्षार पर्वत है, तथा चार-२ गजदंत पर्वत है, इस प्रकार सौ पर्वत है । इन सौ पर्वतों पर सौ ही अकृत्रिम चैत्यालय है । रूचक नाम के द्वीप में रूचक पर्वत पर चार अकृत्रिम चैत्यालय है । कुण्डल द्वीप में, मानुषोत्तर पर्वत के समान, गोल कुण्डल पर्वत है, उस पर चार अकृत्रिम चैत्यालय है । ढाई द्वीप में, एक सौ सत्तर कर्म भूमियां है, उनमें एक सौ सत्तर ही विजयार्द्ध पर्वत है, उन पर एक सौ सत्तर ही अकृत्रिम चैत्यालय है । मानुषोत्तर पर्वत पर चारों दिशाओं में, चार चैत्यालय है । जम्बूद्वीप में छ. कुलाचल है, धात की द्वीप में बारह है, और पुष्करार्द्ध में बारह है, इस प्रकार सब तीस कुल पर्वत है, इन पर तीस ही अकृत्रिम चैत्यालय है । चारों इष्वाकार पर्वतों पर चार अकृत्रिम चैत्यालय है । देव कुरू पांच है और उत्तर कुरू पांच है इस प्रकार दशों उत्तम भोग भूमियों में दस अकृत्रिम चैत्यालय है । इस प्रकार इन अकृत्रिम चैत्यालयों की सख्या तीन सौ छब्बीस होती है ॥ १० ॥

आगे नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालय कहते है --

नदीश्वरसद्द्वीपे, नदीश्वर, जलधि, परिवृते, धृतशोभे ।
चद्रकरनिकरसन्निभ, रून्द्रयशो, वितत, दिङ्महीमडलके ॥ ११ ॥
तत्रत्याजनदधिमुख, रतिकर पुरू नग वराख्य पर्वतमुख्याः ।
प्रतिदिशमेषामुपरि, त्रयोदशेन्द्रार्चितानि जिनभवनानि ॥ १२ ॥

अर्थ -- चन्द्रमा की किरणों के समूह के समान फैले हुए यश के द्वारा, जिमने समस्त दिशाओं का समूह और समस्त पृथ्वी मंडल व्याप्त कर दिया है अर्थात् जिसकी कीर्त्ति समस्त पृथ्वी पर फैल रही है तथा जो नन्दीश्वर महासागर से चारों ओर घिरा हुआ है, और जो वडी अच्छी शोभा को धारण कर रहा है, ऐसे सर्वोत्तम नन्दीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा में, एक-एक अंजनगिरि है उस अजनगिरि के चारों ओर चारों दिशाओं में चार-२ दधिमुख पर्वत है वे दधिमुख वावड़ियों में है, उन वावड़ियों के किनारे कोनों पर रतिकर पर्वत है, प्रत्येक अजनगिरि पर, और प्रत्येक दधिमुख पर्वत पर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है, तथा बावड़ियों के भीतरी दोनों कोनों पर जो दो-२ रतिकर है उन पर प्रत्येक पर एक - २ अकृत्रिम चैत्यालय है । इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप की

एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकरों के ऊपर चैत्यालय है । ये सब चैत्यालय तेरह होते है । इसी प्रकार की रचना नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में है । इसलिये चारों दिशाओं में सब मिलकर बावन चैत्यालय होते है । इन चैत्यालयों में इन्द्र आकर पूजा करते है ॥ ११-१२ ॥

आषाढ़कार्तिकाख्ये, फाल्गुन, मासे च, शुक्लपक्षेष्टऽम्या. ।
आरभ्याष्टदिनेषु च, सौधर्मप्रमुख विबुधपतयो भक्त्या ॥ १३ ॥
तेषु महामहमुचितं, प्रचुराक्षत-गध पुष्प धूपै र्दिव्यै: ।
सर्वज्ञप्रतिमाना, मप्रतिमाना प्रकुर्वते सर्वहितम् ॥ १४ ॥

अर्थ -- आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन महीने में शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर आठ दिन तक सौधर्म इन्द्र को आदि लेकर समस्त इन्द्र बड़ी भक्ति से, वहा पर जाते है। और जिनकी समता संसार भर में कहीं नही है, ऐसी वहा पर विराजमान भगवान् सर्वज्ञ देव की प्रतिमाओं की वहुत से दिव्य अक्षतों से, दिव्यगध से, दिव्य पुष्पों से, और दिव्य धूप से, समस्त प्राणियों का हित करने वाली और अपने योग्य अर्थात् इन्द्रों के द्वारा ही करने योग्य ऐसी महामह नाम की पूजा करते है । ॥ १३-१४ ॥

भेदेन वर्णना का, सौधर्म᳟, स्नपनकर्तृतामापन्न ।
परिचारकभावमिता , शेषेन्द्रारून्द्रचद्रनिर्मलयशस. ॥ १५ ॥
मगलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो विभ्रतिस्म शुभ्रगुणाढ्या. ।
अप्सरसो नर्तक्य. शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यग्रधिय ॥ १६ ॥

अर्थ -- उन नन्दीश्वर द्वीप के चेत्यालयों का वर्णन और तो क्या कहना चाहिये वस इतने में ही समझ लेना चाहिय कि सौधर्म इन्द्र तो स्वय उन प्रतिमाओं के अभिषेक करने का काम करता है, और पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान जिनका निर्मल यश फैला हुआ है ऐसे बाकी के इन्द्र सब उस सौधर्म इन्द्र के परिचारक बन जाते है, अर्थात् उस महाभिषेक मे सहायता देते है, अन्य सब काम करते है । निर्मल गुणों को धारण करने वाली उन सौधर्म आदि इन्द्रो की महादेविया आठ महा मगल द्रव्य धारण करती है । अप्सराएँ नृत्य करती है । और बाकी के सब देव और देवियाँ उस अभिषेक

को देखने में तल्लीन रहते है । उस नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की महा पूजा का वर्णन बस इतने से सही समझ लेना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

वाचस्पतिवाचामपि, गोचरतांसव्यतीत्य यत्क्रममाणम् ।
विबुधपति विहित विभव, मानुष मात्रस्य कस्य शक्तिः
स्तोतुम् ॥ १७ ॥

अर्थ -- नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की पूजा सौधर्म आदिक इन्द्र ही अपनी पूर्ण विभूति के साथ करते है इसलिये उस पूजन का वर्णन करना बृहस्पति के वचनों की शक्ति के भी बाहर है । उस पूजन की शोभा और भक्ति का वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकता फिर भला उन चैत्यालयों की स्तुति करने में हम ऐसे मनुष्यों की शक्ति क्या काम दे सकती है ? अर्थात् उनकी स्तुति करना मनुष्य मात्र की शक्ति के बाहर है । जब वहां पर होने वाली पूजा का वर्णन बृहस्पति नही कर सकता, फिर उनकी स्तुति करना तो बहुत बड़ी बात है वह स्तुति भला मनुष्य से कैसे हो सकती है ? ॥ १७ ॥

निष्ठापितजिनपूजाश्, चूर्णस्नपनेन दृष्ट विकृत विशेषाः
सुरपतयो नदीश्वर, जिनभवनानि, प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥ १८ ॥
पचसु मदरगिरिषु, श्रीभद्रशाल नदन सौमनसम् ।
पाडुकवन मिति तेषु, प्रत्येक जिनगृहाणि,
चत्वार्येव ॥ १९ ॥
तान्यथ परीत्य तानि च, नमसित्वा, कृतसुपूजनास्तत्रापि ।
स्वास्पदमीयु. सर्वे, स्वास्पदमूल्य स्वचेष्टया संगृहय ॥ २० ॥

अर्थ -- सुगंधित चूर्ण से अभिषेक कर जिन्होंने महाभिषेक और जिनपूजा पूर्ण कर ली है और इसीलिये जिनको महा आनन्द आ रहा है उस आनन्द से जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है, ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयों की प्रदक्षिणा देते है, फिर ये सब इन्द्र अनुक्रम से पाचों मेरू पर्वतों पर आते है। एक-एक मेरू पर्वत पर भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन और पाँडुकवन ये चार-चार वन है । मेरू पर्वतों के सब से नीचे चारों ओर भद्रशाल वन है उनके ऊपर मेरू पर्वत के चारों ओर नन्दनवन है उसके ऊपर

तीसरी कटनी पर चारों ओर सौमनस वन है, और उसके ऊपर चारों और पांडुकवन है । इस प्रकार पांचों मेरू सम्बन्धी बीस वन है । इन वनों की चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है । इस प्रकार पांचों मेरू पर्वतों पर अस्सी चैत्यालय है । वे सब इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की प्रदक्षिणा देते है, फिर वहाँ पर भगवान् जिनेन्द्र देव की स्तुति करते है, बहुत उत्तम रीति से पूजा करते है और फिर उन्होंने जो अपने शरीर से अभिषेक पूजन परिचर्या आदि व्यापार किया है, उसके बदले महापुण्य रूपी भारी मूल्य वाले पदार्थ को लेकर अपने-अपने स्थान के लिये चले जाते है ॥ १८ से २० ॥

आगे उन चैत्यालयों की विभूति को दिखलाते है --

सहतोरणसद्वेदी परीत वनयाग वृक्षमानस्तंभ ।

ध्वजपंक्तिदशकगोपुर, चतुष्टय त्रितय शाल मडप वर्यैः ॥२१॥

अभिषेकप्रेक्षणिका, क्रीडनसंगीत नाटका लोकगृहैः ।

शिल्पिविकल्पितकल्पन, सकल्पातीत कल्पनैः समुपेतैः ॥२२॥

वापीसत्पुष्करिणी, सुदीर्घिकाद्यबुससृतैः समुपेतैः ।

विकसितजलरूहकुसुमै, र्नभस्यमानै, शशिग्रहर्क्षैः शरदि ॥२३॥

भृगाराब्दककलशा द्युपकरणैरष्टशतकपरिसंख्यानैः ।

प्रत्येक चित्रगुणैः, कृतझण झण निनद वितत घंटा जालैः ॥२४॥

प्रभ्राजते नित्य, हिरण्मयानीश्वरेशिनां भवनानि ।

गंधकुटीगतमृगपति विष्टर रूचिराणि विविध विभव युतानि ॥२५॥

अर्थ -- जिनका वर्णन ऊपर कह चुके है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के सब अकृत्रिम चैत्यालय, अकृत्रिम तोरणों से सुशोभित है, चारों ओर होने वाली वेदी से सुशोभित है, चारों ओर रहने वाले वनों से, यागवृक्षों से मान स्तम्भों से, दश-दश प्रकार की ध्वजाओं की पंक्तियों से, चार-चार गोपुरों से, तीन-तीन कोटों से, तीन-तीन शालाओं से और उत्तम-उत्तम मंडपों से सुशोभित है जहाँ बैठकर भगवान् का अभिषेक अच्छी तरह देखा जा सकता है ऐसे स्थल, क्रीड़ाभूमि, संगीतभूमि, और नाटक शालाओं से सुशोभित है । उन सब तोरण आदि की रचना उनको बनाने वाले कारीगरों के

द्वारा कल्पना की हुई रचना के भेदों के विचार से सर्वथा रहित है अर्थात् किसी चतुर कारीगर ने भी उनके बनाने की कल्पना नहीं की है क्योंकि सब तोरण आदि अकृत्रिम है, ऐसी अकृत्रिम शोभाओं से वे सब अकृत्रिम चैत्यालय शोभायमान है । वे सब अकृत्रिम चैत्यालय, गोल बावडियों से, चौकोर बावड़ियों से और बहुत गहरी बावडियों से सुशोभित है, उन सब बावडियों में सुन्दर निर्मल जल भरा हुआ है, और खिले हुए कमलों के पुष्प सुशोभित हो रहे है । उन कमलों से बावडियाँ ऐसी सुशोभित हो रही है मानो शरद् ऋतु में चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्रों से निर्मल आकाश ही शोभायमान हो रहा हो, अथवा वे बावड़ियाँ निर्मल आकाश के समान है और उनमें उत्पन्न हुए कमल चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रों के समान है ऐसी बावड़ियों से चैत्यालय सुशोभित हो रहे है । उन चैत्यालयों में प्रत्येक में एक सौ आठ श्रृंगार, दर्पण, कलश आदि मगल द्रव्य रक्खे हुए है । वे सब चैत्यालय अनेक प्रकार के गुणों से सुशोभित है, और झणझण शब्द करते हुए बहुत वडे-२ घटाओं के समूह, पक्तिवद्ध होकर, उन चैत्यालयों में लटक रहे है, उन चैत्यालयों मे बहुत मनोहर गधकुटी बनी हुई है उनमें सुन्दर मिहासन है उनसे वे चैत्यालय बहुत ही शोभायमान हो रहे हैं वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के चैत्यालय सुवर्ण के बने हुए है और अनेक प्रकार की विभूतियो से सुशोभित है । ऐसे वे अकृत्रिम चैत्यालय बहुत ही दैदीप्यमान और शोभायमान हो रहे है ।। २१ से २५ ।।

येषु जिनाना प्रतिमा., पचशतशरासनोच्छ्रिता: सत्प्रतिमा: ।
मणिकनकरजतविकृता, दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहा ।।२६।।
तानि सदावदेऽहं, भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि ।
यशसा महसा प्रतिदिश, मतिशय शोभा विभाजि
पापविभजि ।। २७ ।।

अर्थ -- व सब अकृत्रिम चैत्यालय सूर्य के विमान के समान देदीप्यमान है, इनकी शोभा अद्वितीय है, यश और तेज के स्थान है, प्रत्येक दिशा में होने वाली अपूर्व शोभा से सुशोभित है, और समस्त पापों का नाश करने वाले है, ऐसे उन अकृत्रिम चैत्यालयों को, मै मदा नमस्कार करता हूँ । उन चैत्यालयों में जो भगवान् की

प्रतिमाएँ विराजमान है वे पांचसौ धनुष ऊँची है, उनका आकार अत्यन्त मनोहर और सुन्दर है, सोना चादी और मणियों की बनी हुई है, और उनके शरीर की कांति करोड़ो सूर्यों की कांति से भी अधिकर देदीप्यमान है । ऐसी जिनप्रतिमाओं से सुशोभित उन चैत्यालयों को मै सदा नमस्कार करता हूं ॥ २६-२७ ॥

आगे तीर्थंकरो की स्तुति करते है·--

सप्तत्यधिकशतप्रिय, धर्मक्षेत्र गत-तीर्थंकर वर वृषभान् ।
भूतभविष्यत्संप्रति कालभवान्भव विहानये
विनतोऽस्मि ॥ २८ ॥

अर्थ -- इस मध्य लोक में एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्र है, अथवा कर्म भूमियां है उनमें श्रेष्ठ से श्रेष्ठ जो तीर्थंकर होते है, अथवा जो तीर्थंकर इन कर्मभूमियों में अब तक हो चुके है, आगे होंगे और वर्तमान काल में है उस सब के लिये मै अपना जन्म मरण रूप ससार नाश करने के लिये नमस्कार करता हू ॥ २८ ॥

श्री वृषभदेव का वर्णन --

अस्यामवसर्पिण्या, वृषभजिन. प्रथमतीर्थकर्त्ता भर्त्ता ।
अष्टापदगिरिमस्तक, गतस्थितो मुक्तिमाप
पापान्मुक्तः ॥ २९ ॥

अर्थ -- इस अवसर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर हुए उनमें से श्री वृषभदेव स्वामी प्रथम तीर्थंकर थे, तथा असि मसि आदि छहों कर्मों का उपदेश देकर सबके स्वामी थे । ये भगवान् समस्त पापो को नष्ट कर कैलाश पर्वत के शिखर पर से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष पधारे है ॥ २९ ॥

भगवान् वासुपूज्य की स्तुति --

श्रीवासुपूज्यभगवान्, शिवासु पूजासु पूजितस्त्रिदशानाम् ।
चंपाया दुरितहरः, परमपदं प्रापदापदामन्तगतः ॥ ३० ॥

अर्थ -- समस्त कर्मों को नाश करने वाले समस्त दु खों को दूर करने वाले और सर्वोत्तम पंच कल्याणकों में इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य ऐसे भगवान् वासुपूज्य स्वामी चंपापुर में मोक्ष पधारे है ॥ ३० ॥

मुदितमतिबलमुरारि, प्रपूजितो जितकषायरिपुरथ जातः ।
बृहदूर्जयन्तशिखरे, शिखामणिस्त्रिभुवनस्य नेमिर्भगवान् ॥३१॥

अर्थ -- कृष्ण और बलदेव दोनो भाईयों ने अत्यन्त प्रसन्न होकर जिनकी पूजा की है तथा जिन्होंने समस्त कषायरूपी शत्रुओं को जीत लिया है और जो तीनों लोकों के चूड़ामणि है, ऐसे भगवान् नेमीनाथ स्वामी गिरनार पर्वत पर से तीनों लोको के चूड़ामणि सिद्ध पद को प्राप्त हुए है ॥ ३१ ॥

पावापुरवरसरसा, मध्यगतः सिद्धिवृद्धितपसां महसां ।
वीरो नीरदनादो, भूरि गुणश्चारू शोभमास्पद मगमत् ॥ ३२ ॥

अर्थ .-- जो अपने इच्छित कार्यों को उत्पन्न करने में, उत्तम क्षमा आदि गुणों के उत्कर्ष करने में और अनशन आदि महातपश्चरण करने में सर्वोत्तम है जिनकी दिव्य ध्वनि का शब्द मेघ की गर्जना के समान है, जिनके गुण अनन्त है, और महातेजस्वी है ऐसे भगवान् महावीर स्वामी पावापुर नगर के समीपवर्ती उत्तम सरोवर के मध्य भाग से अनन्त सुख के स्थान ऐसे मोक्ष स्थान में जा विराजमान हुए है ॥ ३२ ॥

सम्मदकरिवनपरिवृत, सम्मेदगिरीन्द्रमस्तकेविस्तीर्णे ।
शेषा ये तीर्थंकराः, कीर्तिभृतः प्रार्थितार्थसिद्धिमवापन् ॥३३॥

अर्थ -- जिसमें मदोन्मत हाथी चारों ओर फिर रहे है ऐसे वनों से घिरे हुए सम्मेद शिखर पर्वत के विशाल मस्तक पर से अनन्त कीर्त्ति को धारण करने वाले बाकी के बीस तीर्थंकर सब के द्वारा प्रार्थनीय ऐसे मोक्ष को प्राप्त हुए है ॥ ३३ ॥

शेषाणां केवलिना, अशेषमतवेदिगणभृतां साधूनां ।
गिरितलविवरदरीसरि,
दुरूवनतरुविटपिजलधिदहनशिखासु ॥ ३४ ॥
मोक्षगतिहेतुभूत, स्थानानि सुरेन्द्ररून्द्रभक्तिनुतानि ।
मंगलभूतान्येता, न्यगीकृतधर्मकर्मणामस्माकम् ॥ ३५ ॥

अर्थ -- इन तीर्थंकरो के सिवाय अन्य सामान्य केवली जहां-जहां से मोक्ष पधारे है, समस्त मतों को जानने वाले गणधरदेव तथा सामान्य

साधु जहां-जहां से मोक्ष पधारे है, ऐसे पर्वत, पर्वतों के शिखर, पर्वतों के दर्रे, गुफायें, नदी, बड़े-बड़े वन, वृक्ष, वृक्षों के स्कंध, समुद्र और अग्नि की शिखाएं आदि जितने स्थान है जिनको इन्द्रादिकदेव भी बड़ी भक्ति से नमस्कार करते है जो मोक्ष के कारण भूत है और सबका कल्याण करने वाले है ऐसे वे स्थान धार्मिक कार्यो को स्वीकार करने वाले हम लोगों के लिए भी मंगल करने वाले हों ॥ ३४-३५ ॥

जिनपतयस्तत्प्रतिमा, स्तदालयास्तन्निषद्यका स्थानानि ।
ते ताश्च ते च तानि च, भवन्तुभवघातहेतवो
भव्यानाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ -- चौबीस तीर्थंकर, उनकी प्रतिमा, उनके भवन अर्थात् जिनालय और उनकी निर्वाण भूमि ये सब हम भव्य जीवों को जन्म मरण रूप ससार का नाश करने वाले हों ॥ ३६ ॥

आगे तीनों समय नन्दीश्वर भक्ति करने का फल कहते है --

सध्यासु तिसृषु नित्य, पठेद्यदि स्तोत्र, मेतदुत्तम यशसाम् ।
सर्वज्ञानां सार्वं, लघुलभते श्रुतधरेडितं, पद ममितम् ॥ ३७ ॥

अर्थ .-- जिनका यश ससार भर में उत्तम है, ऐसे भगवान् सर्वज्ञ देव का यह स्तोत्र जो भव्य जीव प्रात काल, मध्यान्हकाल और सांय काल तीनों समय पढ़ता है वह शीघ्र ही समस्त जीवों का कल्याण करने वाले और गणधरदेवों के द्वारा पूज्य ऐसे अनन्त काल तक रहने वाले मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

जन्म के दश अतिशय·--

नित्यं नि:स्वेदत्वं, निर्मलता क्षीरगौररूधिरत्व च ।
स्वाद्याकृतिसंहनने, सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥ ३८ ॥
अप्रमितवीर्यता च, प्रिय हित वादित्व मन्यदमित गुणस्य ।
प्रथिता दश विख्याता स्वतिशयधर्मा: स्वयंभुवो देहस्य ॥ ३९ ॥

अर्थ :-- भगवान् तीर्थंकर देव के शरीर में अन्य साधारण मनुष्य में न होने वाले दस अलौकिक अतिशय होते है १ उनके शरीर में पसीना नहीं आता, २ मलमूत्र नहीं होता, ३ रूधिर दूध के समान

सफेद होता है, ४ समचतुरस्र सस्थान होता है, ५ वज्रवृषभ नाराच संहनन होता है, ६ शरीर अत्यन्त सुन्दर होता है, ७ शरीर से सदा सुगंध आती रहती है, ८ शरीर पर उत्तम लक्षण रहते है, ९ अनंत शक्ति होती है, १० और उनके मुख से सबका हित करने वाले मधुर वचन निकलते है । अपरिमित गुणों को धारण करने वाले तीर्थंकर देव के ये दश स्वाभाविक गुण होते है ॥ ३९ ॥

केवल ज्ञान के दश अतिशय --

गव्यूति शत चतुष्टय, सुभिक्षता गगन गमन मप्राणिवधः ।
भुक्त्युपसर्गाभावश, चतुरास्यत्व च सर्व विद्येश्वरता ॥ ४० ॥
अच्छायत्व, मपक्ष्मस्पंदश्च सम प्रसिद्ध नखकेशत्वं ।
स्वतिशयगुणा भगवतो, घातिक्षयजा भवति तेऽपि दशैव ॥ ४१ ॥

अर्थ -- १ चार सौ कोस तक दुष्काल का न पडना, २ आकाश में गमन करना, ३ किसी जीव को बाधा न पहुँचाना, ४ कवलाहार ग्रहण न करना, ५ किसी प्रकार का उपसर्ग न होना, ६ चारों दिशाओं में चार मुख का दिखाई देना, ७ समस्त विद्याओं का ईश्वरपना प्रगट होना, ८ शरीर की छाया का न पड़ना, ९ नेत्रों की टमकार न लगनी, और १० नख केशों का न बढना ये दश अतिशय भगवान् तीर्थंकर परमदेव के, घातिया कर्मों के नाश होने पर होते है अर्थात् ये केवलज्ञान के दश अतिशय है ॥ ४०-४१ ॥

सार्वार्धमागधीया, भाषा मैत्री च सर्वजनताविषया ।
सर्वर्तुफलस्तवक, प्रवाल कुसुमोप शोभित तरू
परिणामा ॥ ४२ ॥
आदर्शतलप्रतिमा, रत्नमयी जायते मही च मनोज्ञा ।
विहरणमन्वेत्यनिलः, परमानंदश्च भवति
सर्वजनस्य ॥ ४३ ॥

अर्थ .-- १ समस्त जीवों को कल्याण करने वाली, भगवान् की दिव्य ध्वनि, अर्द्धमागधी भाषा में होती है, भगवान् की दिव्य ध्वनि एक

योजन तक सुनाई पड़ती है, परन्तु मागध जाति के देव उसे समवसरण के अंत तक पहुंचाते रहते है, तथा उस अनक्षरी भाषा को अर्द्धमागधी भाषा मे परिणत करते रहते है । जिसको समस्त प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते है । यह केवल ज्ञान का पहला अतिशय है । २ समवसरण में आने वाले समस्त प्राणी अपना जन्म से होने वाला बैर विरोध छोड़ कर, मैत्रीभाव से रहते है, यह दूसरा अतिशय है । ३ वहा की पृथ्वी के वृक्ष छहों ऋतुओं में होने वाले फल, गुच्छे, पत्ते और फूलों से सुशोभित रहते है, यह तीसरा अतिशय है । ४ वहां की पृथ्वी दर्पण के समान अत्यन्त निर्मल रहती है, अनेक प्रकार के रत्नों से बनी हुई होती है और बड़ी ही सुन्दर होती है यह चौथा अतिशय है । ५ भगवान् जिस दिशा की ओर विहार करते है वायु भी उसी दिशा की ओर बहती है । यह पाचवाँ अतिशय है । ६ वहाँ पर आने वाले समस्त जीवों को बडा ही आनन्द होता है । यह छठा अतिशय है ४२-४३॥

मरूतोऽपि सुरभिगंध, व्यामिश्रा योजनातर भूभागम् ।
व्युपशमित धूलिकंटक, तृण कीटक शर्करो-पल
प्रकुर्वन्ति ॥ ४४ ॥
तदनु स्तनित, कुमारा विद्युन्माला विलास हास विभूषाः
प्रकिरन्ति, पुरभिगन्धि गधोदक वृष्टि माज्ञया त्रिदश
पतेः ॥ ४५ ॥

अर्थ -- ७ जहां भगवान् विहार करते है वहां पर सुगन्ध मिली हुई वायु एक योजन तक की भूमि को धूलि, कांटे, तिनके, कीड़े और बालू पत्थर आदि को हटाकर स्वच्छ कर देती है । यह सातवाँ अतिशय है । ८ उसके अनन्तर बिजली की चमचमाट और बादलों की गर्जना ही जिनके आभूषण है ऐसे स्तनितकुमार जाति के देव इन्द्र की आज्ञा से सुगन्ध से मिली हुई गंधोदक की वृष्टि को करते है । यह आठवां अतिशय है ॥ ४४-४५ ॥

वरपद्मरागकेसर, मतुलसुखस्पर्श हेम मय दल निचयम् ।
पादन्यासे पद्म सप्त, पुरः पृष्ठतश्च सप्त भवंति ॥ ४६ ॥

अर्थ -- ९ भगवान् तीर्थंकर परमदेव जब विहार करते है तब देव उनके

चरण कमल के नीचे कमलों की रचना करते है । उन कमलों में उत्तम पद्मराग मणियों की केसर होती है, स्पर्श करने मात्र से अतुल सुख देने वाले ऐसे सुवर्ण के बने हुए उसके पत्ते रहते है । एक कमल, चरण कमल के नीचे रहता है, सात आगे होते है, और सात पीछे होते है । इस प्रकार सब पन्द्रह कमल होते है । अथवा च शब्द से अन्य समस्त कमलों की संख्या ले लेनी चाहिये । विशेष - सब कमल दो सौ पच्चीस होते है । एक कमल भगवान् के चरण कमल के नीचे रहता है । सात-सात कमल आठों दिशाओं में तथा उन आठों दिशाओं के मध्य के आठों भागों में रहते हैं । इस प्रकार एक सौ तेरह कमल होते है तथा उन सोलह पक्तियों के मध्य भाग में सात-सात कमलों की पंक्ति और होती है । इस प्रकार एक सौ बारह कमल ये होते हैं । सब मिलकर दो सौ पच्चीस कमल होते हैं । अथवा यों समझ लेना चाहिये कि एक कमल भगवान् के चरण कमल के नीचे रहता है सात कमल आगे होते है और सात पीछे होते हैं । ये सब पन्द्रह कमल होते है । इनमें से एक-एक कमल के दाईं ओर सात-सात कमल होते है । और बाईं और भी सात-सात कमल होते है । इस प्रकार पन्द्रह मध्य के कमल तथा एक सौ पांच दाईं ओर के कमल और एक सौ पांच बांई ओर के कमल होते हैं । सब मिला कर दो सौ पच्चीस हो जाते है । यह नौवां अतिशय है ।। ४६ ।।

फलभारनम्रशालि, व्रीह्यादि समस्त सस्य धृत रोमांचा ।
परिहृषितेव च भूमि, स्त्रिभुवन, नाथस्य वैभव पश्यंती ।। ४७ ।।

अर्थ -- १० भगवान् जहां पर विराजमान होते है, वहाँ पर की भूमि फल के बोझ से नम्र हुए, शाली, साठी, चावल आदि समस्त पके हुए धान्यों से सुशोभित रहती है, और इसीलिये ऐसी जान पड़ती है मानो, तीनों लोकों के स्वामी भगवान् अरहंत देव की विभूति को देखने से, उसे बहुत आनन्द हुआ है ओर इसीलिये मानो, उसके रोमांच खड़े हो गये है । यह दशवां अतिशय है ।। ४७ ।।

शरदुदय विमल सलिल सर इव गगन विराजते विगतमलम् ।
जहतिचदिशस्तिमिरिकां, विगतरजः प्रभृति जिह्मता
भावं सद्यः ।। ४८ ।।

अर्थ :-- ११. उस समय शरद ऋतु के आने से जिसका पानी अत्यन्त निर्मल हो गया है, ऐसे सरोवर के समान आकाश, बादल आदि सब दोषों से रहित अत्यन्त निर्मल हो जाता है और समस्त दिशाएं धूम्र रहित तथा धूल रहित और भी सब तरह की मलिनता रूपी कुटिलता से रहित होकर शीघ्र ही अत्यन्त निर्मल हो जाती हैं। यह ग्यारहवां अतिशय है ॥ ४८ ॥

एतेतेति त्वरितं ज्योति र्व्यंतर दिवौकसा ममृतभुजः ।

कुलिश भृदाज्ञापनया, कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो व्याह् वानम् ॥ ४९ ॥

अर्थ .-- १२ भगवान् अरहत देव की पूजा सेवा करने के लिये व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भवनवासी और कल्पवासी देव इन्द्र की आज्ञा से चारों ओर परस्पर एक दूसरे को बुलाते है। पूजा करने के लिये तुम भी आओ ! तुम भी आओ ! इस प्रकार शब्द करते है। यह बारहवा अतिशय है ॥ ४९ ॥

स्फुरदर सहस्र रूचिर, विमल महा रत्न किरण निकर

परीतम् ।

प्रहसित किरण सहस्र द्युति मडल मग्र गामि धर्म सुचक्रम् ॥

५० ॥

अर्थ -- १३ जिसमें देदीप्यमान, एक हजार आरे है, और उन्हीं से जो अत्यन्त सुन्दरता धारण करता है, जिसके चारों ओर अत्यन्त निर्मल ऐसे महारत्नों की किरणों के समूह शोभा दे रहे है, और जो अपनी कांति से सूर्य की कांति को भी तिरस्कृत करता है, ऐसा धर्म चक्र भगवान् के विहार करते समय सब से आगे-आगे चलता है। यह तेरहवां अतिशय है ॥ ५० ॥

इत्यष्ट, मगल च स्वादर्श प्रभृति भक्ति राग परीतैः ।

उपकल्प्यन्ते त्रिदशै, रेतेऽपि निरूपमातिशयाः ॥ ५१ ॥

अर्थ -- १४ इसी प्रकार अर्थात् धर्मचक्र के समान दर्पण आदि आठ मंगल द्रव्य भगवान् के सामने रक्खे रखते है। ये चौदहवां अतिशय है। भक्ति और अनुराग से सुशोभित रहने वाले देवताओं के द्वारा ये उपमा रहित चौदह धारण किये जाते हैं।

भावार्थ -- जन्म के दश अतिशय, केवल ज्ञान के दश अतिशय और देव

कृत चौदह अतिशय इस प्रकार कुल चौतीस अतिशयों का वर्णन किया ॥ ५१ ॥

अब आगे आठ प्रातिहार्यो का वर्णन करते है --

वैडूर्य रूचिर विटप, प्रवाल मृदु पल्लवोप शोभितशाखः ।
श्रीमानशोक वृक्षो, वर मरकत पत्र गहन बहलच्छायः ॥ ५२ ॥

अर्थ -- जिस अशोक वृक्ष का विस्तार वैडूर्यमणि की कांति के समान अत्यन्त सुन्दर है, जिसकी शाखए, नवीन अकुरो से और कोमल पत्तों से सुशोभित है, उत्तम मरकत मणि के समान जिनके हरे पत्ते है और पत्तों की वहुतायत होने मे जिसकी छाया बहुत बडी और बहुत घनी है, ऐसा अनेक प्रकार की शोभा से सुशोभित होने वाला, अशोक वृक्ष भगवान् के ममीप शोभायमान रहता है ॥ ५२ ॥

मदारकुन्दकुवलय, नीलोत्पल कमल, मालतीबकुलाद्यै. ।
समद भ्रमर परीतै, र्व्यामिश्रा, पतति कुसुम वृष्टि, र्नभसः ॥ ५३ ॥

अर्थ -- २ जिनके चारों और मदोन्मत्त भ्रमर फिर रहे है ऐसे मदार, कुंद, रात्रि विकासी कमल, नील कमल, श्वेत कमल, मालती बकुल आदि से मिले हुए फूलों के द्वारा आकाश में मदा पुष्पवृष्टि होती रहती है ॥ ५३ ॥

कटक कटि सूत्र कुन्डल, केयूर प्रभृति भूषितागौ, स्वगौ ।
यक्षौ कमलदलाक्षौ, परिनिक्षिपत. सलील चामर युगलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ -- ३ कडे, करधनी, कुडल, बाजूबद, आदि आभूषणों से जिनके शरीर सुशोभित हो रहे है तथा स्वाभाविक रीति से जिनके शरीर सुन्दर है, और कमल के दल के समान जिनके सुन्दर नेत्र है, ऐसे दो यक्ष लीला पूर्वक डुलते हुए दो चमरों को ढोलते रहते है ॥ ४५ ॥

आकस्मिक मिव युगपद् दिवसकर, सहस्र मपगत व्यवधानम् ।
भामडल मविभावित, रात्रिंदिव भेद मतितरा माभाति ॥ ५५ ॥

अर्थ -- ४ भगवान् का प्रभामडल, बहुत ही अच्छा सुशोभित होता है । वह भामंडल ऐसा जान पडता है, मानो हजारों सूर्य एक माथ अकम्मात उदय हो आये हों तथा उन हजारो मूर्यो मे काई अतर

भी नहीं रहा हो । उस प्रभामंडल से समवसरण में रात्रि दिन का भेद नष्ट हो जाता है, ऐसा वह भामंडल अत्यन्त देदीप्यमान होता रहता है ॥ ५५ ॥

प्रबल पवनाभिघात, प्रक्षुभित समुद्र घोष मन्द्र ध्वानम् ।
दध्वन्यते सुवीणा, वंशादि सुवाद्य दुन्दुभिस्तालसमम् ॥ ५६ ॥

अर्थ -- ५ प्रबल वायु के घात से क्षोभित हुए समुद्र के गंभीर शब्द के समान, जिनके मनोहर शब्द हो रहे है, ऐसे वीणा, वशी आदि सुन्दर बाजों के साथ, दुदुभि बाजे ताल के साथ-साथ, बडी मनोहर ध्वनि से बजते रहते है ॥ ५६ ॥

त्रिभुवन पतिता लांछन, मिदु त्रय तुल्य मतुल मुक्ता जालम्
छत्र-त्रय-च्, सुबृहद्, वैडूर्य विक्लृप्त दडमधिक मनोज्ञम् ॥ ५७ ॥

अर्थ -- ६ जो तीनों लोकों के स्वामीपने के चिन्ह है, जो ऊपर नीचे रक्खे हुए, तीन चन्द्रमाओं के समान है, जिनमें उपमारहित अनेक मोतियों की झालरें लग रही है, जो बहुत ही मनोहर है और जिनके दंड बडी-बडी वैडूर्य मणियों के बने हुए है, ऐसे तीन छत्र भगवान् के ऊपर सदा सुशोभित होते रहते है ॥ ५७ ॥

ध्वनिरपि योजनमेक प्रजायते श्रोत्र हृदयहारि गभीर.
ससलिल जलधर पटल, ध्वनितमिव प्रवितान्त,
राशावलय ॥ ५८ ॥

अर्थ -- ७ जिसकी ध्वनि पानी से भरे हुए बादलों की गर्जना के समान है, जो समस्त दिशाओं के समूह में व्याप्त हो रही है और जो कानों को तथा मन को अत्यन्त सुख देने वाली है ऐसी भगवान् की दिव्यध्वनि भी एक योजन तक पहुंचती है ॥ ५८ ॥

स्फुरितांशु रत्न दीधिति, परिविच्छुरिताऽमरेंद्र चापच्छायम् ।
ध्रियतेमृगेंद्रवर्यैः, स्फटिक शिला घटित सिह
विष्टर मतुल ॥ ५९ ॥

अर्थ -- ८ जिनकी किरणें चारों और फैल रही है, ऐसे रत्नों की किरणों से, जिसने इन्द्र धनुष भी अनेक रंग का बना दिया है, ऐसी अपूर्व शोभा को धारण करने वाला, तथा स्फटिक पाषाण का बनाया

हुआ ऐसा अत्यन्त उत्कृष्ट सिंहासन, सिहों के द्वारा, धारण किया जाता है ।। ५९ ।।

यस्येह चतुस्त्रिंशत्प्रवर, गुणा प्रातिहार्य लक्ष्म्यश्चाष्टौ ।
तस्मै नमो भगवते, त्रिभुवन परमेश्वरार्हते गुण महते ।। ६० ।।

अर्थ -- इस प्रकार इस जगत में उत्तम गुणों को धारण करने वाले जिनके चौतीस अतिशय है, आठ प्रातिहार्य की विभूतिया है, जो तीनों लोकों के परमेश्वर है । केवल ज्ञान से सुशोभित है और गुणों से पूज्य है ऐसे भगवान् अरहत देव के लिये, मै नमस्कार करता हूं ।। ६० ।।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये । (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भते ! णंदीसरभत्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सा लोचेउ । णदीसरदीवम्मि, चउदिस विदिसासु अजण, दधिमुह रदिकर पुरूणगवरेसु जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु, भवणवासिय वाण वितर, जोइसिय, कप्पवासियत्ति, चउविहा देवा सपरिवारा, दिव्वेहिं गधेहि, दिव्वेहिं पुप्फेहि, दिव्वेहिं धुव्वेहि, दिव्वेहि चुण्णेहिं, दिव्वेहि वासेहिं, दिव्वेहिं अक्खेहि, दिव्वेहि दीवेहि, दिव्वेहिं ण्हाणेहिं, आसाढकात्तियफागुणमासाण अट्ठमिमाइ काऊण जाव पुण्णिमंति, णिच्चकाल अचति, पूजंति, वदति, णमसति, णदीसरमहाकल्लाण करति, अहमवि इह सतो, तत्थसंताइं, णिच्चकाल अचेमि, पूजेमि; वदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झ ।

अर्थ -- हे भगवन्, मै नन्दीश्वर भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं । इसमें जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं । नदीश्वर द्वीप में चारों दिशाओं में तथा विदिशाओं में अंजनगिरि, दधिमुख और रतिकर पर्वत है । चारो दिशाओं में श्याम वर्ण के चार अंजनगिरि

पर्वत है । एक-एक अंजनगिरि पर्वत के चारों ओर एक-एक विशाल बावड़ी है, उसके मध्य भाग में एक-एक दधिमुख पर्वत है, इस प्रकार एक अंजनगिरि संबन्धी चारों बावड़ियों में चार दधिमुख है । उन चारों बावड़ियों के चारो कोनों पर रतिकर है, परन्तु अकृत्रिम चैत्यालय अंजनगिरि की ओर भीतरी कोनों पर है । इसलिए आठ रतिकरों पर ही चैत्यालय हैं तथा अंजनगिरि पर तथा चारों दधिमुखों पर चैत्यालय हैं । इस प्रकार एक दिशा में तेरह चैत्यालय हैं । चारों दिशाओं में बावन चैत्यालय हैं तीनों लोकों में रहने वाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी चारों प्रकार के देव, परिवार सहित आते हैं, और आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन महीने की शुक्ला अष्टमी से लेकर, पौर्णमासी पर्यंत, दिव्य गंध, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्य चूर्ण, दिव्यवस्त्र दिव्य अक्षत, दिव्य दीप और दिव्य अभिषेक से सदा अर्चा करते है, पूजा करते है, वंदना करते है और नमस्कार करते है । इस प्रकार नन्दीश्वर पर्व का महाउत्सव करते है । मै यहां रहकर उसी रीति से सदा अर्चा करता हूं, पूजा करता हू, वंदना करता हूं और नमस्कार करता हूं । मेरे दु.खों का नाश हो, और कर्मों का नाश हो, मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो ।

(इति नन्दीश्वर भक्ति)

१३

❀ अथ चैत्य भक्ति: ❀

श्री गौतमादिपदमद्भुतपुण्यबंध,

मुद्योतिताखिलममोघमघप्रणाशम् ।

वक्ष्ये जिनेश्वरमह प्रणिपत्यतथ्यं, निर्वाणकारणमशेष

जगद्धितार्थम् ।। १ ।।

अर्थ -- आगे के श्लोक 'जयति' इत्यादि के द्वारा श्री गौतम स्वामी, वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके । जगत् के हित के लिये चैत्य भक्ति का प्रारम्भ करते है-वे वर्धमान स्वामी कैसे है उनके ये निम्नलिखित विशेषण है-अद्भुत पुण्यबंध के निमित्त है, संपूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करने वाले है । पापों का नाश करने वाले है । तथ्य रूप है । निर्वाण के कारण है ।। १ ।।

विशेष --यह हरिणी छंद है और इसमें छह चार तथा सात अक्षरों पर विराम करना चाहिये --

जयति भगवान्, हेमाम्भोज-प्रचार, विजृम्भिता,

वमरमुकुटच्छायोद्गीर्ण, प्रभापरिचुम्बितौ ।

कलुषहृदया, मानोद्भ्रान्ता:, परस्परवैरिण:,

विगतकलुषा:, पादौ यस्य, प्रपद्य विशश्वसु: ।। २ ।।

अर्थ -- भगवान् अरहंत देव जब विहार करते है तब आगे पीछे पैर रखते हुए नहीं चलते किन्तु दोनों चरण कमल समान रखते हुए विहार करते है । वे आकाश में विहार करते है । चरण कमलों के नीचे देव लोग सुवर्णमय कमलों की रचना करते जाते है । उस समय भगवान् के चरण कमलों की शोभा बड़ी ही अच्छी जान पड़ती है । देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों से जो प्रभा निकलती है, उसके संयोग से उन चरण कमलों की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती है । ऐसे भगवान् के उन चरण कमलों को पाकर जिनके हृदय अत्यन्त क्रूर है, और अभिमान के कारण जो अपने आत्मा

के यथार्थ स्वरूप से च्युत हो रहे है, ऐसे परस्पर वैर विरोध रखने वाले, सर्प नौला आदि जीव भी अपने-अपने क्रूर स्वभाव को छोड़ कर परस्पर एक दूसरे का विश्वास करने लग जाते है, अत्यन्त शाँत हो जाते हैं । जिनके चरण कमलों की यह ऐसी महिमा है वे भगवान् इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य वा केवल ज्ञानी जिनेन्द्र देव सदा जयशील हो ॥ २ ॥

तदनु जयति, श्रेयान्, धर्मः, प्रवृद्ध महोदयः,
कुगतिविपथ, क्लेशाद्योसौ, विपाशयति प्रजाः ।
परिणतनय, - स्यांगीभावद्, विविक्तविकल्पितम्,
भवतु भवतस्, त्रातृत्रेधा, जिनेन्द्रवचोऽमृतम् ॥ ३ ॥

अर्थ -- जो नरकादिक दुर्गतियों में पड़ते हुए प्राणियों का उद्धार करदे, उनको मोक्ष स्थान में पहुँचा दे, उसको धर्म कहते है । यह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आदि भेद से दस प्रकार है अथवा चारित्र के भेद से अनेक प्रकार है । इससे स्वर्ग, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के पद प्राप्त होते है इसलिये यह धर्म, अत्यन्त कल्याणकारी है । इस धर्म के प्रभाव से, जीवों के नरकादिक दुर्गतियों का नाश होता है । मिथ्यात्व, कषाय आदि कुमार्गों का नाश होता है और अनेक प्रकार के दु खों का नाश होता है । ऐसा यह उत्तम धर्म भी, इस संसार में जयशील हो । इसके अनन्तर, मै भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी की जय बोलता हूं । भगवान् के वचन अमृत के समान है । जिस प्रकार अमृत से शारीरिक दु ख नष्ट हो जाते है और शरीर की पुष्टि होती है उसी प्रकार भगवान् के वचनों के अनुसार चलने से, नरकादिक के घोर दु.ख भी दूर हो जाते है और अनुपम सुख की प्राप्ति होती है । इस जिनवाणी की रचना अंग पूर्वरूप से गणधर देव ने की है, अथवा पूर्वापर विरोध रहित इसकी रचना हुई है अथवा अंग पूर्वरूप अनेक प्रकार से इसकी रचना हुई है । तथा द्रव्यार्थिक नय को गौण कर, और पर्यायार्थिक नय की मुख्य वा स्वीकार कर इसकी रचना हुई है । यह जिनवाणी उत्पाद व्ययध्रौव्यरूप से तीन प्रकार है अर्थात् तीन प्रकार से पदार्थों का स्वरूप निरूपण करती है अथवा १. अंग, २ पूर्व, और ३ अंग बाह्य के भेद से तीन प्रकार है । और यह जिनवाणी ही इन जीवों को संसार के दुःखों से बचाती है । ऐसी

यह जिनवाणी इस संसार में सदा जयशील हो ।। ३ ।।

आगे ज्ञान की स्तुति करते है --

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः, प्रभंगतरंगिणी,
प्रभवविगम, ध्रौव्यद्रव्य, स्वभावविभाविनी ।
निरूपमसुखस्येदं द्वार, विघटय् निरर्गलम्,
विगतरजस, मोक्षं देयान् निरत्ययमव्ययम् ।। ४ ।।

अर्थ -- भगवान् जिनेन्द्रदेव का केवलज्ञान मतिज्ञानादिक से अत्यन्त श्रेष्ठ है, इसलिये यह केवल ज्ञान भी सदा जयशील हो । यह केवलज्ञान एक नदी के समान है । जिस प्रकार नदी लहरों से भरपूर रहती है उसी प्रकार यह केवल ज्ञानरूपी नदी सप्तभंगरूपी लहरों से सदा भरपूर रहती है । 'स्यात् अस्ति स्यान्नास्ति' इत्यादि सप्तभंगनय प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है । उन सब को केवलज्ञान जानता है । इसलिए केवलज्ञान भी सप्तभंगमय है । उत्पाद व्यय और ध्रौव्य प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव वा स्वरूप है उसको भी प्रकाशित करने वाला यह केवलज्ञान ही है । ऐसा यह केवलज्ञान सदा जयशील हो । इस प्रकार आचार्य ने भगवान् जिनेन्द्रदेव की, उनके कहे हुए धर्म की, उनकी वाणी और उनके केवलज्ञान की स्तुति की । अब आगे आचार्य कहते है कि अनुपम अनंत सुख की प्राप्ति मोक्ष में होती है, उसका दरवाजा इस मोहनीय कर्म ने ढक रक्खा है तथा उस पर अन्तराय कर्म का अर्गल वा बेड़ा लगा रक्खा है । अतएव आचार्य भगवान् जिनेन्द्र देव से, धर्म से, जिनवाणी से और केवलज्ञान से प्रार्थना करते है कि हे प्रभो ! आप इस मेरे मोहनीय कर्म को नाशकर अनंत सुख का दरवाजा खोल दीजिये और अन्तराय कर्म को नाश कर अर्गल व बेड़ा भी हटा दीजिये क्योंकि बिना अर्गल हटाये मनुष्य दरवाजे के खुल जाने पर भी (सकल खोल देने पर भी) भीतर नहीं जा सकता । हे प्रभो ! इस प्रकार दरवाजे को खोलकर और बेड़ा हटाकर अर्थात् मोहनीय और अन्तराय कर्म का नाशकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म से रहित अथवा समस्त कर्मों से रहित सब तरह की व्याधियों से रहित वा जन्ममरण से रहित और अविनश्वर (कभी न नाश होने वाली) ऐसी अनन्त सुखमय मोक्ष, मुझे प्रदान कीजिये ।। ४ ।।

आर्या छंद-अर्हत्सिद्धाचार्यो, पाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्य: ।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो, नमोऽस्ते सर्वत्र सर्वेभ्य: ।। ५ ।।

अर्थ :-- तीनों लोकों मे समस्त प्राणियों के द्वारा वंदनीय ऐसे समस्त अरहंतों को, समस्त सिद्धों को, समस्त आचार्यों को, समस्त उपाध्यायों को और समस्त साधुओं को मेरा नमस्कार हो । भावार्थ -- मै समस्त पांचों परमेष्ठियों के लिए नमस्कार करता हूं ।। ५ ।।

आगे आचार्य पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार कर लेने पर भी अरहंतो को फिर नमस्कार करते है क्योंकि इस ससार में भव्य जीवों का उपकार अरहंतों से ही होता है । अरहंत ही धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों का विशेष उपकार करते है

मोहादिसर्वदोषा, रिघातकेभ्य: सदाहतरजोभ्य: ।
विरहितरहस्कृतेभ्य:, पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भय: ।। ६ ।।

अर्थ -- मोहनीय कर्म और क्षुधा, तृषा आदि दोष इस जीव के शत्रु है, क्योंकि जिस प्रकार शत्रु दु:ख देता है उसी प्रकार ये सब, इस जीव को दु:ख देने वाले है । ये समस्त शत्रु जिन्होंने नाश कर दिये है । तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों कर्म रूपी रज को जिन्होंने सदा के लिये नाश कर दिया है, जिन्होंने अन्तराय कर्म को सर्वथा नष्ट कर दिया है, और इस प्रकार घातिया कर्मो को सर्वथा नाश कर देने से इन्द्रादिक देवों के द्वारा भी सर्वोत्कृष्ट रीत्ति से पूज्य हुए है, ऐसे भगवान् अरहंत देव को मै बार-बार नमस्कार करता हूं ।। ६ ।।

इस प्रकार अरहंत को नमस्कार कर आगे धर्म के लिये नमस्कार करते है:--

क्षान्त्यार्जवादिगुणगण, सुसाधनं सकललोकहितहेतुं ।
शुभधामनि धातारं, वंदे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम् ।। ७ ।।

अर्थ :-- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशधर्म रूपी गुणों के समूह का जो साधन हैं जो समस्त प्राणियों के हित का कारण है और मोक्षरूप शुभ स्थान को प्राप्त करने वाला है ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुए, चारित्ररूप धर्म की मै वंदना करता हूं । अथवा

इन ऊपर लिखे हुए गुणों से सुशोभित उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य संयम, तप, त्याग, आंकिचन्य, ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के धर्म की मैं वंदना करता हूं।

यहां पर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि चारित्ररूप धर्म को वंदना करना तो ठीक है क्योंकि वह उत्तम क्षमा आदि गुणों का साधन है परन्तु यदि उत्तम क्षमादिक दश धर्मों की ही वंदना की जायेगी तो फिर वे अपने ही कारण कैसे माने जायेंगे क्योंकि वह धर्म उत्तम क्षमादिक का कारण है ऐसा उस धर्म का विशेषण किया जा चुका है। परन्तु इसका उत्तर यह है कि उत्तम क्षमादिक दश प्रकार का धर्म दो प्रकार है। एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। द्रव्यरूप क्षमादिक के लिए भावरूप क्षमादिक कारण है और भाव रूप क्षमादिक के लिए द्रव्य रूप क्षमादिक कारण है। क्योंकि बिना द्रव्यरूप क्षमादिक के भावरूप क्षमादिक धर्म नहीं होते और बिना भावरूप क्षमादिक के द्रव्यरूप क्षमादिक नहीं होते। इस प्रकार कार्य कारण भाव होने से कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं होता ।। ७ ।।

जिन धर्म की स्तुति कर अब आगे जिनवाणी की स्तुति करते है.--

मिथ्याज्ञानतमोवृत, लोकैकज्योतिरमितगमयोगि ।
सागोपागमजेय, जैनं वचन सदा वदे ।। ८ ।।

अर्थ -- विरीत ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहते है। वह एक प्रकार से अधकार के समान है। उससे यह समस्त लोक आच्छादित हो रहा है। उसको प्रकाशित करने के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन एक अद्वितीय प्रकाश के समान हैं। क्योंकि वे वचन समस्त जीवादिक पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। उन भगवान् जिनन्द्रदेव के वचनों का सम्बन्ध केवलज्ञान से है, क्योंकि केवलज्ञान के प्रकट होने से ही वे दिव्य ध्वनिरुप वचन निकलते है। अथवा अमितगम का अर्थ श्रुतज्ञान भी है। क्योंकि श्रुतज्ञान भी समस्त पदार्थों को जानता है। उससे जिनेन्द्रदेव के वचनों का सम्बन्ध है, क्योंकि वह श्रुतज्ञान की रचना जिनेन्द्रदेव के वचनों के अनुसार ही तो होती है। इसके सिवाय वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन, अंग, उपांग सहित हैं। आचारांग आदि अंग कहलाते है और पूर्व वस्तु उपांग कहलाते है। इन दोनों से युक्त वे वचन हैं। तथा वे वचन अजेय है एकांत वादियों के द्वारा वे कभी जीते नही जा सकते इसलिए वे अजेय कहे जाते है। ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव

के कहे हुए वचनों को मै सदा नमस्कार करता हूं । मै किसी नियत समय पर ही वंदना नहीं करता किन्तु सदा करता हूं इसके लिए सदा शब्द दिया है । तथा जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनों को, ही वंदना करता हूं अन्य ईश्वर वा महादेव के कहे हुए वचनों को नही । इसलिए आचार्य ने जैन शब्द दिया है । मै जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनों को ही वंदना करता हूं । अन्य कोई नही ॥ ८ ॥

आगे भगवान् की प्रतिमा को नमस्कार करते है:--

भवनविमानज्योति, र्व्यन्तर, नरलोक, विश्वचैत्यानि ।
त्रिजगदभिवंदितानां, त्रेधा वन्दे जिनेन्द्राणाम् ॥ ९ ॥

अर्थ -- जिनको तीनों लोकों के समस्त प्राणी नमस्कार करते है ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएं, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के समस्त निवास स्थानों में है तथा मनुष्य लोक में वा मध्यलोक में भी सब जगह विराजमान है । उन सबको मै मन, वचन, काय से नमस्कार करता हूं ॥ ९ ॥

आगे चैत्यालयों की स्तुति करते है --

भुवनत्रयेऽपि भुवन, त्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणां ।
वदे भवाग्निशान्त्यै: विभवानामालयालीस्ता: ॥ १० ॥

अर्थ .-- जो जन्ममरण रुप संसार से सर्वथा रहित है और देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि तीनों लोकों के स्वामियों के द्वारा सदा पूज्य है ऐसे तीर्थंकर परमदेव के भवन वा जिनालय इन तीनों लोकों में जितने है, उन सबको मै अनेक प्रकार के दु:खरूप संताप का कारण ऐसी संसाररूपी अग्नि को शांत करने के लिए नमस्कार करता हूं ॥ १० ॥

आगे स्तुति करने वाला अपनी स्तुति का उपसंहार कर उस स्तुति के फल की याचना करता है--

इति पंचमहापुरूषा:, प्रणुता जिनधर्मवचन चैत्यानि ।
चैत्यालयाश्च विमलां, दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥ ११ ॥

अर्थ -- इस प्रकार मैने पंच परमेष्ठियों की स्तुति की, जिनधर्म, जिनवचन, जिन प्रतिमा और जिनालयों की स्तुति की । इसलिए ये सब मेरे लिये अत्यन्त निर्मल वा कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले और

गणधरादिक विद्वानो को भी इष्ट ऐसे रत्नत्रय की प्राप्ति देवें ।। ११ ।।

आगे आचार्य कृत्रिम और अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं की स्तुति करते है.--

अकृतानि कृतानि चा, प्रमेयद्युतिमन्ति, द्युतिमत्सुमंदिरेषु
मनुजामरपूजितानि वदे, प्रतिबिंबानि
जगत्त्रये जिनानाम् ।। १२ ।।

अर्थ -- इन तीनों लोकों में अत्यन्त देदीप्यमान समस्त जिनालयो में जो कृत्रिम और अकृत्रिम भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमाएं जो मनुष्य और देवों के द्वारा पूज्य है उन समस्त प्रतिमाओं को मै नमस्कार करता हूं ।। १२ ।।

द्युतिमंडलभासुराङ्गयष्टी, प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम् ।
भुवनेषु विभूतये प्रवृता, वपुषा प्राञ्जलिरस्मि वंदमानः ।। १३ ।।

अर्थ -- जिस प्रकार लकड़ी समुद्र से पार कर देती है उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी ससारी प्राणियों को इस संसार समुद्र से पार कर देता है । इसलिए वह भगवान् का शरीर एक प्रकार से लकड़ी के समान है । जिनकी शरीर रूपी लकड़ी प्रभामंडल से अत्यन्त देदीप्यमान हो रही है । अर्थात् जो प्रतिमाएं प्रभामंडल से अत्यन्त प्रभा युक्त हो रही है और संसार में जिनकी कोई उपमा नहीं है, तेज वा स्वरूप से भी जिनकी कोई उपमा नहीं है ऐसी तीनों लोकों में विराजमान जो भगवान् अरहंत देव की प्रतिमाएं है उनको नमस्कार करता हुआ मै, अरहंत आदि परमेष्ठियो की विशेष विभूति प्राप्त करने के लिए, अथवा स्वर्ग मोक्ष देने वाले पुण्य की प्राप्ति करने के लिए, हाथ जोड़कर नम्रीभूत होता हूं अर्थात् उन सब प्रतिमाओ को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूं ।। १३ ।।

विगतायुधविक्रियाविभूषा., प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणां
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषुकान्त्याऽप्रतिमाः
कल्मषशान्तयेऽभिवंदे ।। १४ ।।

अर्थ -- जो कृतकृत्य हैं अर्थात् जिन्होंने घातिया कर्मों को सर्वथा नष्ट कर दिया है, केवल शुभ कर्म जिनके शेष है ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव

की प्रतिमाएं इस संसार में अनेक जिनालयों में विराजमान है, वे प्रतिमाएं सब प्रकार के आयुधों से रहित है, सब तरह के विकारों से रहित है और सब तरह के आभूषणों से रहित है, उनकी कांति संसार भर में सबसे अधिक है और जैसा अरहंत देव का स्वरूप है वैसे ही स्वभाव वाली वे प्रतिमाएं है । ऐसी उन भगवान् जिनेन्द्रदेव की समस्त प्रतिमाओं की, मैं अपने पापों को नाश करने के लिए सन्मुख होकर स्तुति करता हूं ।। १४ ।।

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं, परया शांततया भवान्तकानाम् ।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति, प्रतिरूपाणि विशुद्धये
जिनानाम् ।। १५ ।।

अर्थ .-- जन्ममरण रूप संसार को नाश करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव की वे प्रतिमाएं चारों ओर से अत्यन्त सुन्दरता को धारण करती है तथा कषाओं के अभाव होने से जो अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी प्राप्त होती है अनंत चतुष्टय और समवसरणादिक विभूति प्राप्त होती है उसको वे प्रतिमाएं अपनी अत्यन्त शांतता के द्वारा सूचित करती है ऐसी उन जिनेन्द्रदेव की समस्त प्रतिमाओं को, मैं अपने कर्मरूपी मल को दूर कर आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध बनाने के लिये नमस्कार करता हूं ।। १५ ।।

आगे आचार्य स्तुति के फल की प्रार्थना करते है.--

यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं, सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन ।
पटुना जिनधर्म एव भक्ति, र्भवताज्जन्मनि जन्मनि
स्थिरा मे ।। १६ ।।

अर्थ -- तीनों लोकों में प्रसिद्ध ऐसी भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की भक्ति करने से मुझे यह जो कुछ पुण्य की प्राप्ति हुई जिससे कि मन, वचन, काय के द्वारा होने वाला समस्त पाप रूक जाता है ऐसे अत्यन्त सामर्थ्य को धारण करने वाले, उस पुण्य से मुझे जन्म-जन्म में सदा स्थिर रहने वाली जिनधर्म की भक्ति ही प्राप्त हो ।। १६ ।।

आगे चारों प्रकार के देवों के विमानों में और मनुष्य लोक में होने वाले चैत्यालयों की स्तुति करते है:--

अर्हतां सर्वभावाना, दर्शनज्ञानसंपदाम् ।

कीर्तयिष्यामि चैत्यानि, यथाबुद्धि विशुद्धये ।। १७ ।।

अर्थ :-- समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाले अथवा परम उदासीन रूप पूर्ण चारित्र को धारण करने वाले और क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञानरूपी संपत्ति को धारण करने वाले अथवा क्षायिक दर्शन, एवं क्षायिक ज्ञान से प्रकट होने वाली समवसरणादिक विभूति को धारण करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव की जितनी प्रतिमाएं है उनको मै अपने कर्मों का नाश करने के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूं ।। १७ ।।

श्रीमद्भवनवासस्था, स्वयंभासुरमूर्तय: ।

वंदिता नो विधेयासु:, प्रतिमा: परमां गतिम् ।। १८ ।।

अर्थ -- जिनकी मूर्ति अपने आप देदीप्यमान हो रही है, ऐसी भगवान् जिनेन्द्रदेव की जो प्रतिमाए बडी विभूति को धारण करने वाले भवनवासियों के भवनों में विराजमान है उनको मै नमस्कार करता हू । वे प्रतिमाएं हमारे लिये मोक्षरूप परमगति को देवें ।। १८ ।।

यावति सति लोकेऽस्मिन्न कृतानि कृतानि च ।

तानि सर्वाणि चैत्यानि, वदे भूयांसि भूतये ।। १९ ।।

अर्थ -- इन मध्य लोक में जो बहुत सी अकृत्रिम प्रतिमाएं है और बहुत सी कृत्रिम प्रतिमाए हैं उन सबको मै मोक्ष की परम विभुति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हू ।। १९ ।।

ये व्यतरविमानेषु, स्थेयांस: प्रतिमागृहा: ।

ते च सख्यामतिक्रान्ता:, सतु नो दोषविच्छदे ।। २० ।।

अर्थ -- व्यंतर देवों के विमानो में जो सदा स्थिर रहने वाले प्रतिमाओं के स्थान है वा चैत्यालय है, जिनकी संख्या असंख्यात है, वे सब असंख्यात चैत्यालय मेरे राग द्वेष आदि दोषों को नाश करने वाले हों ।। २० ।।

ज्योतिषामथ लोकस्य, भूतयेऽद्भुतसपद: ।

गृहा: स्वयंभुव: संति विमानेषु नमामि तान् ।। २१ ।।

अर्थ -- ज्योतिषी देवो के विमानों में, जो अत्यन्त आश्चर्य उत्पन्न करने

वाली संपत्ति को धारण करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव के चैत्यालय है उन सबको मैं समवसरण की विभूति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ।। २१ ।।

वंदे सुरकिरीटाग्र, मणिच्छायाभिषेचनम् ।
या: क्रमेणैव सेवन्ते, तदर्च्चा: सिद्धिलब्धये ।। २२ ।।

अर्थ :-- वैमानिक देवों के मुकुटों के अग्रभाग में लगे हुए मणियों की कांति से जिनके चरण कमलों का अभिषेक किया जाता है अर्थात् समस्त वैमानिक देवों के नमस्कार करने से उनके मुकुटों में लगे हुए बड़े-बड़े मणियों की कांति जिनके चरण कमलों पर पड़ती है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं को मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये, नमस्कार करता हूं ।। २२ ।।

आगे इस स्तुति के फल की प्रार्थना करते है·--

इति स्तुतिपथातीत श्रीभृतामर्हतां मम ।
चैत्यानामस्तु सकीर्ति:, सर्वास्रवनिरोधिनी ।। २३ ।।

अर्थ -- भगवान् अरहंत देव जो अनंत चतुष्टय आदि अंतरग विभूति धारण करते है और समवसरण आदि बहिरग विभूति धारण करते है, उनकी स्तुति वा वर्णन इन्द्रादिक देव भी नहीं कर सकते ऐसी अपूर्व विभूति को धारण करने वाले भगवान अरहंत देव की प्रतिमाओं की जो मैंने स्तुति की है वह मेरे समस्त कर्मों के आस्रव को रोकने वाली हो ।

भावार्थ --इस स्तुति के करने से मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो ।। २३ ।।

आगे आचार्य भगवान् अरहंत देव का स्वरूप वर्णन करते है तथा वह भी एक महानद की उपमा के साथ वर्णन करते है.--

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवन भव्य जन तीर्थ यात्रिकदुरितं ।
प्रक्षालनैक कारण मति लौकिक कुहक तीर्थ
मुत्तम तीर्थम् ।। २४ ।।

अर्थ ·-- नदियों का प्रभाव पूर्व दिशा की ओर होता है परन्तु जिनका प्रवाह पश्चिम दिशा की ओर हो उनको नद कहते है । आचार्य ने भगवान् अरहंतदेव को भी एक नद बताया है । क्योंकि संसार

रूपी नदी का प्रवाह अनादि काल से चल रहा है । जीवों का प्रवाह संसार की ओर जा रहा है और अरहंत भगवान् का प्रवाह मोक्ष की ओर जा रहा है । इसीलिए इनको आचार्य ने नद की उपमा दी है । यह अरहंत रूपी नद बहुत विस्तृत है इसलिए इसको महानद कहते है । जिस प्रकार महानद में तीर्थ होते है । उसी प्रकार इसमें भी ग्यारह अंग चौदह पूर्वरूपी उत्तम तीर्थ है । जिनके द्वारा यह जीव संसार से पार हो जावे उनको तीर्थ कहते है इन द्वादशांग से संसार के प्राणी तिर जाते है इसलिये इस द्वादशाँग को निरूपण करने वाला भगवान् का मत सबसे उत्तम तीर्थ है नदी के तीर्थ से शरीर का मल दूर होता है परन्तु भगवान् अरहंत देव रूपी महानद के कार्य में स्नान करने से पाप रूपी समस्त मल नष्ट हो जाते है और भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । संसार में अन्य जितने तीर्थ है सब दंभ और ढोंग से भरे हुए है । परन्तु भगवान् अरहंत रूपी महानद का तीर्थ उन सब को नीचा दिखाता है और अपनी उत्तमता प्रगट करता है । यह तीर्थ असाधारण है, सर्वश्रेष्ठ है । तीनों लोकों में यात्रा करने वाले भव्य जीवों के पापों को नाश करने में यह अरहंत भगवान् रूपी महानद का तीर्थ एक अद्वितीय कारण है इसीलिए यह एक अलौकिक और महाउत्तम तीर्थ है । ऐसा यह भगवान् अरहंत देव रूपी महानद का तीर्थ मेरे समस्त पापों का नाश करो ॥ २४ ॥

कदाचित कोई यह कहे कि तीर्थ का प्रवाह बहता है इस अरहंत देव रूपी महानद का प्रवाह नहीं बहता होगा उसके लिये आचार्य कहते है

लोकालोकसुतत्त्व, प्रत्यव बोधन समर्थ दिव्यज्ञान ।
प्रत्यह वहत्प्रवाहं व्रत शीला मल विशाल कूल द्वितयम् ॥ २५ ॥

अर्थ -- लोक और अलोक का जो स्वरूप है जीवादिक पदार्थों का जो यथार्थ स्वरूप है उसकी पूर्ण रूप से जानने की सामर्थ्य रखने वाला जो केवल ज्ञान रूप दिव्य ज्ञान है, अथवा मति, श्रुत, अवधि, मन·पर्यय, केवज्ञानमय सम्यग्ज्ञान रूपी जो दिव्य ज्ञान है उसका प्रवाह इस भगवान् अरहंत देव रूपी महानद से प्रति दिन बहता रहता है । भावार्थ - जिस प्रकार तीर्थ से पानी का प्रवाह बहता है उसी प्रकार अरहंत देव रूपी महानद से समस्त तत्त्वों को निरूपण करने वाले दिव्य ज्ञान का प्रवाह सदा बहता रहता

है । कदाचित् कोई यह कहे कि इस महानद का कोई किनारा नही है तो इसके लिए आचार्य कहते है कि पांच महाव्रत और अठारह हजार भेदों के लिए हुए शील मे दोनों ही उस महानद के निर्मल और विस्तीर्ण किनारे है ।। २५ ।।

यहाँ पर कदाचित कोई यह कहे कि महानद के किनारे राजहंस रहते है वह गंभीर शब्द से गर्जता रहता है और बालू से सुशोभित रहता है । ये सब शोभाएं इस अरहंत देव रूपी महानद मे नहीं होंगी । उसके लिए आचार्य कहते है :--

शुक्ल ध्यान स्तिमित स्थित राजदराजहंस राजितमसकृत्
स्वाध्याय मंद्रघोषं नाना गुण समिति गुप्ति सिकता
सुभगम् ।। २६ ।।

अर्थ .-- इस अरहंत देव रूपी महानद के किनारे, शुक्ल ध्यान रूपी राजहस, अत्यन्त स्थिरता के साथ खड़े हुए बहुत ही अच्छे जान पड़ते है । उससे यह महानद बहुत ही शोभायमान रहता है । लाभ, पूजा कीर्ति की इच्छा के बिना जो सर्वदा स्वाध्याय होता रहता है उसकी गंभीर ध्वनि उस महानद की मनोहर ध्वनि होती रहती है । अनेक प्रकार के अर्थात् चौरासी लाख संख्या को धारण करने वाले उत्तर गुण, पांच समिति, तीन गुप्ति , ये ही सब उस महानद में सुन्दर बालू है उससे वह महानद अपूर्व ही शोभा को धारण करता है ऐसा वह अरहंत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापों को दूर करे ।। २६ ।।

कदाचित् कोई यह कहे कि अन्य महानदों के तीर्थों में भ्रमर पड़ते है चारों ओर पुष्पलतायें होती हैं और उसमें सदा लहरें उठती रहती है । यह सब शोभा इस अरहंत देव रूपी महानद में नहीं है इसके लिये आचार्य कहते हैं :--

क्षान्त्या वर्त सहस्रं सर्वदया विकच कुसुम
विलसल्लतिकम्
दुःसह परीषहाख्य द्रुततर रंगत्तरंग भंगुर
निकरम् ।। २७ ।।

अर्थ -- भगवान् अरहंत देव रूपी महानद मे, उत्तम क्षमा के हजारों भ्रमर

सदा पड़ते रहते है । समस्त प्राणियों की दया ही खिले हुए फूलो से सुशोभित रहने वाली लता, वहा पर सदा शोभा को बढ़ाती रहती है । तथा जो बड़ी कठिनता से सही जा सके ऐसे क्षुधा पिपासा आदि बाईस परीषह ही उसमें अति शीघ्रता के साथ चारों और फैलती हुई और क्षण-क्षण में नाश होती हुई लहरें सदा उठती रहती है ऐसा वह अरहंत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापों को दूर करे ॥ २७ ॥

कदाचित् कोई यह कहे कि महानद में फेन वा झाग नही होते शैवाल वा काई नहीं होती, कीचड़ नही होती, और मगरमच्छ नहीं होते, तभी उस तीर्थ की सेवा की जाती है । परन्तु इस महानद रूपी तीर्थ में ये होंगे इसके उत्तर में आचार्य कहते है --

व्यपगतकषायफेन, रागद्वेषादिदोषशैवलरहितं ।

अत्यस्तमोहकर्दम, मतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम् ॥ २८ ॥

अर्थ -- फेन पानी को शुद्ध नही होने देता मलिन कर देता है । जिस प्रकार तीर्थ में फेन नहीं होता उसी प्रकार अरहंत देव रूपी महानद में आत्मा को कलुषित करने वाला कषाय रूपी फेन सर्वथा नहीं होता, जिस प्रकार तीर्थ में शैवाल वा काई नहीं होती क्योंकि काई होने मे मनुष्य, पैर फिसलने से गिर पड़ता है, उसी प्रकार अरहंत देवरूपी महानद में राग, द्वेष आदि दोष रूपी शैवाल नहीं होते । जिस प्रकार शैवाल गिरने का कारण है उसी प्रकार राग, द्वेष आदि दोष भी, व्रतियों को अपने व्रत से गिरा देते है । इसीलिए वे अरहत देवरूपी महानद में कभी नही होते और इसीलिए उनकी आत्मारूपी जल, अत्यन्त निर्मल और शुद्ध रहता है । जिस प्रकार महानद में कीचड़ नही होती । यदि कीचड़ हो तो पानी गंदला हो जाता है । यदि कीचड़ न हो ता पानी स्वच्छ निर्मल रहता है और उसके भीतर के पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते है उसी प्रकार भगवान् अरहंत देव रूपी नद मे मोहरूपी कीचड़ सर्वथा नही होती । यह मोह ही आत्मा को गंदला बना देता है । मोह न होने से, यह आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध हो जाती है फिर उसमें समस्त पदार्थ स्पष्ट दिखाई पड़ते है जिस प्रकार तीर्थ में मगरमच्छ नही होते, यदि मगरमच्छ हों तो स्नान करने वालों का शरीर नष्ट हो जाये उसी प्रकार भगवान् अरहंत देव रूपी

महानद में मरण रूपी मगरमच्छों का समूह सर्वथा नहीं होता। यदि मरण हो तो शरीर भी नष्ट हो जाये परन्तु भगवान् अरहंत देवरूपी महानद मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसीलिए उसमें मरण रूपी मगरमच्छों का समूह बहुत दूर रहता है। इस प्रकार अत्यन्त निर्मल वह भगवान् अरहंत देवरूपी महानद मेरे समस्त पापों को दूर करो ॥ २८ ॥

कदाचित् कोई यह कहे कि तीर्थ के किनारे अनेक प्रकार के पक्षी शब्द करते रहते है आते हुए पानी को बंद करने के लिए और भरे हुए पानी को निकालने के लिए मार्ग होते है ये सब बाते इस नद में नहीं होंगी, इसके लिए आचार्य कहते है·--

ऋषि वृषभ स्तुति मंद्रो द्रेकित निर्घोष विविध

विहग ध्वानम् ।

विविध तपो निधि पुलिनं सास्रव सवरण

निर्जरा निःस्रवणम् ॥ २९ ॥

अर्थ -- ऋषियों में श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिक देव जो भगवान् की स्तुति करते है उनके जो अत्यन्त गभीर और मनोज्ञ शब्द होते है उन शब्दों के द्वारा होने वाला जो शास्त्रों का पाठ है वही पाठ उस अरहंत देव रूपी महानद में अनेक प्रकार के पक्षियों के शब्द समझने चाहिये। जिस प्रकार तीर्थों में ऊँचे किनारे होते है जहां पर बहने वाले लोग तिर कर पहुंच जाते है उसी प्रकार उस अरहत देव रूपी महानद में अनेक प्रकार के तपश्चरण को करने वाले महामुनिराज ही ऊँचे किनारे है। जो प्राणी इस संसार रूपी महानदी में बहते जा रहे है उनको पकड कर पार लगाने वाले वे मुनिराज ही है इसलिये वे ही मुनिराज उस महानद के ऊँचे किनारे है। जिस प्रकार तीर्थ में पानी अधिक होने पर आता हुआ पानी रोक दिया जाता है और उसमें भरा हुआ पानी निकाल दिया जाता है, आते हुए पानी को रोकने और भरे हुए पानी को निकालने का सुभीता रहता है उसी प्रकार इस अरहंत देव रूपी महानद में कर्मों के आने के मार्ग सब बंद हो जाते है तथा जो पहले के कर्म होते है उनकी सदा निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार महानद संवर और निर्जरा दोनों से सुशोभित रहता है ऐसा वह अरहंत देव रूपी महानद मेरे समस्त पापों को दूर करो ॥ २९ ॥

गणधर चक्रधरेन्द्र प्रभृति महा भव्य पुंड रीकैः पुरूषैः ।
बहुभिः स्नातुं भक्त्या, कलि कलुष मलाप कर्षणार्थ .
ममेयम् ।। ३० ।।

अर्थ :-- यह श्री अरहंत देवरूपी महानद अत्यन्त विशाल है और इस कलिकाल में होने वाले पापरूपी मलों को दूर करने के लिए अनेक गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र आदि प्रधान महाभव्य पुरूषों को, बड़ी भक्ति के साथ स्नान करने योग्य है, अर्थात् ये सब महाभव्य पुरूष इस महानद में सदा स्नान किया करते है और कर्मरूपी मलों को दूर कर अपने आत्मा को अत्यन्त निर्मल बनाया करते है ।। ३० ।।

आगे आचार्य श्री जिनेन्द्रदेव के रूप का वर्णन करते है --

अवतीर्णवतः स्नातुं ममाऽपि दुस्तर समस्त दुरितं दूरम् ।
व्यवहरतु परम पावन, मनन्य जय्य स्वभाव भाव गंभीरम् ।। ३१ ।।

अर्थ -- श्री अरहंत देव रूपी महानद तीर्थ सब से श्रेष्ठ है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है और परवादी जिनका कभी खंडन नही कर सकते, ऐसे जीवादिक पदार्थों से अत्यन्त गंभीर है । जीवादिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप और उनके अनंत गुणों का वर्णन, जैसा भगवान् अरहंतदेव के शासन में है वैसा और किसी भी मत में नही है । ऐसे इस अरहंत देव रूपी महानद में स्नान करने के लिए वा कर्म रूपी मल को धो डालने के लिए मै भी उतर पड़ा हूं । इसलिए हे भगवान्, मेरे अनंत समस्त पापों को (समस्त कर्मों) को बहुत शीघ्र दूर कर दीजिये । मेरे समस्त कर्मों का नाश कर दीजिये ।। ३१ ।।

आगे आचार्य श्री जिनेन्द्रदेव के रूप का वर्णन करते है--

अताम्र, नयनोत्पलं सकल कोप वन्हे जर्यात्
कटाक्ष शर मोक्ष ही न मविकारतोद्रेकतः ।
विषाद मद हानितः, प्रहसिताय मानं सदा ।
मुख कथयतीव ते, हृदयशुद्धि मात्यन्तिकीम् ।। ३२ ।।

अर्थ -- हे प्रभो! कमल की कली के समान आपके सुन्दर नेत्र कुछ थोडे

से अरूण है । उनमें अधिक लाली नही है । कदाचित् कोई यह कहे कि यह थोड़ी सी लाली भी क्रोध से उत्पन्न हुई होगी ? उसके लिए आचार्य कहते है कि नहीं आपने अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी सब प्रकार का क्रोध नष्ट कर दिया है । क्रोध संसार में संताप उत्पन्न करता है । इसलिए उसको अग्नि की उपमादी है । आपने क्रोध रूपी अग्नि को सर्वथा नष्ट कर दिया है तथापि आपके नेत्र कुछ लाल है इससे सिद्ध होता है कि वह लाली स्वाभाविक है वह केवल मुख की शोभा बढ़ाने वाली है । हे नाथ ! जिसके काम का उद्रेक होता है वह दुष्ट प्राणी तिरछी निगाह से कटाक्ष बाण के समान मर्म स्थानों का भेदन करते है, परन्तु आपके वह काम के विकार का उद्रेक है नही, आप परम वीतराग है और अत्यन्त उत्तम पद में जा विराजमान हुए है । इसलिये आपके नेत्र कटाक्ष रूपी बाणों को कभी नहीं छोड़ते । हे देव ! इस प्रकार के विकार रहित नेत्रों से आपके मुख की शोभा और भी अधिक बढ़ गई है । जिस मनुष्य के ह्दय में, विषाद होता है या किसी प्रकार का मद होता है, वह कभी प्रसन्न नही हो सकता, परन्तु हे भगवान् ! आपने विषाद और मद दोनों का सर्वथा नाश कर दिया है, इसलिए आपका मुख सदा प्रसन्न रहता है । हे स्वामिन् ! इन सब कारणों से, अत्यन्त सुशोभित होने वाला आपका निर्मल और निर्विकार मुख आपके ह्दय की अत्यन्त शुद्धि को सूचित करता है । यहां पर ह्दय शुद्ध का अर्थ चित्त अथवा ज्ञान है । उसकी शुद्धि ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से होती है तथा इन कर्मो के अत्यन्त क्षय से होने वाली ज्ञान की शुद्धि, केवलज्ञान की निर्मलता अनन्तकाल तक एकसी बनी रहती है, ऐसी आपकी केवलज्ञान की अत्यन्त निर्मलता आपके सौम्य मुख से ही सूचित हो जाती है । हे भगवान् ! ऐसा आपका सुन्दररूप, मुझे पवित्र करो, मेरी रक्षा करो ।। ३२ ।।

निराभरण भासुरं, विगत राग वेगो दयात्,
निरंबर मनोहरं, प्रकृति रूप निर्दोषतः ।
निरा युध सुनिर्भयं, विगत हिंस्य हिंस क्रमात्
निरा मिष सुतृप्तिमद्, विविध वेदनानां क्षयात् ।। ३३ ।।

अर्थ :-- हे जिनेन्द्र ! आपका रूप बिना ही आभरणों के अत्यन्त देदीप्यमान है, भगवन्, आभूषण क्यों नहीं पहनते है ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने राग भाव का, सर्वथा नाश कर दिया है। संसारी मनुष्यों के जब रागभाव उत्पन्न होता है तब वे अनेक प्रकार के आभूषण पहनते है, बिना रागभाव के, आभूषणों की इच्छा कभी नहीं होती। आपने, इन रागभावों को सर्वथा नष्ट कर दिया है, इसलिए आपके हृदय में, उनकी कभी इच्छा नहीं होती, तथा बिना आभूषणों के भी आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार हे प्रभो ! आपका रूप, बिना ही वस्त्रों के अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ता है। संसार में, जो मनुष्य स्वभाव से सुन्दर नही होता तथा जिसके हृदय में राग द्वेष आदि दोष भरे रहते है, वह अपना शरीर कपड़ों से ढक कर सुन्दर बना लेता है, परन्तु हे स्वामिन् ! आपका रूप स्वभाव से ही, अत्यन्त सुन्दर है, तथा आपके हृदय में, राग द्वेष आदि दोषों का लेश भी नहीं है। इसलिए आपको वस्त्रों की भी आवश्यकता नही है। बिना वस्त्रों के ही आपका शरीर स्वाभाविक सुन्दरता के कारण अत्यन्त मनोहर दिखाई देता है। इस प्रकार वस्त्राभूषणों का अभाव दिखलाकर आचार्य ने श्वेताम्बर मत का खंडन किया है। श्वेताम्बर लोग भगवान् को दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित मानते है परन्तु उनका यह मानना अयुक्त है। यही आचार्य ने दिखलाया है। शंका--यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि माना कि भगवान् निर्दोष है, तथापि उनको अपनी लज्जा ढकने के लिये वस्त्र पहन लेना चाहिये। उत्तर--यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि लज्जा भी तो एक प्रबल दोष है। लज्जा मोहनीय कर्म के उदय से होती है, परन्तु भगवान् ने मोहनीय कर्म को सर्वथा नष्ट कर दिया है। मोहनीय कर्म के नष्ट होने से काम का विकार अपने आप नष्ट हो जाता है, ऐसी अवस्था में लज्जा रूप दोष कभी रह नही सकता, उसका रहना असम्भव है। इसलिए भगवान् को वस्त्रों की कोई आवश्यकता नही है। इसी प्रकार हे स्वामिन् ! आपके पास कोई शस्त्र नही है तथापि आप अत्यन्त निर्भय रहते है। इसका कारण यही है कि आपने हिंस्य (मारने योग्य) और हिंसा (मारना) दोनों की परिपाटी को सर्वथा नष्ट कर दिया है। यदि आप किसी की हिंसा करते तो बदले में वह भी आपकी हिंसा करता, परन्तु आप अत्यन्त दयालु है, इसलिए आप

कभी किसी की हिंसा नहीं करते । इस प्रकार आपने हिंस्य और हिंसा की समस्त परिणति को ही नष्ट कर दिया है, इसलिये आपको न तो शस्त्रों की आवश्यकता है और न भय की आवश्यकता है । बिना ही शस्त्रों के आप सदा निर्भय रहते है । इसके सिवाय आपने भूख प्यास आदि समस्त वेदनाओं का सर्वथा नाश कर दिया है, इसलिये आप किसी भी प्रकार का आहार ग्रहण किये बिना ही अत्यन्त तृप्त रहते है । जिसको भूख सताती है वह भोजन करता है । आपने भूख आदि समस्त दोषों का नाश कर दिया है इसलिए आप कवलाहार आदि सब प्रकार के आहार से रहित है और फिर भी अन्य किसी प्राणी के न होने वाली ऐसी अनंत तृप्ति को धारण करते है । हे देव ! ऐसा आप का अद्भुत रूप मुझे पवित्र करे ॥ ३३ ॥

मित स्थित नखां गजं, गत रजो मल स्पर्शनम्,
नवांबु रुह चंदन, प्रतिम दिव्य गंधोदयम् ।
रवीन्दु कुलिशादि दिव्य बहु लक्षणालंकृतम्,
दिवाकर, सहस्र भासुर मपी क्षणानां प्रियम् ॥ ३४ ॥

अर्थ :-- हे भगवान् ! केवलज्ञान होने के अनन्तर फिर आपका शरीर धातु उपधातुओं से रहित, परमौदारिक हो जाता है इसलिए आपके नख और केश फिर नहीं बढ़ते है, सदा उतने ही रहते है । आपका शरीर इतना निर्मल है कि उसे धूलीरूपी मल का स्पर्श कभी नहीं होता । आपके शरीर से खिले हुए नवीन कमलों के समान तथा चन्दन के समान मनोहर सुगन्धी सदा निकलती रहती है । ऐसी मनोहर सुगन्धी अन्य किसी के शरीर से कभी नहीं निकल सकती । आपका शरीर सूर्य, चन्द्रमा, वज्र आदि एक सौ आठ, शुभ लक्षणों से, सदा सुशोभित रहता है । आपके ये शुभ लक्षण, आपके अत्यन्त अतिशयशाली पुण्य को प्रकाशित करते है । आपका शरीर, करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान रहता है, तथापि वह नेत्रों को प्रिय ही लगता है । नेत्र एक सूर्य की प्रभा को भी नहीं देख सकते, परन्तु आपके शरीर की प्रभा करोड़ों सूर्यों के समान है, तथापि लोग उसे आनन्द के साथ देखते है और सदा देखते रहने की इच्छा रखते है । हे प्रभो ! आपका ऐसा अद्भुत रूप है, यह मुझे भी पवित्र करे ॥ ३४ ॥

हितार्थ परिपंथिभिः, प्रबल राग मोहादिभिः,
कलंकितमना जनो यदभि वीक्ष्य शोशुद्धयते ।
सदाभिमुख-मेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः
शरद्विमल चंद्र मंडल, मिवोत्थितं दृश्यते ।। ३५ ।।

अर्थ :-- हे नाथ ! प्राणियों का सर्वोत्कृष्ट हित, मोक्ष की प्राप्ति है । उसको रोकने वाले शत्रुरूप राग, द्वेष, मोह आदि है । ये राग द्वेष, मोह, अत्यन्त प्रबल है । ऐसे इन राग द्वेष मोह से जिनका हृदय कलंकित हो रहा है ऐसे मनुष्य भी आपके रूप को चाहे जिस ओर से देख कर वा चारों ओर से देखकर अत्यन्त शुद्ध हो जाते है । हे स्वामिन्, आपका ये रूप इतना निर्मल और शुद्ध है कि इस संसार मे आपके रूप को देखने वाले जितने मनुष्य है, उन सबको अपने समान ही दिखाई पड़ता है । अर्थात वह रूप चारों दिशाओं की ओर दिखाई पड़ता है तथा इसीलिए वह शरद् ऋतु के मेघ पटल रहित निर्मल आकाश में उदय होते हुए, निर्मल चंद्रमंडल के समान, अत्यन्त सुन्दर जान पड़ता है । हे विभो ! ऐसा वह आपका रूप मुझे सदा पवित्र करे ।। ३५ ।।

तदेत-दमरेश्वर, प्रचल मौलि माला मणि,
स्फुरत्किरण चुंबनीय चरणारविन्द, द्वयम् ।
पुनातु भगवज्जिनेन्द्र तव रूप मन्धीकृतम्
जगत्सकल मन्यतीर्थ, गुरू रूप दोषोदयैः ।। ३६ ।।

अर्थ -- हे प्रभो ! संसार में जितने देव है, इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि जितने संसार के स्वामी है, सब आपको नमस्कार करते है, उनके नमस्कार करते समय उनके मुकुटों की पंक्तियों में लगे हुए मणियों की, देदीप्यमान किरणे, आपके दोनों चरण कमलों को, स्पर्श करती है । हे भगवान् ! केवलज्ञान के धारण करने वाले वा इन्द्रादिक देवों के द्वारा पूज्य हे जिनेन्द्रदेव ! आपका रूप ऐसी अद्भुत शोभा को धारण करने वाला है, वह आपका सुन्दर रूप आपके मत से भिन्न जो अन्य मिथ्या दृष्टियों के मत है, उनसे राग, द्वेष मोह रूप जो महा दोष प्रगट होते रहते है, उनसे यह समस्त संसार अन्धा हो रहा है, उसको पवित्र करे । अभिप्राय यह है कि इस संसार में मिथ्यात्व के बढने के कारण, जो राग, द्वेष

मोह बढ़ रहा है उसका नाश हो, और मोक्ष मार्ग का प्रकाश सदा बढ़ता रहे, जिससे जीवों का सदा कल्याण होता रहे ।। ३६ ।।

मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमल जल, सत्खातिका पुष्पवाटी,
प्राकारोनाट्यशाला द्वितयमुपवनं, वेदिकांतर्ध्वजाद्याः ।
शालः कल्पद्रु माणां सुपरिवृतवनं, स्तूपहर्म्यावली च,
प्राकारः स्फाटिकोन्त र्नृसुरमुनिसभा, पीठिकाग्रेस्वयंभूः ।। १ ।।

अर्थ :-- समवसरण की शोभा का वर्णन इस श्लोक में किया गया है:--मानस्तम्भ, सरोवर, निर्मल जल से भरी हुई श्रेष्ठखाई, पुष्पवाटी, कोट, नाट्यशाला, उपवन, वेदिका के मध्य ध्वजा एवं पताकायें, कल्प वृक्ष, स्तूप, प्रासादों की पंक्ति, मनुष्य, देवता तथा मुनियों की सभा के आगे भगवान् विराजमान हो रहे है ।। १ ।।

वर्षेषु वर्षान्तर पर्वतेषु, नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु ।
यावंति चैत्यायतनानि लोके, सर्वाणि वंदे जिनपुंगवानां ।।२।।

अर्थ :-- भरतादि क्षेत्रों में, क्षेत्रों के मध्यभाग में, पर्वतों में नन्दीश्वर द्वीप में, सुमेरूपर्वतादि में जितने भी जिनेन्द्र भगवान् के चैत्यालय है उन सबको मै नमस्कार करता हूं ।। २ ।।

अवनितलगतानां, कृत्रिमाऽकृत्रिमाणां,
वनभवनगतानां, दिव्यवैमानिकानाम् ।
इह मनुज कृतानां, देवराजार्चितानां,
जिनवरनिलयानां भावतोऽहंस्मरामि ।। ३ ।।

अर्थ :-- पृथ्वीतल के नीचे, वन, तथा भवनों में, दिव्य वैमानिक देवों के विमानों में तथा इस मध्यलोक में मनुष्यों के द्वारा बनाये हुये तथा इन्द्रों के द्वारा पूजित ऐसे जितने भी कृत्रिम एवं अकृत्रिम जिन चैत्यालय है मै उन सबकी भाव पूर्वक वंदना करता हूं ।। ३ ।।

जंबूधातकिपुष्करार्द्धवसुधा, क्षेत्रत्रये ये भवाश्
चंद्राम्भोजशिखंडिकंठकनक, प्रावृड्घनाभाजिनः ।
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा, दग्धाष्टकर्मेन्धनाः,
भूतानागतवर्त्तमान समये, तेभ्यो जिनेभ्योनमः ।। ४ ।।

अर्थ :-- इस श्लोक में ढाई द्वीप में होने वाले जितने भी भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यत् काल में होने वाले तीर्थंकर है उन सबको नमस्कार किया गया है। १. जंबूद्वीप, २. धातकी खंड द्वीप तथा पुष्करार्द्ध द्वीप इन ढाई द्वीपों में, चंद्रमा, कमल, मोर के कंठ स्वर्ण तथा वर्षाकाल के बादल के समान रंग वाले जिनेन्द्र देव, जो, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के उत्तम, उत्तम लक्षणों को धारण करने वाले है और जिन्होंने आठों ही कर्मरूप ईंधन को जला दिया है उन सभी तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

श्रीमन् मेरौ कुलाद्रौ, रजतगिरिवरे, शाल्मली जम्बुवृक्षे,
वक्षारे चैत्यवृक्षे, रतिकररुचके, कुंडले मानुषांके ।
इक्ष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ, दधिमुखशिखरे, व्यंतरे स्वर्गलोके,
ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे, भवनमहितले, यानि चैत्यालयानि ॥ ५ ॥

विशेष :- इस श्लोक का पूरा विवरण नंदीश्वर भक्तिमें प्रकाशित है अतः वहां से देख लेना चाहिये।

इसके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिए। (आलोचना)

गद्य-इच्छामि भंते, चेइयभत्तिकाउस्सग्गो, कओ, तस्सालोचेउं । अहलोय, तिरियलोय, उड्ढलोयम्मि, किट्टिमाकिट्टिमाणि, जाणि जिणचेइयाणि, ताणि सव्वाणि, तिसुवि लोएसु भवणवासिय, वाण विंतर, जोइसिय, कप्पवासियत्ति चउविहा-देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूव्वेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, दिव्वेण अक्खेण, दिव्वेण दीवेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति अहमवि इह संतो तत्थ संताइं, सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

अर्थ :-- हे भगवन् ! मैं चैत्य भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूं। इसमें जो दोष हुए हों उनकी आलोचना करना चाहता हूं। अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक में जो कृत्रिम वा अकृत्रिम चैत्यालय है उन

सब ही तीनों लोकों में रहने वाले भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी चारों प्रकार के देव परिवार को साथ लेकर दिव्य गंध से, दिव्य पुष्प से, दिव्य धूप से, दिव्य चूर्ण से, दिव्य वस्त्र से दिव्य अक्षत से, दिव्य दीप से और दिव्य अभिषेक से सदा अर्चा करते हैं पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं और नमस्कार करते हैं। मैं भी यहां रहकर उसी प्रकार से सदा समस्त चैत्यालयों की अर्चा करता हूं, पूजा करता हूं, वंदना करता हूं। मेरे दुःखों का नाश हो और कर्मों का नाश हो। मुझे रत्नत्रय की प्राप्ति हो, शुभ गति की प्राप्ति हो, समाधिमरण की प्राप्ति हो और भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त गुणों की तथा विभूतियों की प्राप्ति हो।

(इति चैत्य भक्तिः)

✿ ✿ ✿

सर्व दोष प्रायश्चित्त विधिः

ॐ ह्रीं अर्हं असि आउसा प्रायश्चित्तशास्त्रासादनात्यागायानुष्ठित प्रोक्षो द्योतनाय नमः ॥१॥

ॐ ह्रीं अर्हं अहिंसा महाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥२॥

ॐ ह्रीं अर्हं सत्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥३॥

ॐ ह्रीं अर्हं अचौर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥४॥

ॐ ह्रीं अर्हं ब्रह्मचर्यमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥५॥

ॐ ह्रीं अर्हं अपरिग्रहमहाव्रतस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥६॥

ॐ ह्रीं अर्हं ईर्यासमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥७॥

ॐ ह्रीं अर्हं भाषासमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥८॥

ॐ ह्रीं अर्हं एषणासमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोक्षोद्योतनाय नमः ॥९॥

ॐ ह्रीं अर्हं आदाननिक्षेपणसमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नम· ॥१०॥

ॐ ह्रीं अर्हं उत्सर्गसमितेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषद्योतनाय नमः ॥११॥

ॐ ह्रीं अर्हं मनोगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥१२॥

ॐ ह्रीं अर्हं वचनगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥१३॥

ॐ ह्रीं अर्हं कायगुप्तेरत्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥१४॥

ॐ ह्रीं अर्हं जीवास्तिकायस्यात्यासादनात्यागानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥१५॥

ॐ ह्रीं अर्हं पुद्गलास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नम ॥१६॥

ॐ ह्रीं अर्हं धर्मास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नमः ॥१७॥

ॐ ह्रीं अर्हं अधर्मास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधद्योतनाय नम ॥१८॥

ॐ ह्रीं अर्हं आकाशास्तिकायस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नम ॥१९॥

ॐ ह्रीं अर्हं पृथ्वीकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नम ॥२०॥

ॐ ह्रीं अर्हं अप्कायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठितप्रोषधोद्योतनाय नम ॥२१॥

ॐ ह्रीं अर्हं तेज. कायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नम ॥२२॥

ॐ ह्रीं अर्हं वायुकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नम.

ॐ ह्रीं अर्हं वनस्पतिकायिकस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नम ॥२४॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रसकायिकस्यात्यासादनास्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नम ॥२५॥

ॐ ह्रीं अर्हं जीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥२६॥

ॐ ह्रीं अर्हं अजीवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नम· ॥२७॥

ॐ ह्रीं अर्हं आस्रवपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥२८॥

ॐ ह्रीं अर्हं बन्धपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥२९॥

ॐ ह्रीं अर्हं संवरपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥३०॥

ॐ ह्रीं अर्हं निर्जरापदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥३१॥

ॐ ह्रीं अर्हं मोक्षपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥३२॥

ॐ ह्रीं अर्हं पुण्यपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥३३॥

ॐ ह्री अर्हं पापपदार्थस्यात्यासादनात्यागायानुष्ठित प्रोषधोद्योतनाय नमः ॥३४॥

ॐ ह्री अर्हं सम्यग्दर्शनाय नमः ॥३५॥

ॐ ह्री अर्हं सम्यग्ज्ञानाय नमः ॥३६॥

ॐ ह्री अर्हं सम्यक्चारित्राय नमः ॥३७॥

तेरह प्रकार के चारित्र ६ द्रव्य, ९ पदार्थ, ६ जीव, ३ रत्नत्रय, १० धर्म, १८००० शील के भेद, ८४०००००० चौरासी लाख उत्तर गुण, २८ मूलगुण, ५ पंचाचार ये सब मुनियों के पालने में जो दोष लगा हो उसका प्रायश्चित्त।

(इति सर्व दोष प्रायश्चित विधिः)

(शिष्यसधर्माणः दैवासिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणे लघ्वीभि· सिद्ध श्रुताचार्य भक्तिभि नमोऽस्तु आचार्य-वन्दनायां प्रतिष्ठापन-विधिराचार्य वन्देरन् ।) सिद्धभक्तिं कायोत्सर्गं करोम्यहम्

(जाप्य ९)

सम्मत्तणाणदंसण, वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं । अगुरुलघुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ १ ॥ तवसिद्धे णय सिद्धे, संजमसिद्धे चरित्त सिद्धेय । णाणम्हि दंसणम्हि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ २ ॥ नमोऽस्तु आचार्य वन्दनायां प्रतिष्ठापन श्रुतभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्

(जाप्य ९)

कोटी शतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानिचैव ।
पंचाशदष्टौ च सहस्र संख्यमेतच्छ्रुतं पंच पदं नमामि ॥ १ ॥

अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं । पणमामि भत्ति जुत्तो, सुदणाण महोवहिं सिरसा ॥ २ ॥

नमोऽस्तु आचार्य वन्दनायां प्रतिनिष्ठापनाचार्य भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्-

(जाप्य ९)

श्रुतजलधि पारगेभ्यः, स्वपरमत विभावनापटुमतिभ्यः, ।
सुचरित तपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्योगुणगुरुभ्यः ॥ १॥

छत्तीसगुण समग्गे पंचविहाचार करण संदरिसे । सिस्साणुग्गह कुसले, धम्माइरिये सदा वन्दे ॥ २ ॥ गुरुभक्तिसंजमेण य तरंति संसार सायरं घोरं । छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मण मरणं ण पावेंति ॥ ३ ॥ ये नित्यं व्रतमंत्र होमनिरताध्यानाग्निहोत्राकुलाः, षट्कर्माभि रतास्तपोधनधनाः साधुक्रियाः साधवः शील प्रावरणा गुण प्रहरणाश्चन्द्रार्क तेजोऽधिकाः मोक्षद्वार कपाट पाटन भटाः प्रीणंतु मां साधवः ॥ ४ ॥ गुरवः पान्तुनो नित्यं ज्ञानदर्शननायकाः । चारित्रार्णव गंभीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥ ५ ॥

-: इति समाप्त :-

॥ श्री जिनाय नमः ॥

✱ श्री गौतम स्वामी विरचित ✱

दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण

श्लोक -- *जीवे प्रमादजनिताः प्रचुर प्रदोषाः,*
यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति ।
तस्मात्तदर्थममलं, मुनिबोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्रभवकर्म विशोधनार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ :-- प्रतिक्रमण की आवश्यकता को बतलाते हुए, मुनियों के लिए भी उसके स्पष्टीकरण की प्रतिज्ञा करते हुए, पूज्य आचार्य कहते है कि जीव मे प्रमाद से जनित अनेक दोष पाये जाते है । वे प्रतिक्रमण करने से प्रलय (नाश) को प्राप्त होते है, इसलिए नाना भवो मे संचित हुए कर्मरूप दोषो की विशुद्धि के निमित्त मुनियो के समझने के लिए प्रतिक्रमण का निर्मल अर्थ करता हू ॥ १ ॥

आशा है मुनिगण इसे अवश्य ध्यान से पढ़ेंगे तथा इस आवश्यक क्रिया का नियमित रूप से पालन करेंगे

श्लोक -- *पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया, मायाविना लोभिना,*
रागद्वेष मलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम् ।
त्रैलोक्याधिपते जिनेन्द्र भवतः, श्रीपादमूलेऽधुना,
निन्दापूर्वमहं जहामि सततं, वर्वर्तिषुः
सत्पथे ॥ २ ॥

अर्थ :-- हे तीन लोक के अधिपति जिनेन्द्रदेव ! अत्यन्त पापी, दुरात्मा, जडबुद्धि, मायावी, लोभी और राग द्वेष से मलीन मेरे मन ने जो दुष्कर्म उपार्जन किया है उसका निरन्तर सन्मार्ग मे चलने की इच्छा रखता हुआ आज मै आपके चरण कमलो मे अपनी निन्दा पूर्वक त्याग करता हू ॥ २ ॥

गाथा -- *खम्मामि सव्वजीवाणं; सव्वे जीवा खमंतु मे ।*
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि ॥३॥

अर्थ :-- मै सब जीवो से क्षमा याचना करता हू, सब जीव मुझे क्षमा

प्रदान करें मेरा सब जीवों में मैत्रीभाव है, किसी के भी साथ मेरा बैर-भाव नहीं है ।। ३ ।।

गाथा -- *रागबंध पदोसंच, हरिसं दीणभावयं ।*
उस्सुगत्तं भयं सोगं, रदिमरदिं-च वोस्सरे ॥४॥

अर्थ '-- १ राग, २ द्वेष, ३ हर्ष, ४ दीनभाव, ५. उत्सुकता, ६. भय, ७ शोक, ८ रति (प्रीति) और ९ अरति (अप्रीति) इन सब आकुलता को उत्पन्न करने वाले भावों का, मै परित्याग करता हूं ।। ४ ।।

गाथा - *हा दुट्ठु कयं, हा! दुट्ठु चिंतियं, भासियं च हा दुट्ठं ।*
अंतो अंतो डज्झमि, पच्छुत्तावेणं वेदंतो ॥५॥

अर्थ -- हा ! १. यदि मैने कार्य से कोई दुष्ट कार्य किया हो । हा ! २ यदि मन से कोई दुष्ट चिन्तन किया हो, और हा ! ३ यदि मैंने मुख से कोई दुष्ट वचन बोला हो, उसको मै बुरा समझता हुआ, पश्चात्ताप पूर्वक मन ही मन में जल रहा हूं अर्थात् उन दुर्भावनाओं का त्याग करता हूं ।। ५ ।।

गाथा -- *दुव्वे खेत्ते काले; भावे च कदावराह सोहणयं*
णिदण, गरहण जुत्तो, मण, वच कायेण
पडिक्कमणं ॥६॥

अर्थ '-- १ द्रव्य--आहार, शरीर आदि, २ क्षेत्र--वसतिका, शयन, मार्गादि, ३ काल--पूर्वाणह (प्रात काल) मध्यान्ह (दोपहर) अपराण्ह (सांयकाल) दिवस, रात्रि, पक्ष (१५ दिन) मास (३० दिन) चातुर्मास (४ महीने) संवत्सर (१ वर्ष) अतीत (भूतकाल) अनागत (भविष्यत् आने वाला काल) वर्त्तमान (मौजूद रहने वाला) ४ भाव--संकल्प और विकल्प खोटे चित्त व्यापार से किये गये अपराधों की निन्दा, तथा गर्हा से युक्त होकर शुद्ध मन, वचन और काय से शोधन करना प्रतिक्रमण है ।। ६ ।।

विशेष-- निंदा और गर्हा--यद्यपि यह दोनो शब्द एकार्थ सरीखे दिखते है फिर भी इनमें निम्नलिखित अंतर है-- (क) जो अपने आत्मा की साक्षीपूर्वक किये हुए पापो को बुरा समझना उसे निंदा कहते है, किन्तु जो (ख) गुरू आदि की साक्षी पूर्वक किये हुए पापो की निंदा करना सो गर्हा कहलाती है ।

गद्य--एइंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चतुरिंदिया, पंचिंदिया, पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणप्फदिकाइया, तसकाइया, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ७ ॥

अर्थ :-- १. एकेन्द्रिय, २. द्वीन्द्रिय, ३. त्रीन्द्रिय, ४. चतुरिन्द्रिय, ५ पंचेन्द्रिय, ६. पृथ्वीकायिक, ७ अप्कायिक (जल कायिक) ८ तेजस्कायिक, (अग्निकायिक), ९ वायुकायिक, १० वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक, इन सब इन्द्रिय और कायिक जीवों का १. उत्तापन, २ परितापन, ३ विराधन और ४ उपघात मैंने स्वयं किया हो, औरों से कराया हो, और स्वयं करते हुए दूसरों की अनुमोदना की हो, वे सब पाप मेरे मिथ्या हों।

विशेष-- यद्यपि ये चारों ही शब्द प्राय: एकार्थ वाचन है फिर भी इनका भेद समझने के लिए नीचे विशेषार्थ दिया है। १ पृथ्वीकायिकादि जीवों का उत्तापन अर्थात् प्राणों का वियोग रूप मारण। २ परितापन पृथ्वीकायिकादि जीवों को संताप पहुंचाना, ३. विराधन--पृथ्वीकायिकादि जीवों को पीड़ा पहुंचाना और अनेक प्रकार से दु:खी करना, ४ उपघात--एक देश से अथवा संपूर्ण रूप से पृथ्वीकायिकादि जीवों को प्राणों से रहित करना ॥ ७ ॥

गाथा -- वद, समिदिंदिय रोधो, लोचा आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयण मदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥८॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥९॥

अर्थ :-- ऊपर लिखित दोगाथाओं में मुनियों के २८ मूल गुणों का उल्लेख किया गया है-५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रियनिरोध ६ आवश्यक (सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, व्युत्सर्ग प्रत्याख्यान तथा मुनियों के ७ विशेष गुण के वर्णन केशलोच (उत्तम २ मास, मध्यम ३ मास, जघन्य ४ मास) २३ अचेल (नग्नता, वस्त्र त्याग)२४ स्नान त्याग २५ क्षितिशयन (भूमिशयन काष्ठपाट, घासादि (तृण, सूखी) पर सोना) २६ अदन्तधोवन (अंगुलि आदि से दंतौन का त्याग) २७ स्थिति भोजन (खड़े होकर भोजन करना) २८ एक भक्त (दिन में एक बार ही भोजन

करना) । ये श्रमणों अर्थात् मुनियों के २८ मूलगुण (प्रधान आचरण) है जो सभी जिनेन्द्रों के द्वारा सर्व प्रकार कहे गये है । इनमें प्रमादवश किये गये अतिचार (दोष-अपराध) से मैं निवृत्त होता हूं, ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए मुनि आगे के लिए छेदोपस्थापना के प्रति अपनी संकल्प पूर्वक दृढ़ भावनाओं को प्रकट करते हुए नीचे के गद्य पढ़ते है:--

गद्य -- *छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं ।*

अर्थ :-- मेरे पुनः छेदोपस्थापना हो जावे । विशेष छेदोपस्थापना (यह चारित्र है । प्रमाद से दोष हो जाने पर, दूरकर, भले प्रकार विकल्प रहित सामायिक में तिष्ठना-ठहरना) ।

गद्य--पंचमहाव्रत-पंचसमिति-पंचेन्द्रियरोध-लोच षडावश्यक क्रियादयो अष्टाविंशति-मूलगुणाः, उत्तम क्षमा-मार्दवार्जव शौच सत्य संयम तप स्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मः, अष्टादश शीलसहस्राणि, चतुरशीतिलक्षगुणाः, त्रयोदशविधं चारित्रं, द्वादशविधं तपश्चेति सकलं सम्पूर्णं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधु साक्षिकं सम्यक्त्व पूर्वकं दृढव्रतं सुव्रतं समारूढं ते मे-भवतु ।

अर्थ :-- पांच महाव्रत (१ अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. ब्रह्मचर्य, ५ परिग्रह त्याग) पांच समिति (१. ईर्या, २. भाषा ३ एषणा, ४ आदाननिक्षेपण कमंडलु, पीछी शास्त्रादि-को देख शोधकर उठाना अर्थात् रखना ५. प्रतिष्ठापनव्युत्सर्ग, मलमूत्रादि को निर्जन्तु भूमि में देख शोधकर क्षेपण करना), पांच इन्द्रिय निरोध (स्पर्शन २ रसना ३. घ्राण ४. चक्षु एवं श्रोत (कर्ण) के विषयों में निरासक्त रहना) ये पन्द्रह तथा छह आवश्यक और ७. विशेष गुणों का पालन मुनियों के २८ मूलगुण होते है । और उत्तम क्षमादि दशधर्मों का पालन करना । अठारह हजार शील के भेदों का पालन करना । वे निम्न प्रकार है चार प्रकार की स्त्रियें होती है । १ मनुष्य स्त्री २ देवस्त्री ३. तिर्यंचस्त्री । ये तीन प्रकार की चेतन स्त्रियें, एक अचेतन (लकड़ी, पत्थर, फोटो आदि में मढ़ी हुई इनके प्रतिमन, वचन, और काय तथा कृत कारित एवं अनुमोदन से तथा ५ इन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्ति करना ४ x ३ x ३ x ५ = १८० भेद हुये । इनको दशजीवों अर्थात्

५ स्थावर तथा पांच प्रकार के जीवों में विभक्त करने पर १८०० भेद हुए इन सब का उत्तम क्षमादि दश धर्मों के द्वारा रक्षण करना से (१८०००) अठारह हजार प्रकार के शील हुवे इनमें दोषों को छोड़ना तथा गुणों का पालन करना । १. द्वीन्द्रिय २. त्रीन्द्रिय, ३. चतुरिन्द्रिय ४. पंचेन्द्रिय असैनी और ५. पंचेन्द्रिय सैनी ये । तेरह प्रकार का चारित्र (५ महाव्रत ५ समिति और मन वचन काय का रक्षण रूप तीन प्रकार की गुप्ति) बारह प्रकार का तपश्चरण करना । यह बारह प्रकार का तपश्चरण मुख्य रूप से दो प्रकार का है १. अंतरंग २ बहिरंग--उनमें १. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरंग के भावों की मुख्यता होने के कारण 'अन्तरंग तप' कहलाते है । अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाहर भी देखे जा सकते है अतः बहिरंग तप कहलाते है अपनी शक्ति के अनुसार इन बारह प्रकार के तपों का भी पालन अवश्य करना चाहिये । ये सब परिपूर्ण उत्तम व्रत अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच की साक्षी से सम्यक्त्व पूर्वक दृढ़व्रत जो आपमें है, वही मुझ में भी समारूढ हो, इस प्रकार की दृढ भावना करें ।

सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा --

गद्य--अथ सर्वातिचार विशुद्धयर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं आलोचनासिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्--

अर्थ :-- दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रिया में सब दोषों की विशुद्धि के निमित्त, किये हुए दोषों को दूर करने के लिये पूर्वाचार्यों के क्रम के अनुसार, सकल कर्मों के क्षय के लिये, भाव पूजा, वन्दना, स्तव सहित आलोचना युक्त सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग मैं करता हूं ।

विशेष-- अपरान्ह में दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण में "दैवसिक" शब्द का प्रयोग करना चाहिये तथा प्रातःकाल के समय "रात्रिक" शब्द का प्रयोग करना चाहिये । इति प्रतिज्ञाप्य इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके णमो अरहंताणमित्यादि सामायिक दंडकं पठित्वा कायोत्सर्ग

कुर्यात् ।

थोस्सामीत्यादि (चतुर्विंशतिस्तवं पठेत्) इस प्रकार प्रतिज्ञापन कर णमो अरहंताणं इत्यादि सामायिक दंडक पढ़कर सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे, पश्चात् ''थोस्सामि'' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव पढ़े । सुविधा के लिये सारा दंडक यहां अर्थ सहित उद्धृत किया जाता है, आगे जहां कहीं यह सामायिक दंडक पढ़ने का संकेत किया जाय वहां पर इसका पूरा उच्चारण करना ही चाहिये ।

गाथा-- णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं; णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

गद्य--चत्तारि मंगलं-अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तोधम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंते सरणं पव्वज्जामि सिद्धे सरण पव्वज्जामि साहूसरण पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्म सरण पव्वज्जामि ॥

गद्य-अड्ढाइज्जदीव दो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं, भयवन्ताणं, आदियराणं, तित्थयराणं, जिणाण, जिणोत्तमाणं, केवलियाण, सिद्धाण, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अन्तयडाण, पारगयाणं, धम्माइरियाणं धम्मदेसगाणं, धम्मणायगाण, धम्मवर चाउरंग चक्कवट्टीणं, देवाहि-देवाणं, णाणाणं, दसणाण, चरित्ताणं, सदा करेमि किरियम्मं ।

करेमि भंते ! सामायियं, सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीव (जावन्नियम) तिविहेण-मणसा, वचसा, काएण;ण करेमि, ण कारेमि ण अण्ण करतं पि समणुमणामि, तस्य भंते अइचार पाडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि अप्पाणं, जावअरहंताण भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्म दुच्चरिय वोस्सरामि ।

विशेष -- इसका उच्चारण करके २७ श्वासोच्छ्वासों में ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करना चाहिये । इसके आगे ८ गाथाओं का स्तवन पढ़ना चाहिये :--

गाथा -

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंत जिणे ।
णर पवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पणो ॥१॥
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे ।
अरहंते कित्तिस्से, चोबीसं चेव केवलिणो ॥२॥
उसह मजियं च वन्दे, सभवमभिणंदणं च सुमइंच ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वन्दे ॥३॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वन्दामि ॥४॥
कुंथुं-च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदाम्यरिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाण च ॥५॥
एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु
॥६॥
कित्तिय वदिय महिया, एदेलोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्ग णाण लाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

फिर निम्नलिखित मुख्य मंगल पढें--

श्लोक -- श्रीमते वर्धमानाय, नमो नमितविद्विषे ।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥१॥

अर्थ :-- जिनके अनन्त ज्ञानादि, अंतरंग लक्ष्मी और समवशरणादि बहिरंग लक्ष्मी विद्यमान है, जिन्होंने उपसर्ग करने वाले संगम देवादि शत्रुओं का सिर अपने चरणों में झुकाया है ऐसे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो । जिनके ज्ञान में तीन लोक, गाय के खुर के समान झलकता है ।

लघु सिद्धभक्तिः--

तवसिद्धे णयसिद्धे, संजमसिद्धे चरित्त सिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२॥

अर्थ -- तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्धं, चरित्र से सिद्ध, ज्ञान से सिद्ध और दर्शन में सिद्ध हुए ऐसे सब सिद्धों को मै सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

गद्य--(अंचलिका)-इच्छामि भंते ! सिद्धभक्ति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचारित्त जुत्ताणं, अट्ठविह-कम्म-विप्प मुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीताणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकालं अचेमि, पूजेमि, वन्दामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमण, समाहि मरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥

अर्थ -- हे भगवन् ! मैने सिद्ध भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया, उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूं। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से युक्त है, आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त है, आठ गुणों से सम्पन्न है, ऊर्ध्वलोक के मस्तक पर प्रतिष्ठित है, तप सिद्ध है, नयसिद्ध है, संयमसिद्ध है, चारित्र सिद्ध है, सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से सिद्ध है, अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों में सिद्ध है ऐसे सब सिद्धों की नित्यकाल अर्चा क़रता हूं पूजा करता हूं, वंदना करता हूं, नमस्कार करता हूं। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधि मरण हो और जिनेन्द्र के गुणों की सम्यक् प्राप्ति हो।

आलोचना:--

गद्य--इच्छामि भंते ! चरित्तायारो तेरसविहो, परिविहाविदो, पंचमहव्वदाणि, पंचसमिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि । तत्थ पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणन्ताणंता हरिया, वीआ, अंकुरा, छिण्णा भिण्णा एदेसिं उद्दावणं परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ १ ॥

अर्थ -- हे भगवन् ! पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र है उसका मैंने प्रमाद वश परिहापन (खंडन) किया हो, उसकी आलोचना-विशुद्धि करना चाहता हू । उस तेरह प्रकार के चारित्र में पहला महाव्रत प्राणों के व्यतिपात से रहित है । उसमें मैंने असंख्यातासंख्यात पृथ्वीकायिक जीव, असंख्यातासंख्यात अप्कायिक जीव, असंख्यातासंख्यात तेजस्कायिक जीव, असंख्यातासंख्यात वायुकायिक जीव, अनंतानंत वनस्पतिकायिक जीव तथा हरित (सचित्त) बीज, अंकुर, छेदे भेदे, उनका उत्तापन, परितापन विराधन और उपघात किया है, कराया है और करने वाले की अनुमोदना की है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥ १ ॥

गद्य--बेइंदिया जीवा असखेज्जासंखेज्जा, कुक्खि किमि सख खुल्लुय, वराडय, अक्खरिट्ठुय-गण्डवाल संबुक्क-सिप्पि, पुलविकाइया एदेसि उद्दावणं, परिदावण, विराहण, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरतो वा, समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ २ ॥

अर्थ -- स्पर्शन और रसना ये जिनके दो इन्द्रिया होती है ऐसे दो इन्द्रिय

जीव असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण है उनमें से कुक्षि, कृमि (लट) घावों में पैदा होने वाले जीवों का भी ग्रहण किया गया है तथा शंख क्षुल्लक (बाला) वराटक (कौड़ी) अक्ष, अरिष्टबाल (बाल जातिका ही जन्तु विशेष) संबूक (लघुशंख) सीप, पुलवीक (पानी की जोंक) आदि अन्य भी दो इन्द्रिय जीव बहुत से है उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥ २ ॥

गद्य-तेइंदिया जीवा-असंखेज्जासंखेज्जा, कुन्थुदेहिय विंच्छिय गोभिंद-गोजुव-मक्कुण, पिपीलियाइया, एदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥ ३ ॥

अर्थ -- स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये जिनके तीन इंद्रियाँ होती है ऐसे तीन इंद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण है उनमें से कुन्थु (सूक्ष्म जंतु) देहिक (उद्देवल) गोभिंद, गोजों, मत्कुण (खटमल) पिपीलिका (कीडी) सावण की डोकरी आदि अन्य भी तीन इंद्रिय जीव बहुत से है उनका उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३॥

गद्य - चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, दंसमसय, मक्खि, पयंग-कीड-भमर-महुयर-गोमच्छियाइया, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कड ॥ ४ ॥

अर्थ -- स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु ये चार इंद्रियां होती है ऐसे चार इंद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण है उनमें से दश (डांस) मशक (मच्छर) मक्खि (मक्खी) पयंग (पतंगा) कीट (गोमय कीट, रक्तकीट, अर्ककीटादि) भ्रमर (भौरा) महुयर (मधुमक्खी) गोमक्षिका इत्यादि असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण जो चौ इन्द्री जीव है उनका उत्तापन, परितापन विराधन और उपघात मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ॥ ४ ॥

गद्य - पंचिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, अंडाइया, पोदाइया, जराइया, रसाइया, संसेदिमा, सम्मुच्छिमा, उब्भेदिमा, उववादिमा अविचउरासीदिजोणिपमुह सद-सहस्सेसु, एंदेसिं उद्दावणं, परिदावणं, विराहणं, उवघादो कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडम् ॥ ५ ॥

अर्थ .-- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु ओर श्रौत्र श्राचत्र ये जिनके पांच इन्द्रियां होती है ऐसे पांच इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण है उनमें अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदिम सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम, औपपादिक और भी चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न इत्यादि असंख्यातासंख्यात संख्या प्रमाण पंचेन्द्रिय जीव है इनका उत्तापन, परितापन विराधन और उपघात मैने किया हो, कराया हो और करने वाले की अनुमोदना की हो, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ५ ॥

विशेष -- पंचेन्द्रिय जीवों के जन्म तीन प्रकार के होते है.--

१} जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ -- जरायुज, अंडज और पोतज इन तीन प्रकार के जीवों के गर्भ जन्म ही होता है {१} जरायुज -- जाली के समान मांस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली से लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते है । जैसे -- गाय, भैस, मनुष्य इत्यादि {२} अंडज -- जो जीव अंडों में जन्म लेते है उन्हें अंडज कहते है, जैसे चिड़िया, कबूतर, मोर इत्यादि पक्षी {३} पोतज -- उत्पन्न होते समय जिन जीवों के शरीर के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नही होता उसे पोतज कहते है, जैसे -- सिंह, व्याघ्र, हाथी, बंदर इत्यादि । {२} देवनारकाणामुपपादः- दूसरा उपपाद जन्म देव और नारकियों के होता है । {३} शेषा सम्मूर्च्छनम् -- गर्भ और उपपाद जन्म वाले जीवों के अतिरिक्त शेष जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है । यहाँ इस बात पर और विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है कि एकेन्द्रिय से असैनी चतुरिन्द्रिय जीवों के नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यचों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकार के जन्म होते है अर्थात् कुछ गर्भज और कुछ सम्मूर्च्छन होते है । लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है । उत्तापन, परितापन, विराधन एवं उपघात का अन्तर पहिले समझाया जा चुका है ।

प्रतिक्रमण पीठिकादण्डक--

गद्य - इच्छामि भन्ते ! देवसियम्मि (राइयम्मि) आलोचेउं, पंच महव्वदाणि-तत्थपढमं महव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं, विदियं महव्वदं मुसावादादो वेरमणं, तिदियं महव्वदं अदिण्णा दाणादो वेरमणं चउत्थं, महव्वदं मेहुणादो वेरमणं, पंचमं महव्वदं परिग्गहादो वेरमण, छट्ठ अणुव्वदं राइभोयणादो वेरमणं, इरियासमिदीए, भासासमिदीए, एसणासमिदीए, आदाण-निक्खेवणसमिदीए, उच्चार पस्स वण खेल सिंहाण वियडि पइट्ठावणिया समिदीए, मणगुत्तीए, वचिगुत्तीए, कायगुत्तीए, णाणेसु, दसणेसु, चरित्तेसु, बावीसायपरीसहेसु, पणवीसाएभावणासु, पणवीसाय, किरियासु, अट्ठारस सील सहस्सेसु, चउरासीदि गुण सय सहस्सेसु, बारसण्हं संजमाणं, बारसण्ह तवाणं, बारसण्हं अंगाणं, चोदसण्हं पुव्वाणं, दसण्हं मुंडाणं, दसण्ह समणधम्माणं, दसण्हं धम्मज्झाणाणं, णवण्हं बंभचेरगुत्तीण णवण्ह णोकसायाणं, सोलसण्हं कसायाणं, अट्ठण्हं कम्माणं, अट्ठण्हं पवयणमाउयाणं अट्ठण्हं सुद्धीणं, सत्तण्ह भयाण, सत्तविह ससाराणं, छण्हं जीव णिकायाणं, छण्हं आवासयाण, पंचण्हं इंदियाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं, पंचण्हं चरित्ताणं, चउण्हं सण्णाणं, चउण्हं पच्चयाणं, चउण्हं उवसग्गाणं, मूल गुणाणं, उत्तरगुणाणं, दिट्ठियाए पुट्ठियाए, पदोसियाए परदावणियाए, से कोहेण वा, माणेणवा, मायाए वा, लोहेण वा, रागेणवा; दोसेण वा मोहेण वा हस्सेण वा, भएण वा, पदोसेण वा पमादेण वा, पिम्मेण वा, पिवासेण वा, लज्जेण वा, गारवेण वा, एदेसिं अच्चासणदाय तिण्हंदण्डाणं, तिण्हं लेस्साणं, तिणाहं गारवाणं, दोण्हं अट्ट

रूद्द संकिलेस परिणामाणं, तिण्हं अप्पसत्थ संकिलेस परिणामाणं, मिच्छा णाण मिच्छा दंसण मिच्छा चरित्ताणं, मिच्छत्तपाउग्गं असंयमपाउग्गं, कसायपाउग्गं जोगपाउग्गं, अपाउग्गसेवणदाए, पाउग्गरहणदाए, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अदिक्कमो, वदिक्कमो अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो ! तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, मए पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्तमरणं, समाहिमरणं, पंडियमरणं, वीरियमणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ॥ २ ॥

अर्थ -- हे भगवन् ! व्रत, समिति, गुप्ति आदि में प्रमादादि वश जो कोई दैवसिक (रात्रिक) दोष लगे है उनकी आलोचना-विशुद्धि करना चाहता हूं । पाँच महाव्रत है --उनमें पहला अहिंसा महाव्रत प्राणों के व्यपरोपण से रहित है, दूसरा सत्य महाव्रत, मृषावाद से रहित है, तीसरा अचौर्य महाव्रत, अदत्तादान से रहित है चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत मैथुन से रहित है, पांचवा परिग्रहत्याग महाव्रत परिग्रह से रहित है तथा छट्ठा अणुव्रत रात्रि भोजन से विरहित है । ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उच्चार-प्रस्रवण-क्ष्वेल सिंहानक विकृतिप्रतिष्ठापन {व्युत्सर्ग समिति} ये पांच समिति {सम्यक् प्रवृत्ति} है तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति ये तीन गुप्ति है, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बावीस परिषह (१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दशमशक (६) नाग्न्य (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान (२२) अदर्शन}

पच्चीस भावना-अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें -- (१) वाग्गुप्ति (२) मनोगुप्ति (३) ईर्या समिति (४) आदाननिक्षेपण समिति (५) आलोकितपान भोजन ।

सत्यव्रत की पाँच भावनायें -- (१) क्रोधप्रत्याख्यान {त्याग} (२)

लोभ प्रत्याख्यान (३) भीरूत्वप्रत्याख्यान (४) हास्यप्रत्याख्यान (५) अनुवीचि भाषण {शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना}

अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें -- (१) शून्यागारवास -- {पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना }
(२) विमोचितावास -- {दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थान में निवास करना}
(३) परोपरोधाकरण -- {अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरे को नहीं रोकना}
(४) भैक्ष्यशुद्धि -- शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना}
(५) सद्धर्माविसंवाद -- {सहधर्मियों के साथ यह मेरा है यह तेरा है, ऐसा क्लेश नही करना}

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाये -- (१) स्त्रीरागकथा श्रवण का त्याग, (२) तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग, {उन स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग} (३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग {अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग} । (४) वृष्येष्ट रसत्याग {कामवर्द्धक गरिष्ट रसों का त्याग करना और (५) अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना}

परिग्रहत्याग की पाँच भावनायें -- स्पर्शन आदि पाँचो इंद्रियों के इष्ट अनिष्ट आदि विषयों में क्रम से राग द्वेष का त्याग करना वे पांचों व्रतों की २५ भावनाओं का संक्षेप में वर्णन किया है ।

पच्चीस क्रियाओं में -- पहली सम्यक्त्व वर्धिनी क्रिया का अनुष्ठान पालन और मिथ्यात्व क्रिया आदि चौबीस क्रियाओं का अनुष्ठान {त्याग} (१) सम्यक्त्वक्रिया चैत्य (जिन प्रतिमा) गुरू (निर्गन्थ) प्रवचन (शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्यों से सम्यक्त्व की वृद्धि होती है । (२) मिथ्यात्व क्रिया (कुदेव, कुगुरू और कुशास्त्र के पूजा स्तवनादिरूप मिथ्यात्व की कारण वाली क्रिया) (३) प्रयोगक्रिया (हाथ, पैर इत्यादि चलाने के भावरूप, इच्छारूप क्रिया) (४) समादान क्रिया (संयमी का असंयम में सम्मुख होना) (५) ईर्यापथ क्रिया (समादान क्रिया से विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ाने के लिए साधु जो क्रिया करता है । निम्नलिखित पांच क्रियाओं में हिंसा के भाव की मुख्यता है । (६) प्रादोषिकी क्रिया (क्रोध के आवेश से द्वेषादिक रूप बुद्धि करना) (७) कायिकी क्रिया उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथ से मारना, मुख से गाली देना इत्यादि प्रवृत्ति का भाग (८) अधिकरणिकी

क्रिया हिंसा के साधन भूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना। (९) परिताप क्रिया दूसरे को दुःख देने मे लगना। (१०) प्राणातिपात क्रिया दूसरे के शरीर, इन्द्रिय वा श्वासोच्छवास नष्ट करना। निम्नलिखित पांच क्रियाओं का सम्बन्ध इन्द्रिय के भोगों के साथ है। (११) दर्शनक्रिया रागादि भाव से सौंदर्य को देखने की इच्छा (१२) स्पर्शन क्रिया -- किसी चीज के स्पर्शन करने की इच्छा। (१३) प्रात्ययिकी क्रिया इन्द्रिय के भोगों की वृद्धि के लिये नवीन नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना। (१४) समन्तानुपात क्रिया - स्त्री, पुरूष तथा पशुओं के उठने, बैठने के स्थान को मलमूत्र से खराब करना। (१५) अनाभोग क्रिया बिना देखे या बिना शोध ी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना, उठाना। निम्नलिखित पांच क्रियायें, उच्च धर्माचरण में धक्का पहुंचाने वाली है। (१६) स्वहस्त क्रिया - जो काम दूसरों के योग्य हो उसे स्वयं करना। (१७) निसर्ग क्रिया - पाप के साधनों के लेने देने में सम्मति देना। (१८) विदारण क्रिया - आलस्य के वश हो अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रकट करना (१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रिया - शास्त्र की आज्ञा का स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना। (२०) अनाकांक्षा क्रिया - उन्मत्तपना या आलस्य के वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओं के प्रति आदर या प्रेम न रखना। निम्न ५ प्रकार की क्रियाओं के होने से धर्म धारण करने में विमुखता होती है। (२१) आरम्भ क्रिया - हानिकारक कार्यों में रूकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना। (२२) परिग्रह क्रिया - परिग्रह का कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायों में लगे रहना। (२३) माया क्रिया - मायाचार से ज्ञानादि गुणों का छिपना। (२४) मिथ्यादर्शन क्रिया - मिथ्यादृष्टियो की तथा मिथ्यात्व से परिपूर्ण कार्यों की प्रशंसा करना। (२५) अप्रत्याख्यान क्रिया - जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना (प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है, विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करने के बदले उसमें आसक्ति करना) इस प्रकार पच्चीस क्रियाओं का संक्षेप में वर्णन किया गया।

अट्ठारस सीलसहस्सेसु - अठारह हजार शीलों में (इनका विवरण पीछे दिया गया है।)

चउरासीदिगुणसहस्सेसु - चौरासी लाख उत्तरगुणो मेः--

८४ लाख उत्तर गुणों का विवरण -- ५ पंच पाप, हिंसादि । १ प्राणिवध (हिंसा) २ मृषावाद (झूठ) ३ अदत्तादान (चोरी) ४ मैथुन (कुशील) ५ परिग्रह । ४ कषाय १ क्रोध , २ मान, ३ माया, ४ लोभ । ४ नोकषाय (१ भय, २ अरति, ३ रति, ४ जुगुप्सा । ३ योग, १ मन, २ वचन, ३ काय) १ मिथ्यादर्शन । १ प्रमाद । १ पिशुनत्व । १ अज्ञान । १ पर इन्द्रियों का अनिग्रह । २१ को १ अतिक्रम २ व्यतिक्रम, ३ अतिचार, ४ अनाचार से गुणा करने पर ८४ भेद हुये इसको १ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ अग्निकायिक, ४ वायुकायिक, ५ प्रत्येक वनस्पति, ६ अनंतकायिक साधारण वनस्पति, ७ द्वीन्द्रिय, ८ त्रीन्द्रिय, ९ चतुरिन्द्रिय, १० पंचेन्द्रिय ये आपस में गुणने से १०० भेद होते है तथा पूर्वगाथा में कहे हुये चौरासी भेदों के साथ गुणने पर ८४०० चौरासी सौ भेद होते है । इनको १० प्रकार की विराधना अब्रह्म कारणों के भेदों से गुणा करने पर ८४००० कुलभेद होंगे वे विराधना के १० भेद निम्नलिखित है -- (१) स्त्रीसंसर्ग - सराग होकर स्त्रियों के साथ अतिशय प्रणय रखना । (२) प्राणीतरस भोजन - तीव्र अभिलाषा से पंचेन्द्रियों में मद उत्पन्न करने वाला आहार ग्रहण करना (३) गंधमाल्य संस्पर्श - सुगंधित तेल तथा चंपकादि पुष्पों से शरीर संस्कार करना । (४) शयनासन - कोमल शय्या, कोमल आसनों में अभिलाषा रखना । (५) भूषणांक - शरीर को भूषित करने वाले मुकुट कड़े, हार आदि अलंकार धारण करने की इच्छा का रखना । (६) गीतवादित्र - सा, रे, ग, म, - आदिक स्वरयुक्त गायन और मृदंग वीणा, ताल आदिक वाद्य तथा करवादन इनको बजाने की इच्छा रखना । राग भावना से नृत्य, गाना बजाना आदि अभिलाषा रखना (७) अर्थस्य संप्रयोग - सुवर्णादि द्रव्यों की अभिलाषा होना । (८) कुशीलसंसर्ग - कुशील में प्रेम रखने वाले लोगों के साथ संगति रखना । (९) राजसेवा - विषयभोग की अभिलाषा रखकर राजा की स्तुति प्रशंसा करना । (१०) रात्रिसंचरण - कार्यान्तर से रात्रि में भ्रमण करना ये दस शीलविराधनायें है इन दस विकल्पों से पूर्वोक्त ८४०० भेदों को गुणाने पर ८४००० चौरासी हजार भेद होते है (११) आलोचना दोषों का विवेचन (१) आकंपित दोष - अन्न, पान, उपकरणादि के द्वारा आचार्य को अपनाकर (कहकर) जो

दोषों की आलोचना करना । २ अनुमानित दोष - मेरा शरीर दुर्बल है, मुझमें अल्प सामर्थ्य है ऐसा दीन वचन बोलकर आचार्य के मन में दया उत्पन्न करके अपने दोष कहना । ३ यद्दृष्टदोष - दूसरे व्यक्ति ने जिन दोषों को देखा है उनकी तो आलोचना करना और दूसरों के द्वारा नहीं देखे हुये दोषों को छिपाना । ४ बादरदोष - अहिंसादिक व्रतों मे जो बड़े दोष उत्पन्न हुए हों उनको निवेदन करना ५ सूक्ष्म दोष - मैंने गीले हाथ से वस्तु को स्पर्श किया था इत्यादि छोटे-२ दोषों को प्रकट कर महाव्रतादिकों में जो बड़े दोष उत्पन्न हुए हों उन्हे न कहना । ६. छन्नदोष - अमुक दोष किया जाने पर कौन सा प्रायश्चित्त लेना चाहिये ऐसा प्रश्न करके उस दोष का जो प्रायश्चित गुरू ने बताया है वह सुनकर प्रायश्चित्त करना । ७ शब्दाकुलितदोष - पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादिक प्रतिक्रमण काल में बहुजन मिलकर प्रतिक्रमण करते है, उस समय अपने अपराध निवेदन करना ८ बहुजनदोष - एक आचार्य के समीप दोष कहने पर तथा उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण कर पुन उसमें अश्रद्धा कर दूसरे आचार्य को पूछना । ९ अव्यक्त - जो प्रायश्चित को नहीं जानता है उसके समक्ष अपने दोष कहने से थोड़ा प्रायश्चित्त मिलेगा ऐसा समझकर दोष कहना । १० तत्सेवी - जो अपने सरीखादोषी है, उसके पास जाकर महा प्रायश्चित्त के भय से अपने दोष प्रकट करना । उपर्युक्त चौरासी हजार भेदों को अंकपितादि दश दोषों के द्वारा गुणने पर आठ लाख चालीस हजार भेद होते है । १ आलोचनादि प्रायश्चित्तों का वर्णन - १ आलोचना - गुरू के समक्ष, दश दोष वर्जित, अपने किये हुये प्रमाद का निवेदन करना । २ प्रतिक्रमण - व्रत के अतिचारों का परिहार (त्याग) करना ३ उभय - दुष्ट स्वप्न आदिक से जो अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर दोष उत्पन्न होते है उनको परिहार, प्रतिक्रमण और आलोचना इन दोनों से करना । ४ विवेक- जिसमें आसक्ति उत्पन्न होती है ऐसे अन्न, पान और उपकरणादिकों का त्याग करना । ५. व्युत्सर्ग - कायोत्सर्गादिक करना ६. तप - अनशन अवमोदर्यादिक १२ प्रकार का तप शक्ति प्रमाण करना ७ छेद दिवस, पक्ष, मासादिक से दीक्षा का प्रायश्चित्त रूप से छेदन करना । ८ मूल - पुनः (दुबारा) दीक्षा देना । ९ परिहार - पक्ष, मासादिक विभाग से (संघ से) दूर त्यागना । १० श्रद्धान - सावद्य में मन लगने पर मिथ्यात्व से और

पाप से उसको हटाना । ये दस प्रकार की आलोचना प्रायश्चित्त करने से दोषों का नाश होता है । पूर्व भेद आठ लाख, चालीस हजार होते है और उनको इस १० भेदों से गुणा करने पर चौरासी लाख, उत्तर गुण होते है । चौरासी लाख दोषों के भेद है । और इनका त्याग करने से चौरासी लाख उत्तर गुण प्राप्त होते है ।

बारसण्हं तवाणं बारह प्रकार के तप (छह बाह्य तथा छह अभ्यन्तर तप) बारसण्हं अंगाणं बारह प्रकार के अंग (आचारांग सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तः कृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिक दशांग, प्रश्नव्याकरणांग । विपाकसूत्रांग और दृष्टिप्रवाद अंग इनके विषय का वर्णन श्रुत भक्ति में दिया गया है वहां से देख लेना चाहिये)

बारसण्हं संजमाणं -- बारह प्रकार के संयमों में (पांच प्रकार का इंद्रिय तथा छठा मन का संयम और छह प्रकार के प्राणियों की रक्षा रूप संयम) चोदसण्हं पुव्वाणं -- चौदह प्रकार के पूर्व (उत्पाद अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणानुवाद, प्राणावायप्रवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दु इनका विशेष वर्णन श्रुतभक्ति मे देख लेवें) दसण्हं मुंडाणं - दश मुंड (पांच प्रकार की इंद्रियों की प्रवृत्ति को रोकना, वचन की प्रवृत्ति को रोकना, हाथों की प्रवृत्ति को रोकना, पैरों की प्रवृत्ति को रोकना, शरीर की प्रवृत्ति को रोकना तथा मन की प्रवृत्ति को रोकना यही आगम में बतलाया गया है) दसण्हं समणधम्माणं - दशलक्षण धर्म (उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तम सत्य, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य) दसण्हं धम्मज्झाणाणं - अपायविचय - सन्मार्ग से मिथ्या दृष्टि दूर ही है अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से जीव की किस प्रकार हानि होती है ऐसा विचार करना 'अपायविचय' है । उपायविचय - दर्शन मोहादि के कारण वश से जीव का सम्यग्दर्शनादि से परांगमुख होना विपाकविचय - कर्म के फल का (उदय का) विचार करना विरागविचय - संसार, देह और विषयभोगों में दुःख के हेतुत्व तथा अनित्यत्व

का चिंतवन करना । लोकविचय - ऊर्ध्वलोक मध्यलोक तथा अधोलोक के विभाग से तथा अनादि और अंत रहित लोक के स्वरूप का चिंतन करना । भवविचय - नरकादि चारों गतियों का विचार करना । जीवविचय - उपयोगमयी जीव है और वे अनादि से है तथा अनंत काल तक रहेंगे, वे मुक्त और संसारी के भेद से दो प्रकार के है, इत्यादि जीव के स्वरूप का चिन्तवन करना आज्ञा विचय - आगम की प्रमाणता से अपने उपार्जव किये हुये कर्म के वश से अन्य भव की प्राप्ति करना सो संसार है वहां भ्रमण करता हुआ जीव, पिता होकर पुत्र या पौत्र बन जाता है, माता होकर बहिन, भार्या या पुत्री बन जाती है, स्वामी होकर दास हो जाता है और दास होकर स्वामी भी हो जाता है । *णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं* नव ब्रह्मचर्यगुप्तियो मे (तिर्यंच, मनुष्य और देवियों में मन, वचन तथा काय से विषय का सेवन नही करना अथवा स्त्री सामान्य जाति का मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित अनुमोदना से विषय सेवन नही करना) *णवण्हं णोकसायाणं* नो किंचित कषायों मे (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद) *सोलसण्हं कसायाणं* सोलह कषायों मे (चार अनतानुबंधी, चार अप्रत्याख्यान, चार प्रत्याख्यान, चार संज्वलन) *अट्ठण्हं कम्माणं*-आठ कर्म (ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय) *अट्ठण्हं पवयणं माउयाणं* आठ प्रवचन मातृका (पाँच समिति तीन गुप्ति) *अट्ठण्हं सुद्धीणं* आठ शुद्धि (मन, वचन, काय, आहार, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय) *सत्तण्हं भयाणं* - सातभय (इसलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय-मरणभय, अनरक्षाभय, अकस्मात्‌भय) *सत्तण्हं संसाराणं* - सात प्रकार का संसार (एकेन्द्रिय के दो भेद सूक्ष्म तथा बादर, विकलेन्द्रिय के तीन भेद, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के दो भेद, संज्ञी पचेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके कारणरूप कर्म तथा उनको पीड़ा देने वाला कार्य नही करना चाहिये । *छण्हं जीवणिकायाणं* - छह जीव निकाय (पांच प्रकार के स्थावर तथा छठे त्रस जीवों की विराधना नही करना) *छण्हं आवासयाणं* - छह आवश्यक समता - (सामायिक) शत्रु और मित्रादि में राग द्वेष का नही करना । स्तव - चतुर्विंशति तीर्थंकर देवों से सम्बन्ध रखने वाली स्तुति

वंदना - एक तीर्थंकर से संबध रखने वाली स्तुति । प्रतिक्रमण पूर्वकृत पापों का परित्याग । प्रत्याख्यान - आगामी पापों का परित्याग व्युत्सर्ग - शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग - *पंचण्हं - इंदियाणं* - पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) के विषयों का त्याग । *पंचण्हं महव्वयाणं* - पांच महाव्रत (अहिंसा, महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत *पंचण्हं समिदीणं* - पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, व्युत्सर्ग) *पचण्ह चरित्ताणं* - पांच चारित्त (सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात) का पालन प्रतिदिन मुनियों को करते रहना चाहिये । *चउण्हं सण्णाणं* - चार संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) का निग्रह मुनियों को प्रतिदिन करना चाहिये *चउण्हं पच्चयाण* - चार प्रकार का प्रत्यय (कर्मबन्ध के कारण, मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग का प्रतिदिन त्याग करना चाहिये । *चउण्हं उवसग्गाणं* - चार प्रकार के उपसर्ग (देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत तथा अचेतन - प्रकृतिकृतकोपादिको सहन करना) *मूलगुणाणं* - (२८ मूलगुणों के पालन करने में) व *उत्तरगुणाणं* - उत्तर गुणों का पालन करने में, ऊपर लिखे हुये कर्त्तव्यों के पालन सम्बन्धी दोषों में, *दिट्ठियाए* - दृष्टिक्रिया (देखने सम्बन्धी) *पुट्ठियाए* - पुष्टिक्रिया (स्पर्श सम्बन्धी) *पदोसियाए* - प्रादोषिकी क्रिया (क्रोधादि के द्वारा उत्पन्न दुष्टमनवचनकायसम्बन्धी क्रिया) *परदावणिआए* - परतापनिकी क्रिया (दूसरों को सताने वाली क्रिया से) क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग से, द्वेष से, मोह से, हास्य से, भय से, *पदोसेण वा* - (प्रदोष से) प्रमाद से, *पिम्मेणवा (प्रेम से) पिवासेण वा* -(पिपासा से) (पर वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा से) *लज्जेण वा* (लज्जा से) और *गारवेण वा* गौरव से *एदेसि* इनमें जो *अच्चासणदाए* अत्यासना {अवहेलना} हुई हो तथा तिण्हं दडाण तीन दंड {जीव को सताने वाले दुष्ट मन, दुष्ट वचन और दुष्ट काय} तिण्ह लेस्साणं तीन लेश्या {जीव को पाप से लिप्त करने वाली कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के खोटे भावों का परित्याग तथा तीन पुण्य {पीत, पद्म और शुक्ल} लेश्यायें रूप प्रवृत्ति} तिण्हं गारवाणं तीन गारव

ऋद्धिगारव, रसगारव तथा शब्दगारव। *दोण्हं अट्टरुद्दे संकिलेस परिणामाणं* दो आर्त्त रौद्र रूप संक्लेश परिणाम आर्त्तध्यान चार प्रकार का {इष्टवियोग सम्बन्धी, अनिष्ट संयोग सम्बन्धी, वेदना सम्बन्धी, निदान सम्बन्धी} रौद्र ध्यान चार प्रकार का {हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी} ये दोनों ही ध्यान संक्लेश परिणामों को करने वाले है। *तिण्हं अप्पसत्थ संकिलेस परिणामाणं* - तीन अप्रशस्त संक्लेश परिणाम माया, मिथ्या और निदान रूप बुरे, तथा पाप के उत्पन्न करने में निमित्तभूत संकलेश परिणामों का} मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र, *मिच्छत्तपाउग्गं* - मिथ्यात्वप्रायोग्य {मिथ्यात्व के योग्य, कुदेव, कुधर्म तथा कुगुरू का सेवन} सम्बन्धी आयोजनों का त्याग, असंयमप्रायोग्य {बारह प्रकार के असंयमों का त्याग छह प्रकार के जीवों की विराधना का त्याग तथा पांच इन्द्रिय और छठे मन की दुष्ट प्रवृत्ति का त्याग} कषायप्रायोग्य {१६ कषाय तथा ९ नो कषायों की अधीनता का त्याग} *जोग पाओग्गं* - योग्यप्रायोग्य {आत्मा के प्रदेश हलन चलन को योग कहते है ये १५ प्रकार के हैं} ४ मन के {सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग} ४ वचन के {सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग} ७ काय के {औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक तैजस, कार्माण} उन योगों की दुष्ट प्रकृति का त्याग करना) *अपाओग्ग सेवणदाए* - अप्रायोग्य सेवनता (जो सेवन करने योग्य नही है उनके सेवन करने का त्याग करना अर्थात् असंयम के निमित्त फूल-फल-पत्र, घासादि का नखादि से तोड़ने का त्याग करना तथा दूसरों की हंसी और गीत, नृत्यादि का भी त्याग करना) *पाउग्गरहणदाए* - प्रायोग्ग ग्रहणता (ग्रहण करने के योग्य सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप की वृद्धि करने वाले साधनों मे अनादर करने का त्याग) इत्यादि कार्यों में जो दिन में या रात्रि में *अदिक्कमो* अतिक्रम (मन की शुद्धि में कमी आना अर्थात् चित्त के संक्लेश से आगमोक्त काल से अधिक काल तक आवश्यकादि क्रियाओं का करना) *वदिक्कमो* व्यतिक्रम (विषयों की अभिलाषा में रूचि होना अथवा विषयों में रूचि के कारण आगमोक्त काल से कम समय तक आवश्यकादि क्रियाओं का करना) अतिचार (आवश्यक कार्यों के करने में आलस्य करना) अनाचार (व्रतों को भंग करना) यही बात इस श्लोक के द्वारा बतलाई गई है।

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानि र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः
तथाऽतिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह व्रतानाम् ॥१॥

आभोग {कापोतलेश्या के वश से पूजा प्रतिष्ठा की भावना से अति प्रकट रूप से कार्य को करना} अनाभोग {लज्जा आदि के कारण अप्रकट रूप से कार्य करना} आदि भावनाओं से (विचारों से) जो दोष लगे हैं उनका हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हू । उन सब में लगे अतिक्रमणादि दोषों को दूर करता हूं । इस प्रकार अतिक्रमणादि दोष मैंने किये - उनका शोधन किया । उस मेरे दोष शोधन करने वाले का फल सम्यक्त्वयुक्त मरण, समाधिमरण {धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान पूर्वक मरण} पंडितमरण, भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, प्रायोपगमन इनका विशेष विवरण भगवती आराधना से जानना चाहिये । वीर्यमरण (वीर्ययुक्त और दीनता रहित मरण होवे) दु खों का क्षय, कर्मों का क्षय, बोधि (रत्नत्रय का लाभ) सुगति में गमन और श्री देवाधिदेव जिनेन्द्र के गुणों की संप्राप्ति होवे ।

गाथा - वदसमिदिंदियरोधो, लोचावा सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयण मदत वण, ठिदि भोयण मेयभत्तं च ॥१॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥ ३ ॥

गद्य - छेदोवट्ठावणं होदु मज्झ । (इति प्रतिक्रमण पीठिका दंडकः)

विशेष - इसका अर्थ पहले पृष्ठ संख्या में देखे ।

गद्य - अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थ दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रियाया कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं, श्री प्रतिक्रमणभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् ।

अर्थ -- अब मैं सब अतिचारों की विशुद्धि के अर्थ प्रतिक्रमण क्रिया में किये गये दोषों के निराकरणार्थ पूर्वाचार्यो की परिपाटी के अनुसार सकलकर्मों के क्षय के निमित्त, भावपूजा, वंदना स्तव, सहित प्रतिक्रमण भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं --

गद्य-णमो अरहन्ताण इत्यदि दंडकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात्

अनंतरं थोस्सामीत्यादि पठेत्।

अर्थः- प्रथम णमो अरहंताणं, इत्यादि सामायिक दंडक पढ़कर सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे पश्चात् चतुर्विंशति स्तव ('थोस्सामि' का पाठ) पढ़ें।

निषिद्धिका दंडक–

गाथा - णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥३॥

इस गाथा को तीन बार पढ़ना चाहिये।

अर्थ :- अरहन्तो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, और लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो॥३॥

गाथा - णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो जिणाणं! णमोणिस्सिहीए, णमो णिस्सिहीए! णमो णिस्सहीए! णमोत्थुदे णमोत्थुदे, णमोत्थुदे, अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सममण! सुभमण! सुसमत्थ! समजोग! समभाव! सल्लघट्टाण सल्ल घत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह णिम्मम! णिस्संग णिस्सल्ल! माण-माय मोसमूरण! तवप्पहावण! गुणरयण! सीलसायर! अणंत अप्पमेय! महदिमहावीर वड्ढमाण बुद्धिरिसिणो चेदि! णमोत्थु ए! णमोत्थु ए! णमोत्थु ए!

अर्थ :- संसार की प्राप्ति के कारण कर्मरुप शत्रुओं को जीत लेने वाले जिनदेवों को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो,। निषिद्धिकाओं को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। हे घाति कर्म क्षय कारक अर्हन्त! हे निःशेष कर्मोन्मूलक सिद्ध! हे हेयोपादेय विवेक सम्पन्न बुद्ध! हे ज्ञानदर्शनावरण रज से रहित नीरज! हे द्रव्य भाव कलंक रहित निर्मल! हे तृण कंचन और शत्रु मित्र तुल्य मन! सम मन! हे आर्त्तरौद्र रहित शुभमन! हे कायक्लेशानुष्ठान और परिषह सहने में सुसमर्थ! हे परमोपशम से युक्त शमयोग! हे संसार के उपशम अथवा राग द्वेष के परिहार के लिये द्वादश अनुप्रेक्षा भावना रुप भाव वाले शम भाव! इस प्रकार के आप जो

अर्हन्तादिक है आप सब को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। इस प्रकार सामान्यत. अर्हन्त आदिकों की स्तुति कर पुन: विशेष रूप से अंतिम तीर्थंकर की स्तुति करते हुये कहते है - हे माया, मिथ्या और निदान रूप ३ शल्यों से पीड़ित जीवों के उन शल्यों के विनाशक! हे भयों से रहित निर्भय! हे राग द्वेष से निष्क्रांत नीरोग! हे निष्कलंक अथवा अष्टादश दोषों से रहित निर्दोष। हे अज्ञान अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह से निष्क्रांत निर्मोह! हे सभी विषयों से ममता रहित निर्मम! हे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित नि:संग! हे माया आदि शल्यों से विरहित नि·शल्य! हे मान, माया और मृषा के मर्दक! हे मानमायामोषमूरण (मान का अर्थ गर्व, माया का अर्थ मन, वचन और काययोग की वक्रता, मोष का अर्थ झूठ बोलना, उनका मूरण अर्थात् मर्दन करने वाले। हे तप· प्रभावक! हे चौरासी लाख गुण रूप रत्नों के भंडार गुण-रत्न! हे अठारह हजार शीलों के समुद्र शील सागर! हे अनंत केवलज्ञान, दर्शन आदि से युक्त अनन्त! हे इद्रियज्ञान से अपरिच्छेद् अप्रमेय। हे महित महावीर वर्ध मान! हे यथावत् परिज्ञान अशेषार्थ स्वरुप केवलज्ञानादि नव लब्धि सम्पन्न! बुद्धर्षिन! आपको त्रिवार नमस्कार हो।

विशेष- संसार में पच परमेष्ठी ही साधुओं के लिये मंगल रूप होते है और कोई नहीं क्योंकि ये ही पूर्वजन्म के मम' अर्थात् पाप को गलाने में समर्थ है तथा ये पांचों १ अर्हंत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय और ५ साधु परमेष्ठी ही 'मम' अर्थात् आन्तरिक एवं आत्मिक सुख को प्रदान करने में समर्थ है। यही आप्तपरीक्षा में भी मंगलाचरण करते हुये लिखा गया है कि-

श्रेयोमार्गस्य ससिद्धि प्रसादात् परमेष्ठिन:।
इत्याहुस्तद्‌गुणस्तौत्रं शास्त्रादौ मुनिपुगवा:।।

और यही भाव आगे के दो गद्यो में भी आचार्य श्री गौतमस्वामी ने भी प्रकट किया है।

गद्य - मम मगलं अरहता य सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो, ओहिणाणिणो मणपज्जव णाणिणो, चउदसपुव्वगामिणो, सुदसमिदिसमिद्धा य, तवो य, बारहविहो

तवस्सी, गुणा य, गुणवंतो य, महरिसी, तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं, पवयणी य णाणं, णाणी य, दंसणं दंसणी संजमो संजदा य, विणओ, विणदा य, बंभचरेवासो, बंभचारी य गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव, मुत्तीमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, सुसमयपरसमय विदुखंति, खंतिवंतो य, क्खवगा य, खीणमोहा य, खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य, बुद्धिमंतो य चेइयरुक्खा य चेइयाणि।

अथ *मम*-मेरे *मंगलं* मंगल रूप ये निम्नलिखित कौन-२ से है उन्हे बतलाते हुए आचार्य कहते है - *अरहंता य* अर्हंत भगवान *सिद्धाय* सिद्ध भगवान् *बुद्धाय*- स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध, *जिणाय*-जिनेन्द्र भगवान्, *केवलिणो*-सयोग केवली और अयोग केवली *ओहिणाणिणो* अवधिज्ञानी, *मणपज्जवणाणिणो* मन. पर्यय ज्ञानी, *चउदसपुव्वंगामिणो* चउदह पूर्व के ज्ञाता *सुदसमिदिसमिद्धा य* - श्रुतज्ञान और समितियों से युक्त *तवोय* बारह प्रकार का तप तथा *बारहविहो तवस्सी* - बारह प्रकार तप को धारण करने वाले, *गुणाय* - ८४ लाख गुण और गुण वंत्तोय-उन गुणों के धारक *महरिसी* - कोष्ठ बुद्धि आदि ऋद्धिओं से युक्त महर्षि *तित्थं* - तीर्थ *तित्थंकराय* - तीर्थंकर देव *पवयणंच* - पूर्वापर दोषों से रहित प्रवचन, *पवयणीय*-प्रकृष्ट वचनों से युक्त मुनि *णाणं* - इत्यादि ५ प्रकार के ज्ञान णाणीय उन ज्ञानों से युक्त *दंसणं* - औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, *दंसणीय* - इन तीनों से युक्त मुनि *संजमो* १२ प्रकार का संयम, *संजदा य* और इनको पालने वाले *मुनि विणओ* - ४ प्रकार का विनय तथा *विणदाय* उन विनयों के धारी मुनि, *बंभचेरवासो* - ब्रह्मचर्याश्रम *बंभचारीय* - इसके पालने वाले मुनि, *गुत्तीओ चेव* मन वचन और काय की गुप्ति तथा *गुत्तिमंतो य* इन तीन गुप्तियों को पालने वाले मुनि *मुत्तीओ चेव* - बाहर तथा भीतर के परिग्रह

के त्याग की अवस्था तथा *मुत्तिमंतो य* इनके त्यागने वाले मुनि *समिदीओ चेव* पांच समितियां तथा *समिदीमंतो य* उनके पालने वाले मुनि *सुसमय परसमय विदु* स्वसमय तथा पर समय (सिद्धांत) के ज्ञाता *खंति* क्षमा तथा *खंतिवंतो य* - इस गुण को धारण करने वाले मुनि *क्खवगा य* - श्रेणी में आरुढ़ मुनि *खीण मोहा य* - क्षीण मोह गुणस्थान तथा, *खीणवंतो य* इस गुणस्थान से युक्त महर्षि *वोहियबुद्धा य* बोधितबुद्ध, *बुद्धिमंतोय* बुद्धि आदि ऋद्धियों के धारक तपस्वी, *चेइयरुक्खा-य-चैत्यवृक्ष चेइयाणि* - चैत्य (जिन बिम्ब)।

गद्य - उड्ढमहतिरियलोए, सिद्धायदणाणि णमंस्सामि, सिद्धणिसीहियाओ, अट्ठावयपव्वये, सम्मेदे, उज्जंते, चंपाए, पावाए मज्झिमाए, हत्थिवालियसहाए, जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ, जीवलोयम्मि, इसिपब्भार तलगयाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं, णिम्मलाणं, गुरुआइरिय उवज्झायाण; पव्वतित्थेरकुलयराणं, चउवण्णो य, समणसंघो य दससु भरहेरावएसु पंचसु महाविदेहेसु जे लोए संति साहवो, संजदा तवसी एदे, मम मंगलं पवित्तं, एदेहं मंगलं करेमि, भावदो विसुद्धो सिरसा, अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि तिविहं, तियरण सुद्धो।

अर्थ - मैं *उड्ढमहतिरियलोए* ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोकवर्ती सिद्धायदणाणि *सर्वसिद्धायतनों* को *णमंस्सामि* (नमस्कार करता हूं) *अट्ठावयपव्वये* (कैलाश पर्वत) *सम्मेदे* (सम्मेदशिखर) *उज्जंते* (गिरनार) *चंपाए* (चंपापुर) *पावाए* (पावापुर) *मज्झिमाए* (मध्यमपावा) *हत्थिबालियसहाए* (यह एक प्रसिद्ध राजा हुआ है जिसने बड़ी भारी सभा करके जैन शासन में बड़ी उन्नति का कार्य किया है।) इन सभी स्थानों पर जो

सिद्धिनिषिद्धिकाएं (निर्वाण क्षेत्र) है, उन सबको नमस्कार करता हूं। *जाओ अण्णाओ काओवि* इसके अतिरिक्त *जीव लोयम्मि इसिपब्भार तलगयाणं* अन्य ढाई द्वीप और दो समुद्रों में, मोक्ष शिला के ऊपर के भाग में अवस्थित *सिद्धाणं* सब सिद्ध *बुद्धाणं* बुद्ध *कम्मचक्क मुक्काणं* (कर्मचक्र से मुक्त) *णीरयाणं* (नीरज) *णिम्मलाणं* निमल (मल से रहित) गुरू *आइरियउवज्झायाणं* (गुरु, आचार्य, उपाध्याय) *पव्वतित्थेरकुलयराणं* (प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनकी जो कोई भी निषिद्धिकायें है, उन सबको नमस्कार करता हूं।) *दससु भरहेरावएसु पंचसु महाविदेहेसु* तथा पांच भरत ऐरावत और पांच विदेह क्षेत्रों में *चउवण्णो य सवणसंघोय ऋषि* (ऋषि धारक साधु) *यति* (इन्द्रियों को वश में करने वाले, तथा उपशम या क्षपक श्रेणी को मांडने वाले) *मुनि* अवधि ज्ञानी या मन· पर्यय ज्ञानी साधु और *अनगार* (सामान्य साधु) यह जो चातुर्ण्य श्रमणसंघ है। *जे लोए साहवो, संजदा तवसीसंति* तथा लोक में मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त क्षेत्र में जो साधु संयत तपस्वी है। *एदे मम मंगलं* वे मेरे लिये पवित्र मंगल स्वरुप होवें ।

एदेहं मंगलं करेमि, भावदो विसुद्धो सिरसा अहि वंदिउण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि तिविहं तियरणसुद्धौ जिसकी देववंदना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय इन तीन क्रियाओं के अनुष्ठान से मन, वचन और काय ये तीनों कारणों से शुद्ध हुये हैं भाव से विशुद्ध हुआ, अंजलि मस्तक पर रख करके सिर से सिद्धों को वंदना कर मैं इन सब की स्तुती करता हूं, इस प्रकार निषिद्धिका दण्डक का अर्थ समाप्त हुआ।

१- मन, वचन काय द्वारा दोषों की आलोचना-

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! देवसियस्स, (राइयस्स,) अइचारस्स, अणाचारस्य; मणदुच्चरियस्स, वचिदुच्च रियस्स, काय दुच्चरियस्स, णाणाइचारस्स दंसणाइचारस्स तवाइइचारस्स, वीरियाइचारस्स, चरित्ताइचारस्स, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं, तिण्हं गुत्तीणं, छण्हं आवासयाणं, छण्हं जीवणिकायाणं, विराहणाए, पील कदो वा, कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥१॥

अर्थ - हे भगवन्! दैवसिक (रात्रिक) व्रतों में लगे अतिचार और अनाचार का प्रतिक्रमण-निराकरण करता हूं। ज्ञान के अतिचार, दर्शन के अतिचार, तप के अतिचार, वीर्य के अतिचार और चारित्र के अतिचार का निराकरण कर ज्ञानादिक को निर्मल करता हूं। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, छह आवश्यक और छह जीवनिकाय के जीवों की विराधना करने में, जो मैंने पीड़ा की है, अन्य से कराई है तथा अन्य की अनुमोदना की है वे पीड़ा सम्बन्धी दुष्कृत मेरे मिथ्या होवें॥१॥

२-ईर्यापथ (गमनागमन) दोषी की आलोचना-

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! अइगमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, उव्वत्तणे अउट्टणेपरिवट्टणे, आकुंचणे, पसारणे, आमासे, परिमासे, कुइदे, कक्कराइदे, चलिदे, णिसण्णे, सयणे, उव्वट्टणे, परियट्टणे एइंदियाणं, बेइंदियाणं तेइंदियाणं, चउरिंदियाणं, पंचिंदियाणं, जीवाणं संघट्टणाए संघादणाए, उद्दावणाए, परिदावणाए, विराहणाए, एत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइयो) अदिक्कमो, वदिकम्मो, अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥२॥

अर्थ - हे भदन्त! हे भगवन्! *अइगमणे* - अतिगमनमें (अति वेग से गमन करने में) *णिग्गमणे* - निर्गमन में (गमन क्रिया के प्रथम

प्रारम्भ में) *ठाणे* - स्थान में (स्थिति क्रिया में) *गमणे* - गमन में (सामान्य से गमन क्रिया में) **चंकमणे** - चंक्रमण में (व्यर्थ परिभ्रमण करने में *उव्वत्तणे* - उद्वर्त्तन में *आउट्टणे परिवट्टणे* - परिवर्त्तन में *आकुंचणे* - आकुंचन में, (हाथ, पर आदि के सिकोड़ने में) *पसारणे* - प्रसारण में (उन्हीं हाथ पैर के फैलाने में) *आमासे* - (आमर्श में) निश्चित शरीर के प्रदेशों के फैलाने में *परिमसे* - परिमश में (सर्वशरीर के स्पर्श करने में) *कुइदे* - कुत्सित में (स्वप्न में बड़बड़ करने में) *कक्कराइदे* - दंतकटकायिन मे (अतीव कर्कश शब्द करने में या निद्रा में दांतों के कटकट करने में) *चलिदे* - चलने में (गमन के समय शरीर की हलचल करने में) *णिसण्णे* निषण्ण अवस्था में (बैठने में) सयणे-शयन में (सोने में) उव्वट्टणे उद्भवन में - उद्भवन में (ये अवस्थायें निद्रा में होती है, सोकर उठने में) *परियट्टणे* (उठकर बैठने में और फिर सो जाने में (उपर लिखी हुई क्रियाओं में, एकेन्द्रीय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, जीवों की *संघट्टणाए* मेरे द्वारा परस्पर में संघर्षण करके, *संघादणाए* (एक स्थान में इकट्ठे करके) *ओद्दावणाए* मार करके, *परिदावणाए* प्राणों को संताप उत्पन्न करके और *विराहणाए* प्राणों का विरह करके विराधना हुई है अर्थात दिन में या रात्रि में, व्रतों के पालन करने में जो कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्भव हुआ है वह अतिक्रमादि अन्य दुष्कृत मेरे मिथ्या होवे इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हूं।।२।।

३ ईर्यापथ (गमनागमन सम्बन्धी दोषों की) दूसरी आलोचना-

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! इरियावहियाए, विराहणाए, उड्ढमुहं चरंतेणवा, अहोमुहं चरंतेणवा; तिरियमुहं चरंतेणवा, दिसिमुहं चरंतेणवा, विदिसिमुहं चरंतेणवा, पाणचंकमणदाए,

वीयचंकमणदाए, हरियचंकमणदाय, उत्तिंगपणयदयमट्टिय मक्कडय-तन्तु संत्ताणचंकमणदाए, पुढविकाइयसंघट्टणाए, आउक्काइयसंघट्टणाए, तेऊक्काइयसंघट्टणाए वाउक्काइयसंघट्टणाए, वणप्फदिकाइयसंघट्टणाए, तसकाइयसंघट्टणाए, उद्दावणाए, परिदावणाए, विराहणाए, इत्थ मे जो कोई इरियावहियाए, अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥३॥

अर्थ - हे भगवन्! इरियावहियाए - (ईर्यापथ में) विराहणाए (जो विराधना हुई है उसमें जो दोष लगा है) उसका प्रतिक्रमण (निराकरण-विशुद्धि) करता हूं कैसे चलते हुये विराधना की है, उसे बताते है - उड्ढमुहंचरंतेणवा - (ऊंचा मुख उठाकर चलते हुये) अहो मुहंचरंतेणवा - नीचा मुँह झुकाकर चलते हुए, तिरियमुहं चंरतेणवा- तिरछा झांक कर चलते हुए दिसिमुहं चरंतेणवा - (चारों दिशाओं का अवलोकन जिसमें हो जाता हो इस प्रकार चलते हुये विदिसिमुहं चरंतेणवा - चारों विदिशाओं का अवलोकन जिसमें हो जाय इस प्रकार चलते हुये) पाणचंकमणदाए - विकलत्रयद्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिन्द्रिय) प्राणधारी जीवों के ऊपर चलने से वीयचंकमणदाए - गेहूं, जौ, चना आदि बीजों पर चलने से हरियचंकमणदाए - हरित-वनस्पतिकाय (तृण घासादि के ऊपर चलने से) उत्तिंगपणयदयमट्टिय-मक्कडय-तंतु-संत्ताण-चंकमणदाए - (उत्तिंगक्षुम्भक उद्देहिका (उद्देवल-ईली आदि सुकुमार) पणय (काजो) दक (उदक-जल के विकार, बर्फ मेघादि) मृत्तिका (मिट्टी) मर्कटक (कोलिक जाति वाले) तंतु, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सत्वों पर चलने से, पृथ्वीकायिक जीवों का हाथ, पैर आदि से संघट्टन करके, अप्कायिक (जल कायिक) जीवों का संघट्टन करके, तेजस्कायिक (अग्निकायिक) जीवों का संघट्टन करके, वायुकायिक जीवों का संघट्टन करके, वनस्पति कायिक जीवों का संघट्टन करके तथा त्रस कायिक जीवों का संघट्टन करके परिदावणाए - परितापन (प्राणों को संताप उत्पन्न करके विराहणाए - प्राणों का विरह करके, विराधना करके अनेक प्रकार की पीड़ा देकर, जो कोई भी मेरे व्रत आदि के विषय में दैवसिक (रात्रिक)

अतिचार या अनाचार हुआ है वह अतिचारादि सम्बन्धी दुष्कृत (पाप दोष) मेरे मिथ्या होवे, इस प्रकार मै प्रतिक्रमण करता हूं।।३।।

४. मलमूत्रादि के क्षेपण सम्बन्धी दोषों की आलोचना-

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते उच्चार-पस्सवण-खेल-सिंहाण वियडि-पइट्ठावणियाए, पइट्ठावंतेण जो कोई पाणावा, भूदा वा, जीवा वा, सत्तावा संघट्टिदा वा, संघादिदा वा उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अइचारो, अणाचारो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।।४।।

अर्थ - हे भगवन् उच्चार - (विष्टा) पस्सवण - प्रस्रवण (मूत्र) खेल-क्ष्वेल (थूंकना) सिंहाण - सिंहाणक (नाक का मल) वियडि - विकृति (पसीना आदि) इनके क्षेपण करने में जो दोष लगा है उसका प्रतिक्रमण करता हूं। इनका निक्षेपण करते हुए मैंने जो कोई भी विकलत्रय प्राण वनस्पति कायिक भूत पंचेंद्रीय जीव और पृथ्वी, अप, तेज, वायु रूप सत्त्व इनका संघर्षण किया है, संघात किया है अथवा मारा है अथवा इनको संताप पहुंचाया है, इन सब संघट्टन आदि के करने में मेरे जो कोई भी व्रतों के विषय में दैवसिक (रात्रिक) अतिचार अथवा अनाचार प्रादुर्भूत हुआ है वह अतिचारादि सम्बन्धी दुष्कृत (पाप-दोष मेरे मिथ्या होवे (निष्फल होवे) इस प्रकार मै अपने दोषों का प्रतिक्रमण करता हूं।।४।।

५ एषणा (भोजन सम्बन्धी) दोषों की आलोचना-

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! अणेसणाए, पाणभोयणाए, पणयभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, आहाकम्मेण वा, पच्छाकम्मेण वा, पुराकम्मेण वा, उद्दिट्ठयडेण वा, णिद्दिट्ठियडेणवा, दयसंसिट्ठयडेण वा रससंसिट्ठयडेणवा परिसाद णियाए पइट्ठावणियाए, उद्देसियाए निद्देसियाए, कीदयडे, मिस्से, जादे, ठविदे रइदे, अणसिट्ठे, बलिपाहुडदे,

पाहुडदे, घट्टिदे, मुच्छिदे अइमत्तभोयणाए, इत्थ मे जो कोई गोयरिस्स अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥५॥

अर्थ - हे भगवन्! अणेसणाए - (भोजन के अयोग्य सावद्य (हिंसा युक्त) उप्दमादि दोषों से दूषित चतुर्विध (४ प्रकार के) आहार के ग्रहण करने से जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूं पाणभोयणाए - प्राणों के अनुग्रहार्थ जो पिया जाय, उसे पान कहते हैं, उस स्निग्ध, रूक्ष आदि पान के भोजन से पणयभोयणाए - पणय भोजन फूलनयुक्त-कांजिक मथितादि भोजन के करने से अथवा वृष्य (पौष्टिक) आहार से बीयभोयणाए - अग्नि में नही पके हुये गेहूं चने आदि बीज भोजन करने से हरियभोयणाए - हरित अर्थात नही पके हुये पत्र, पुष्प, मूल, कोंपल आदि के भोजन करने से आहाकम्मेणवा - अध कर्म अर्थात् (षड़ जीव निकाय की विराधना से उत्पन्न) यह अध· कर्म दोष ४६ दोषों से अलग है तथा षड् काय के जीवों की विराधना से होता है अत· इसे स्वयं करना, पर के द्वारा कराना, दूसरों के किये हुये दोषों में अनुमति देना, जीवों को पीड़ा कराना, और उनका नाश कर, यह दोष यदि मुनि करेंगे तो उनका मुनिपना नष्ट हो जायेगा, क्योंकि इसमें वैयावृत्यादिक गुण नही होने से मुनियों के लिये यह कार्य सर्वथा वर्ज्य है, वैयावृत्यादिक से रहित और स्वत के आहार के लिये भोजन बनाना, षट्काय के जीवों के नाश होने में निमित्त है।

पच्छाकम्मेण वा- पश्चात् कर्म अर्थात् भोजन करके मुनि के चले जाने पर फिर भोजन बनाना प्ररम्भ करने से उद्दिट्ठायडेणावा - अद्दिष्टकृत अर्थात् मुनि को ही उद्देश्यकर जो भोजन बनाया, देवता पाखंडी आदि को उद्देश्य कर जो भोजन बनाया उसके ग्रहण करने से णिद्धिट्ठियडेण वा - निर्दिष्टकृत अर्थात् आपके लिये वह बनाया गया है ऐसा कहने पर आहार ग्रहण करने से दयसंसिट्ठयडेण वा - दया अर्थात् अनुकम्पा पूर्वक दिये गये दान से, दूसरा अर्थ उदक संसृष्टकृत पद के द्वारा बतलाया गया है कि - गृहस्थ द्वारा जलसे गीले बर्तन या गीले हाथ से दिये गये भोजन को ग्रहण करने से रससंसिट्ठयडेण वा - रजसंसृष्ट रज रूपी मल

का अर्थ है कापेतलेश्यायुक्त (गृहस्थ के खोटे परिणामों से युक्त) दिये गये भोजन करने से अथवा रज का अर्थ है धूल या मिट्टी उसके युक्त बर्तन द्वारा दिये गये आहार के कारण परिसादणियाए - परिसातनिका - पाणि पात्र में गये हुए आहार को बार-बार डालकर भोजन करने से पड्डावणियाए - प्रतिष्ठापनिका भोजन तथा भोजन के पात्रों को एक स्थान से अन्य स्थान में ले जाने से अथवा आहार के उपयुक्त पात्रों को फैलाकर रख देने से विशेष - इन कार्यों को करते समय गृहस्थ के ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती है अत: यह दोष उत्पन्न होता है। उद्देसियाए - मूलाचार ग्रंथ के पृष्ठ २२१ में इस पद का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:-

पच्छामम्मेणवा - क्योंकि इस दोष को करने वाला मुनि गृहस्थ होता है। पश्चात्संस्तुति दोष 'आहारादि दान ग्रहण करके जो मुनि दाता की 'तू विख्यात दानपति है, तेरा दान सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है, ऐसी स्तुति करता है ऐसी स्तुति करने में मुनि में दीनता का दोष दीख पड़ता है + पुराकम्मेणवा - पूर्वस्तुतिदोष (दाता के आगे दान ग्रहण के पूर्व में उसकी 'तू' दानियों में अग्रणी है और तेरी कीर्ति जगत में फैल गई है ऐसा कहना, तथा जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको 'तू पूर्वकाल में महा दानपति था, अब दान देना क्यों भूल गया है ऐसा उसको संबोधन करना तथा उसकी कीर्ति का वर्णन करना, उसे याद करना, इस प्रकार की स्तुति करने का कार्य स्तुति पाठकों का है, मुनियों का नहीं है अत: ऐसी स्तुति करना मुनियों के योग्य नहीं है ० उद्धिकुयडेणवा - अध: कर्म महादोष है, उसके अनंतर औद्देशिक दोष है तो यद्यपि यह सूक्ष्म दोष है तो भी इसका त्याग करना चाहिये। देवताओं के लिये, पाखंडी साधुओं के लिये, दीन जनों के लिये, जो आहार तैयार किया जाता है, उसे औद्देशिक आहार कहते है तथा जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आवेंगे उनको मै आहार देऊंगा ऐसे उद्देश्य से जो आहार बनाया जाता है उसको 'निर्ग्रंथ समादेश', कहते है। मुनि उस सूक्ष्म दोष की भी इस प्रकार आलोचना करते हैं। (मूलाचार पृष्ट संख्या २२२)

१ यावानुद्देश - जो कोई आवेगे उन सबको मै भोजन देऊंगा ऐसा उद्देश्य-संकल्प मनमें करके जो भोजन बनाया जाता है (२.) पाखंडिसमुद्देश - जो कोई पाखंडी आवेंगे उन सबको आहार देऊंगा। ऐसे उद्देश्य से बनाया गया अन्न (३) श्रमणादेश - जो कोई श्रवण, आजीवक, तापस, रक्तपट, परिव्राजक और छात्र, शिष्य आवेंगे उन सबको मै आहार देऊंगा ऐसे संकल्प से बनाया हुआ अन्न (४) निर्ग्रंथसमादेश - जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आवेंगे उनको मै आहार देऊंगा ऐसे उद्देश्य से बनाया हुआ अन्न। तात्पर्य सामान्यों के उद्देश्य से, पाखंडियों के उद्देश्य से, श्रमणों के उद्देश्य कर और निग्रन्थों के उद्देश्य कर, जो अन्न बनाना वह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है उसके करने से। णिद्देसियाए - निर्देशिका अर्थात् खुद समर्थ होकर भी आहार नहीं देकर दूसरे के हाथ से आहार दिलाने से। कीदयड़े - क्रीत अर्थात् खरीद कर लाये हुये भोजन करने में विशेष - (मूलाचार पृष्ठ २२६ के आधार पर) क्रीततर के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद है द्रव्य के भी स्वद्रव्य और परद्रव्य ऐसे दो भेद है। भाव के स्वभाव और परभाव ऐसे दो भेद है। गाय, भैस, अश्व इत्यादि को 'द्रव्य' कहते है विद्या मंत्रादि को भाव कहते है। गाय, भैस आदि को 'सचित्त द्रव्य' कहते है और तांबूल वस्त्रादिकों को 'अचित्त द्रव्य' कहते है। जब मुनि आहार के लिये श्रावक के घर पर आते है उस समय श्रावक अपना अथवा अन्य का सचित्तादि द्रव्य और तांबूलवस्त्रादिक अन्य श्रावक को देकर उससे आहार की सामग्री कर यदि मुनिराज को आहार देगा तो क्रीत दोष उत्पन्न होता है तथा स्वमंत्र अथवा परमंत्र, स्व विद्या अथवा पर विद्या देकर आहार की सामग्री प्राप्त कर लेता है और यति को वह आहार यदि श्रावक देगा तो यह भी 'कृतिदोष' कहा जाता है।

मिस्से जादे - मिश्र में (प्रासुक अन्न तैयार होने पर भी अर्थात् भात आदि अन्न प्रासुक होने पर भी पाखंडियों के साथ और गृहस्थों के साथ मुनियों को जो देने का संकल्प किया जाता है

ऐसा करने से १. मुनियों का यथायोग्य आदर नहीं हो सकता अतः इस प्रकार के दान में अनादर दोष उत्पन्न तथा पाखंडियों के साथ २. मुनियो के दान में स्पर्शन दोष उत्पन्न होता है क्योंकि पाखंडी, चाहे जहां उच्च नीच लोगों के घर में आहार लेते है तथा पाखंडी, स्वतः उच्च और नीच जाति के भी होते है अतः इनके साथ आहार लेने से मुनियों के स्पर्शन दोष होता है। (मूलाचार पृष्ठ नं० २२३) ठविदेस्थापिते - जिस पात्र में आहार पकाया था, उसमें से वह आहार निकाल कर अन्य पात्र में स्थापित करके स्वगृह अथवा परगृह में ले जाकर स्थापन करना। दाता में भय होने से, वह आहार के पदार्थ अन्य भोजन में रखकर अपने अथवा दूसरे के घर में रखकर दान देता है अथवा उसके साथ उसके स्वजनों का विरोध होने वह अन्य के घर में आहार के पदार्थ रखता है अत॰ यह दान भय और विरोधादि दोषों से दूषित होता है। (मूलाचार पृष्ठ २२४) रइदे - रसना इन्द्रिय को गृद्धि करनेवाले अनेक रस विशेषों के साथ रचे हुये पौष्टिक भोजन में अणिसिट्ठे अनिसृस्ट अर्थात् घर के स्वामी के द्वारा मना किये हुये भोजन करने में बलिपाहुडदे - यक्षनागदिक के लिए किया हुआ या लाया हुआ भोजन करने में पाहुडदे - ठहराया हुआ - निश्चित किया हुआ या लाया हुआ दिवस, पक्ष महिना और वर्ष को बदल कर जो दान किया जाता है वह बादर प्राभृतक दोष से दूषित होता है। यह बादर प्राभृतक दोष दो प्रकार का है इसका विशेष विवरण मूलाचार पृष्ठ २२५ में देखे घट्टिदे - मूलाचार पृष्ठ सं० २२८ के आधार से इसके देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे दो भेद है-पक्तिबद्ध दो तीन घरों से सात घरो तक भक्त श्रावकों के द्वारा लाये हुये अन्न को ग्रहण करना योग्य है परन्तु इससे विपरीत अर्थात अपंक्तिबद्ध ऐसे कोई भी घर अथवा पंक्ति स्थित आठवें घर हुआ अन्न, यतियों को वर्ज्य है, एक गली में से, अथवा दूसरी गली में, स्वग्राम से, परग्राम से, स्वदेश से और परदेश से आये हुये अन्नादि का ग्रहण करना तो निषिद्ध ही है। अन्य ग्रामादि से अन्न लाते समय आने जाने में, अनेक जीवों

को बाधा होती है अतः ऐसे अन्न मुनियों को वर्ज्य माने गये है। विशेष - पंडित प्रभाचन्द्र के मतानुसार घट्टित के दो भेद किये गये है - तथा शुद्ध एवं अशुद्ध आहार के मिलाने पर भोजन घट्टित दूषण बतलाया गया है। मुच्छिदे - मूर्च्छित दशा में अर्थात अत्यन्त गृद्धता से भोजन करने में अइमत्तभोयणाहारे - मात्रा से अधिक भोजन करने में गोयरस्स - गोचरी (आहार) के समय, अतिचार, अनाचार से दोष लगे हों वे मेरे दुष्कृत मिथ्या होवें।।

(६) स्वप्न संबंधी दोषों की आलोचना -

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! सुमणिंदियाए, विराहणाए इत्थिविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए, मणिविप्परियासियाए वचिविप्परियासियाए, कायविप्परियासियाए, भोयणविप्परियासियाए, उच्चावयाए, सुमणदसणविप्परियासियाए पुव्वरए, पुव्वखेलिए, णाणाचिंतासु विसोतियासु इत्थ मे जो कोइ देवसियो (राइओ) अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥६॥

अर्थ -- हे भगवन्! सुमणिंदियाए - स्वप्न में जो विराहणाए विराधना अर्थात् विपरीत परिणति हुई, उसमें जो दोष लगे है, उनका परिशोधन करता हू, वह विराधना जैसे होती है वैसी दिखाते है, पुव्वरये - पूर्वरत पुव्वखेलिए - पूर्वक्रीड़ित णाणाचिन्तासु - नाना चिन्ताओं में इत्थिवियरियासियाए - स्त्रीविपर्यासिका (स्त्री के विषय में विपरीतता अर्थात् सेवन नहीं करने पर भी, स्वप्नादि में दोष का होना दिट्ठिविपरियासियाऐ - दृष्टिविपर्यासिका (स्त्री के अवयव, मुंह इत्यादि को देखना तथा उनको नहीं देखने पर भी देखने की अभिलाषा होना) मणिविप्परियियासियाए - मनविपर्यासिका (मन की विपरीतता अर्थात् स्त्री आदि के नहीं होने पर भी स्त्री आदि की कल्पना करना) वचिविप्परियासियाए - वचनविपर्यासिका (स्त्री संबंधी वार्त्तालापादि के नहीं होने पर भी रागादि से युक्त वार्त्तालापादि करने का भाव करना) कायविप्परियासियाए - (काय की विपरीतता अर्थात् गोद में स्त्री के नहीं होने पर भी मै उसी

अवस्था में स्थित हूं, ऐसा विचार करना) भोयणविप्परियासियाए - भोजन विपर्यासिका अर्थात् भोजन नही करते हुए भी मै भोजन करता हूं इस प्रकार की विपरीत धारणा उच्चावयाए - उच्च्यावजात में स्त्री के राग से वीर्य के स्खलन को संस्कृत में 'उच्च्याव' कहते है उसके कारण होने वाला दोष सुमणादंसणविप्परियासियाए - स्वप्नदर्शनविपर्यासिका - (दर्शन के कारण भोजनादि मे विपरीतता होना विसोतियासु - स्वप्न से इन्द्रियाँ जिसमें उपहन (नष्ट) हो जाती है उस स्वप्नेंद्रिय की विराधना रुप विपरीत परिणति के होने पर जो दोष संभव हुआ है, उसमें मेरे जो कोई दिन में (रात्रि में) अतिचार और अनाचार हुआ है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

(७) विकथा सम्बन्धी दोषों की आलोचना–

गद्य-पडिक्कमामि भन्ते! इत्थीकहाए, अत्थकहाए, भत्तकहाए, रायकहाए, चोरकहाए, वेरकहाए परपासंडकहाए, देसकहाए, भासकहाए, अकहाए विकहाए, निठुल्लकहाए, परपेसुण्णाकहाए, कन्दप्पियाए, कुक्कुच्चियाए, डंबरियाए, मोक्खरियाए, अप्पसंसणदाए, परपरिवादणाए, परदुगन्छणादाए, परपीडाकराए; सावज्जाणुमोयणियाए, इत्थ मे जो कोई देवसियो (राइओ) अइचारो, अणाचारो, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥७॥

अर्थ -- हे भगवन्! इन विकथाओं के कारण में जो मेरे व्रताचरणों में अतिचार दोष उपार्जित हुये है, उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूं मै उन्हे दूर कर, अपने चारित्र को उज्जवल करता हूं। इत्थिकहाए - स्त्रीकथा, स्त्रियों के बदन, नयन, नाभि, नितंब आदि अंगों के विशेष वर्णन रुप कथा में भत्तकहाए - भोजनकथा भत्त अर्थात् भोजन के विशेष रुप का वर्णन करने वाली कथा में, रायकहाऐ-राजकथा-राज्य तथा राजा से संबंध रखने वाली कथा में चोरकहाए - चोर कथा, चोरों की कथा में वैरकहाए - वैर विरोध की कथा में, परपासंडकहाए परपाखंडिकथा, पर अर्थात् परिव्राजक, बंदक, त्रिदंडी आदि पाखंडियों के चिन्ह वाली कथा

में। देसकहाए - कर्णाट, लाट आदि देश सम्बन्धी तथा ग्राम नगरादि की भी देश कथा में ही ली जाती है। भासकहाए - अठारह देशों में होने वाली भाषा सम्बन्धी कथा, अकहाए अकथा (तप, स्वाध्यायादि से रहित असंबद्ध प्रलाप रुप कथा) विकहाए - विकथा (राग, भोग, त्याग, अर्थादि के वर्णन रुप विकथा में) निठुल्लकहाए - (निष्ठुरकथा) {कठोर अर्थात् तर्जना, भयंकर मर्मभेदी वचनादि युक्त कथा} परपेसुण्णकहाए - परपैशून्यकथा (दूसरों के दोषों को परोक्ष में प्रकट करने वाली कथा) कंदप्पियाए कंदर्पिका (कंदर्प अर्थात् राग के उद्रेक से हंसी से मिले हुये अशिष्ट वचनों के प्रयोगवाली कथा) कुक्कुच्चियाए - कौत्कुचिका (कंदर्प से युक्त अव्यक्त हृदय कण्ठ या शब्द को प्रकट करने वाली कथा) डंबरियाए-डंबरिका (डंबर अर्थात् विरह कलहादि से युक्त कथा) मोक्खरियाए-मौखरिकी (धृष्टतायुक्त बहुत प्रलाप करने वाली कथा) अप्पपसंसणदाए - आत्मप्रशंसनता (अपने आपके गुणों की स्वयं प्रशंसा करने वाली बात) परपरिवादणाए - परपरिवादनता (दूसरों के दोषों को प्रकट करने वाली कथा) परदुगंछणदाए - परजुगुप्सनता (दूसरों के आगे दुष्ट भावों से दूसरों पर घृणा प्रकट करने वाली बात) परपीडाकराए - परपीडाकर (दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाली बात) सावज्जणुमोयणियाए - सावद्यानुमोदिका (हिंसादिका अनुमोदन करने वाली) इन उक्त प्रकार की विकथाओं में मेरे जो कोई दैवसिक (रात्रिक) अतिचार, अनाचार हुआ है वह अतिचारादि सम्बन्धी दुष्कृत मेरे मिथ्या होवे।।७।।

(८) अशुभ आर्त्तध्यानादि तथा कषायादि दोषों की आलोचना-

गद्य-पडिक्कमामि भन्ते! अट्टज्झाणे, रुद्दज्झाणे, इहलोय सण्णाए, परलोयसण्णाए, आहारसण्णाए, भयसण्णाये, मेहुणसण्णाये, परिग्गहसण्णाये, कोहसल्लाए, माणसल्लाए, मायासल्लाए, लोहसल्लाए, पेम्मसल्लाए, पिवासल्लाए, णियाणसल्लाए, मिच्छादंसणसल्लाए, कोहकसाए, माण कसाए, मायाकसाए लोहकसाए किण्हलेस्सपरिणामे, णीललेस्सपरिणामे,

काउलेस्सपरिणामे, आरम्भपरिणामे, परिग्गहपरिणामे पडिसिया हिलासपरिणामे, मिच्छादंसणपरिणामे, असंजमपरिणामे, पावजोगपरिणामे, कायसुहाहिलासपरिणामे सद्देसु, रुवेसु, गन्धेसु, रसेसु, फासेसु, काइयाहिकरणियाए, पदोसियाए परदावणियाए, पाणाइवाइयासु, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अइचारो, अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ॥८॥

अर्थ -- हे भगवन्! इन आर्त्तध्यान आदि के करने में दोष हुए उनका मै प्रतिक्रमण अर्थात् निराकरण करता हूं १ आर्त्तध्यान २. रौद्रध्यान ३ इहलोकसंज्ञा ४ परलोकसंज्ञा ५. आहारसंज्ञा ६ भयसंज्ञा ७ मैथुनसंज्ञा ८. परिग्रहसंज्ञा ९ क्रोध शल्य १० मानशल्य ११ मायाशल्य १२ लोभशल्य १३ प्रेम शल्य १४ पिपासाशल्य १५ निदानशल्य १६ मिथ्यादर्शन शल्य १७ क्रोधकषाय १८ मानकषाय १९ मायाकषाय २० लोभकषाय २१ कृष्णालेश्यापरिणाम २२ नीललेश्यापरिणाम २३ कापोतलेश्यापरिणाम २४ आरभपरिणाम २५ परिग्रहपरिणाम २६ प्रतिश्रयाभिलाषपरिणाम प्रतिश्रयअर्थात् मठादि में मूर्छादि के परिणाम २७ मिथ्यादर्शनपरिणाम २८ असंयमपरिणाम २९ पापयोग्यपरिणाम ३० कायसुखाभिलाषपरिणाम ३१ शब्द ३२ रूप ३३ गन्ध ३४ स्पर्श ३५ कायिकाधिकरणिकी शरीर के आधार से होने वाली हिंसायुक्त क्रिया ३६ प्रादोषिकी (दुष्ट, मन, वचन काय सम्बन्ध ी क्रिया ३७ पारिद्रावणिकी (द्रावण का मतलब है दु:ख या क्षोभ को उत्पन्न करना,) सब तरह से दूसरों को दुख उत्पन्न करने वाली क्रिया ३८, (प्राणों के वियोग करने वाली क्रिया) इन आर्त्तध्यान को आदि लेकर प्राणातिपातिका क्रिया पर्यन्त में मेरे जो कोई दिन में या (रात्रि) में अतिचार या अनाचार हुआ वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे॥८॥

एकादि ३३. संख्या पर ध्यान रखते हुये दोषों की आलोचना--

गद्य - पडिक्कमामि भन्ते! एक्के भावे अणाचारे,

दोसु रायदोसेसु, तीसु दंडेसु, तीसु गुत्तीसु तीसु गारवेसु, चउसु कसाएसु, चउसु सण्णासु, पंचसु महव्वएसु, पंचसु समिदीसु, छसु जीवणिकाएसु, छसु आवासएसु , सत्तसु भएसु, अट्ठसु मएसु, णवसु बंभचेरगुत्तीसु, दसविहेसु समण धम्मेसु एयारसविहेसु उवासयपडिमासु, बारहविहेसु भिक्खुपडिपासु, तेरसविहेसु किरियाट्ठाणेसु, चउदसविहेसु भूदगामेसु, पण्णारसविहेसु, पमायट्ठाणेसु, सोलहविहेसु, पवयणेसु, सत्तारसविहेसु असंजमेसु, अट्ठारसविहेसु असपराएसु, उणवीसाए णाहज्झाणेसु, वीसाए असमाहिट्ठाणेसु, एक्कवीसाए, सवलेसु, बावीसाए परीसहेसु, तेवीसायसुद्दयडज्झाणेसु, चउवीसाए अरहंतेसु, पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरिया ट्टाणेसु, छव्वीसाऐ पुढवीसु, सत्तावीसाए अणगारगुणेसु, अट्ठावीसाए आयारकप्पेसु, एउणतीसाए पावसुत्तपसंगेसु, तीसाप्ये माहणी ठाणेसु एकत्तीसए कम्मविवाएसु, बत्तीसाए जिणोवएसेसु, तेतीसोए अच्चासणदाए, सखेवेण जीवाण अच्चसणदाए अजीवण अच्चासणदाए, णाणस्स अच्चासणदाए, दंसणस्स अच्चासणदाए चरित्तस्स अच्चासणदाए, तवस्स अच्चासणदाए, वीरियस्स अच्चासणदाए, त सव्व पुव्वंदुच्चरियं गरहामि, आगामेसीएसु पच्चुप्पण्ण इक्कतं पडिक्कमामि, अणागय चच्चक्खामि अगरहिय गरहामि अणिदियं णिंदामि, अणालोचिय आलोचेमि आराहणमब्भुट्ठेमि, विराहण पडिक्कमामि इत्थं मे जो कोई देवसिओ (राइओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे

दुक्कडं ॥१॥

अर्थः-- हे भगवन्! एक अनाचार परिणाम, दो रागद्वेषपरिणाम तीसुदंडेसु - (दुष्ट मन, वचन एवं काय जीव को दंड देते रहते है अत: इनसे संबंध रखने वाले दोषों में) तीसुगुत्तीसु - (तीन गुप्तियों में) तीसुगारवेसु- ऋद्धिगौरव, रसगौरव तथा स्वाद गौरव या (शब्द गौरव) इन तीनों में चउसुकसाएसु - (क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ कषायों में) चउसुसण्णासु - (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, इन ४ संज्ञाओं में) पंचसु महव्वयेसु-पाँच महाव्रतों मे पंचसु समिदीसु - (पाँच समितियों में) छसु जीवणीकाएसु - (पाँच स्थावर तथा एक त्रस, इन ६ जीवों के समुदायों में) छसुआवासएसु - (समता, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोसर्ग इन छह आवश्यकों में) सत्तसु भएसु - इसलोक भय, परलोक भय, अत्राण (अरक्षा) भय, अगुप्तिभय मरणभय, वेदनाभय, अकस्मात् भय इन सात भयों में अट्ठसुमएसु - (विज्ञानमद, आज्ञामद, ऐश्वर्यमद, कुलमद, बलमद, तपमद, रुपमद और जातिमद, इन आठ प्राकार के मदों में णवसु बंभचेरगुत्तीसु - (१ तिर्यंच २ मनुष्य और ३ देवियों में मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से विषय का सेवन करने में) दसविहेसुसमणधम्मेसु - (उत्तम क्षमादि १० प्रकार के धर्मों में) एयारसविहेसु उवासयपडिमासु - श्रावक की ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओं में) बारह-विहेसु-भिक्खु पडिमासु - (उत्तम संहनन वाले मुनियों की बारह प्रकार की प्रतिमाओं में, तेरस-विहेसु-किरिया-ट्ठाणसु (पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्ति रुप १३ प्रकार की क्रियाओं में) चउदसविहेसु भूदगामेसु - (बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनीपंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय, सात युगल, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से १४ प्रकार के जीव समासों में, पण्णारस विहेसु पमायठाणेसु - (५ इन्द्रिय ४ विकथा ४ कषाय १ निद्रा १ स्नेह इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में सोलह विहेसु पवयणेसु विभक्ति, काल, लिंग, वचनादि की अपेक्षा कहे गये १६ प्रकार के प्रवचनों में, सत्तारसविहेसु असंजमेसु - हिसादि पांच प्रकार के पापों में, पांच प्रकार की इंन्द्रियों की प्रवृत्ति में, चार प्रकार की कषायों में तथा मन, वचन काय की कुचेष्टा रुप १७ प्रकार

असंयमों में अट्ठारसविहेसु असपंराथेसु - सम अर्थात् समीचीन (श्रेष्ठ प्रधान आय अर्थात् पुण्य का आगमन जिनसे होता है उन्हे "सम्पराय" कहते है इसके निषेध करने वाले साधनों को असम्परायिक कहते है, वे निम्नलिखित १८ प्रकार के है:- उत्तमक्षमादि १० प्रकार के धर्म, ईर्यादि ५ प्रकार की समिति तथा मन, वचन, काय रुप गुप्ति का पालन नहीं करना इस प्रकार ये अठारह प्रकार के असंयमों में उणवीसाय णाहज्झाणेसु - १९ प्रकार के नाथाध्ययन अर्थात् निम्नलिखित धर्म कथाओं में।

१९ प्रकार के नाथाध्ययन धर्मकथायें-

उक्कोडणाग कुम्मडय, रोहिणी, सिस्स, तुंबसघादे।
मादंगि, मल्लि, चंदिम, तावद्देवय, तिक, तलाय, किण्णेय॥१॥
सुसुकेय, अवरकंके णंदीफल, मुदग, णाह, मंडूके।
एत्तोय, पुंडरीगो, णाहज्झाणाणि, उगुवीस॥२॥

अर्थ -- ये सब सम्यक् धर्म कथायें है - १ उक्कोडणाग - श्रेयहस्ती नागकुमार की कथा २ कुम्भ कूर्म कथा ३ बअंडय अण्डज कथा ५ प्रकार की (१ कुक्कुट कथा २ तापसपल्लिकास्थितशुक कथा ३ वेदकशुक कथा ४ अगंधनसर्प कथा ५ हंसयूथबन्धथनमोचन कथा) ४ रोहणी कथा शिष्य कथा ६ तुंब क्रोध से दिये हुये कटुतुम्बी के भोजन करने वाले मुनि की कथा संघादे समुद्रकत्तादि ३२ श्रेष्ठ पुत्रों की कथा जो सभी अतिवृष्टि के होने पर समाधि को धारण कर स्वर्ग को प्राप्त हुये। ८ मादगिमल्लि मातंगिमल्लि कथा ९ चंदिम चन्द्रवेध कथा १० तावद्देवप सगरचक्रवर्ती की कथा ११ करकण्डु राजा की कथा १२ तलाय वृक्ष के एक कोटर में बैठे हुये तपस्वी की कथा १३ किण्णै चावलों के मर्दन में स्थित पुरुष की कथा १४ सुसुकेय आराधना ग्रन्थ में कही हुई शुशुमार सरोवर सम्बन्धी कथा १५ अवरकके (अवरकंका नामक पत्तनपुर) में उत्पन्न होने वाले अंजन चोर की कथा १६ णादीफल अटवी में स्थित, बुभुक्षा से पीड़ित, धन्वंतरि, विश्चानुलोम और भृत्त के द्वारा लाये हुये किंपाकफलकी कथा १७ उदकनाथकथा १८ मंडूककथा जातिस्मरण होने वाले मेंढक की कथा १९ पंडरीगो पुडरीक नामक राजपुत्री की कथा।

अथवा

गुणजीवा पज्जती, पाणासण्णाय मग्गणाओ य।
एउणवीसा एदे, णाहज्झाणा मुणीयव्वा।।१।।

अर्थ :-- गुणस्थान १४, जीवसमास १५, पर्याप्ति १६, प्राण १७, संज्ञा १८, मार्गणा १९, ये १९ प्रकार के नाथाध्ययन समझने चाहिये।

अथवा

णवकेवललद्धीओ, कम्मक्खयजा हवंति दसचेव।
णाहज्झाणाएदे एउणवीसा वियाणाहि ।।२।।

अर्थ:-- घातिया कर्म के क्षय होने वाले दस अतिशय तथा नव प्रकार की लब्धि सम्बन्धी जिनवाणी का यथा समय अध्ययन करना। वीसाए असमाहिट्ठाणेसु - रत्नत्रय का आराधन करते हुये मुनि के चित्त में किसी प्रकार की आकुलता का नहीं होना ही समाधि है और उससे विपरीत 'असमाधि, है, उसके ये नीचे लिखे हुये २० स्थान है·- डवडवचरं - ईर्या समिति रहित गमन करना। अपमज्जिदं - अपमार्जित उपकरणादि को ग्रहण करना रखना उठाना आदि। रादिणीयपडिहासी - रादिणीअ अर्थात् दीक्षादि से जो ज्येष्ठ है उसका अनादर करके कथन करना । अधिसेज्जासणं - ज्येष्ठ के ऊपर अपना शय्या या आसन करना । कोधी-दीक्षा से ज्येष्ठ के वचन पर क्रोध करना । थेर विवादंतरासय - दीक्षा से ज्येष्ठ मुनि आदिकों के समय, बीच में प्रविष्ट होकर वार्तालाप करना। उवघादं - दूसरे का तिरस्कार करके भाषण करना। अणणुवीति - आगम भाषा का त्याग करके भाषण करना। अधिकरणी - आगम के विरोध से अपनी बुद्धि के द्वारा तत्व का कथन करना। पिट्ठिमांसपडिणीगो - पीठ पीछे विपरीत वचन कहना। असमाहिकलहं - दूसरे के आशय को बदल कर अन्य का नाम लेकर झगड़ा पैदा कर देना। झण्झा - थोड़ा झगड़ा करके रोष उत्पन्न कर देना । सद्दकरेपढिदा - सब लोगों की आवाज को दबा, कर उच्च ध्वनि से पढ़ना । एसणा समिदि - बिना शोधे भोजन करना । सुरप्पमाणभोजी -? गाणांगणणिगो - बहुत अपराध करने वाला मुनि एक गण से दूसरे गणों में भेज दिया जाता है। सरक्खरावादे - धूल सहित पैरों का जल में प्रवेश करना तथा जल से गीले पैर हो जाने पर धूल में प्रवेश करना । अप्पमाणभोजी

- अप्रमाण भोजन करना अर्थात् भूख से ज्यादा भोजन करना। अकालसज्झाओ - अकाल में स्वाध्याय करना।

{इन बीस प्रकार के असमाधिस्थानों में}

एक्कवीसाए सवलेसु - निम्नलिखित २१ प्रकार की सबल क्रियाओं के भेद

पंचरस पचवण्णा दो गंधा अट्ठफासगुणभेया।
विरदिजणरागसहिदा, इगिवीसा सबलकिरियाओ ।।

अर्थ -- ५ प्रकार की रस सम्बन्धी ५ प्रकार की वर्ण सम्बन्धी दो प्रकार की गंध सम्बन्धी तथा आठ प्रकार की स्पर्श सम्बन्धी और २१ वी विरदिजणरागसहिदा - पहले छोड़े हुये अपने सम्बन्धियों के ऊपर स्नेह सहित क्रिया। बावीसाए परीसहेसु - बाईस परीषहों के सहन करने में। तेवीसाय सुद्दयडज्झाणेसु तेईस प्रकार के सुत्रकृत दूसरे अंग के अधिकारों में।

समए वेदालिझे एत्तो, उवसग्ग इत्थिपरिणामे।
णिरयतर वीरथुदी, कुसीलपरिभासिए विरिये ।।१।।
धम्मोय अग्गमग्गे, समोवसरण तिकालगंथहिदे ।
आदातदित्थगाथा, पुंडरिको किरियठाणेय ।।२।।
आहारय परिणामे, पच्चक्खाणा णागारगुण कित्ति।
सुद अत्था णालदे, सुद्दय डज्झाणाणि तेवीस ।।३।।

समए समय अधिकार, अध्ययन काल के प्रतिपादन के द्वार से त्रिकाल स्वरुप का प्रतिपादन करता है।

वेदालिझे - वेदालिंगधिकार तीन वेदों के स्वरुप का प्रारूपण करता है।

उवसग्गं - उपसर्ग का अधिकार - ४ प्रकार के उपसर्गों का निरुपण करता है ।

इत्थिपरिणामे - स्त्री परिणाम का अधिकार, स्त्रियों के स्वभाव का वर्णन करता है ।

णिरयतर - नरकान्तर अधिकार, नरकादि चतुर्गतियों का वर्णन करता है ।

वीरथुदी - वीर स्तुति अधिकार, २४ तीर्थंकरों के गुण का वर्णन करता है ।

कुसीलपरिभासिए - कुशील परिभाषा का अधिकार कुशीलादि ५ प्रकार के पार्श्वस्थ साधुओं का वर्णन करता है।

विरिये - वीर्याधिकार, जीवों की तारतमता से वीर्य का वर्णन करता है ।

धम्मोय - धर्माधिकार, धर्म और अधर्म के स्वरूप का वर्णन करता है ।

अग्ग - अग्राधिकार, श्रुत के अग्रपदों का वर्णन करता है ।

मग्गे - मार्गाधिकार, मोक्ष और स्वर्ग के स्वरूप तथा कारण का वर्णन करता है ।

समोवसरणं - समवसरणाधिकार, २४ तीर्थंकरों के समवसरण का वर्णन करता है ।

तिकोलगंथहिदे - त्रिकालग्रंथ का अधिकार, त्रिकाल गोचर अशेष परिग्रह के अशुभ रुप का वर्णन करता है ।

आदा - आत्माधिकार, जीव के स्वरुप का वर्णन करता है ।

तदित्थगाथा - तदित्थगाथाधिकार वाद के मार्ग का प्ररुपण करता है ।

पुंडरिका - पुंडरीक अधिकार, स्त्रियों के स्वर्गादि स्थानों मे स्वरूप का वर्णन करता है ।

किरियठाणेय - क्रियास्थानाधिकार तेरह प्रकार की क्रियाओं के स्थानों का वर्णन करता है ।

आहारय परिणामे - आहारक परिणाम का अधिकार सर्व धान्यों के रस और वीर्य के विपाक को तथा शरीर में व्याप्त सातधातुओं के स्वरुप का वर्णन करता है ।

पच्चक्खाण - प्रत्याख्यान का अधिकार, सर्वद्रव्य के विषय से सम्बन्ध रखने वाली निवृत्तियों का वर्णन करता है ।

अणगारगुणकित्ति - अनगार गुण कीर्तन का अधिकार, मुनियों के गुण का वर्णन करता है ।

सुदा - श्रुताधिकार, श्रुत के फल का वर्णन करता है ।

णालंदे - नालंदाधिकार, ज्योतिषियों के पटल का वर्णन करता है ।

सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं - सूत्रकृत अध्ययन ये २३ संख्या वाले है । द्वितीय अंग में श्रुतवर्णन के अधिकार के अन्वर्थ संज्ञा वाले है, इनके अकाल अध्ययनादि के विषय में मै प्रतिक्रमण हूं ।

चउवीसाए अरहंतेसु - २४ तीर्थंकर देवो की यथा काल वंदनादि करनी चाहिये, यदि उसका पालन नहीं किया हो तो उन दोषों का प्रतिक्रमण करता हूं ।

पणवीसाए भावणासु - इन २५ भावाओं का वर्णन पीछे दिया जा चुका है उन दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूं ।

पणवीसाए किरियाट्ठाणेसु - २५ क्रियाओं में क्रियाओं का वर्णन पीछे दिया जा चुका है उनमें लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूं ।

छव्वीसाए पुढवीसु - २६ पृथ्वियों में सौधर्म आदि मोक्ष शिला तक ।

गद्य - रूचिराभसोलसपडला सत्तसु पुढवीसु होंतिपुढवीओ।
अवसप्पिणीए सुद्धा खराय उवसप्पिणीयदु।।

१ रुचिरा नामकी एक पृथ्वी है वह भरत और ऐरावत के अवसर्पिणी काल में २ शुद्धा नामकी पृथ्वी कही जाती है और वही उत्सर्पिणी काल में ३ खरा नाम से कही जाती है रत्नप्रभा भूमि के खर भाग में पिण्ड रूप से एक दो हजार योजन के परिमाण वाली निम्न लिखित सोलह भूमियें है - १ चित्रा पृथ्वी २ वज्रपृथ्वी ३ वैडूर्यपृथ्वी ४ लोहितांकपृथ्वी ५ मसारगंधपृथ्वी ६ गोमेधपृथ्वी ७ प्रवालपृथ्वी ८ ज्योति पृथ्वी ९ संसाजन पृथ्वी १० अंजन मूल पृथ्वी ११ अंक पृथ्वी १२ स्फटिक पृथ्वी १३ चंदनपृथ्वी १४ वर्चकपृथ्वी १५ बकुल पृथ्वी और १६ शिलामयपृथ्वी, पंक भाग में ८४ हजार योजन के परिमाण वाली पृथ्वी तथा इसी भूमि के अब्बहुल भाग में ८० हजार भोजन परिमाण वाली 'रत्नप्रभा' नामकी नरक की पृथ्वी है और आकाश के नीचे ६ नरको की भूमियें है कुल मिलाकर २६ पृथ्विया है ।

सत्तावीसाए अणगारगुणेसु - २७ प्रकार के अनागार के गुण निम्न है .- १२ भिक्षु को प्रतिमा (ये उत्तमसंहननवाले मुनियों के होती है) ८ प्रवचन मात्रा (५ समिति तथा ३ गुप्तियों के पालन में) क्रोध मान, माया, लोभ, राग और द्वेष के अभाव रुप प्रवृत्ति में

अट्ठावीसाए आयारकप्पेसु - (२८ प्रकार के आचार कल्प अर्थात् मुनि के मूलगुण, ५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रिय निरोध, ६ आवश्यक ७ विशेषगुण)
एउणतीसाए पावसुत्तपसंगेसु - २९ प्रकार के पाप सूत्र प्रसंग (अट्ठारस य

पुराणो, सडंग विज्जाय लोइयाणं दु बुद्धइ पंच समया, परूपणा जासु दे लोए) इस गाथानुसार अठारह पुराण, षडंग वाली लौकिक विद्यायें और बौद्ध आदि ५ प्रकार के सिद्धान्त १८+६+५+२९ ।

तीसाएमोहणीठाणेसु - तीस प्रकार के मोहनीय स्थान, क्षेत्रवास्तुआदि बहिरंग परिग्रह से संबंध रखने वाला १० प्रकार का मोह अंतरंग मिथ्यात्वादि से मोह रखने के भाव के रूप १४ प्रकार के भेद तथा पांच इंद्रिय और छठे मन से मोह जनित संबंध रखने के कारण १०+१४+५+१=३०

एकत्तीसाए कम्मविवाएसु - {ज्ञानावरणादि आठों कर्म सम्बन्धी भेद, ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २ (दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय) आयु के ४, नाम के २, (शुभ और अशुभ) गोत्र के २, अंतराय के ५ इस तरह सब मिलाकर ३१ होते है ।}

बत्तीसाए जिणोवएसेसु - ३२ प्रकार के जिनोपदेश

गद्य - आवासमंगपुव्वा, छब्बारस चोदसा य ते कमसो।
बत्तीस इमे णियमा, जिणोवएसा मुणेयव्वा ॥१॥

अर्थ -- छह आवश्यक, बारह अंग और चौदह पूर्व इस प्रकार सब मिलाकर बत्तीस होते है।

तेतीसाए अच्चासणदाए - तेतीस प्रकार की आसादना

गद्य - पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाय महव्वायापंच।
पवयण मादु पदत्था तेतीसाच्चासणा भणिया॥२॥

अर्थ - पांच प्रकार के अस्तिकाय, छह प्रकार के जीवों के निकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचन माता और जीवादि नो पदार्थ संबंधी अनादर की भावना ५+६+५+८+९ सब मिलाकर तेतीस आसादना होती है

संखेवेण जीवाणअच्चासणदाए - संक्षेप से जीवों की अत्यासादना (अवहेलना) ।

अजीवाण अच्चासणदाए - अजीवों की अत्यासादना ।

णाणस्सअच्चासणदाए - ज्ञान की अत्यासादना ।

दंसणस्स अच्चासणदाए - दर्शन की अत्यासादना ।

चरित्तस्स अच्चासणदाए - चरित्र की अत्यासादना ।

तवस्स अच्चासणदाए - तप की अत्यासादना ।

वीरियस्स अच्चासणदाए - वीर्य की अत्यासादना ।

इन सब में जो कुछ मन, वचन और काय से भूत काल में दुष्ट चेष्टा हुई अर्थात् जो पालने योग्य है, उनका पालन नही किया और जो पालने योग्य नहीं थे उनका पालन किया, उस सब दुश्चरित्र की परसाक्षी से हो! मैंने दुष्ट कार्य किया, इत्यादि पश्चात्ताप पूर्वक गर्हा करता हूं वर्तमान सम्बन्धी दुश्चरित्र को प्रतिक्रमण द्वारा निराकरण करता हूं तथा भावी दुश्चरित्र का त्याग करता हूं, अविवेक से मैंने जो पहले दुष्चरित्र की गर्हा नहीं की, अब इसकी गर्हा करता हूं जिसकी आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं की, उसकी निन्दा करता हूँ। जिसकी पहले आलोचना नहीं की उसकी अब आलोचना करता हूँ। आराधना का (रत्नत्रयका) अनुष्ठान करता हूँ। रत्नत्रय की विराधना का प्रतिक्रमण करता हूँ। इन से जो कोई दैवसिक (रात्रिक) अतिचार, अनाचार हुआ है वही अतिचार आदि संबंधी दुष्कृत मेरे मिथ्या हो, इस प्रकार अनुष्ठान योग्य-अयोग्य उक्त सब में लगे दोषों का प्रतिक्रमण-निराकरण करता हूं॥९॥

निर्ग्रन्थ पद की वांछा –

गद्य - इच्छामि भंते। इमं णिग्गंथं पावयणं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं, णेगाइय सामाइयं संसुद्धं, सल्लघट्टाणं, सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेढिमग्गं, खंतिमग्गं, मुत्तिमग्ग, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्ग, सव्वदुक्खापरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, अवित्तहं अविसंतिपवयणं, उत्तमं, तं सद्दहामि, त पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि, इदोत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं, णभव, णभविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेणेवा सुत्तेण वा, इदोजीवा सिज्झंति, बुज्झंति मुच्चंति, परिणिव्वाणयन्ति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, पडिवियाणंति, समणोमि सजदोमि, उवरदोमि, उवसंतोमि, उवहिणियडिमाणमायमोस मिच्छाणाण, मिच्छादंसण मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाण सम्मदंसण सम्मचरित्तं च रोचेमि ज जिणवरेहिं पण्णत्त, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राइयो) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥१०॥

अर्थ - हे भगवन्! मै इस निर्ग्रन्थ लिंग की इच्छा करता हूं। यह वाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित, मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् कारण निर्ग्रन्थ लिंग आगम में बतलाया गया है तथा इसका विशेष प्रतिपादन निम्न रुप से किया गया है।

अनुत्तर - यह अनुत्तर अर्थात् इस निर्ग्रन्थ लिंग से भिन्न दूसरा और कोई उत्कृष्ट मोक्ष का मार्ग नही है।

केवलियं - केवली सम्बन्धी है।

पडिपुण्णं - परिपूर्ण है।

णेगाइयं - नैकायिक है (परिपूर्ण रत्नत्रय के निकाय से संबंध रखने वाला है ।

सामाइयं - सामायिक रुप है (समय अर्थात् मरमोदासीनता रुप अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के हिन्सादि दोषों से रहित है ।

संसुद्धं - संशुद्ध है (अतिचार रहित आलोचनादि प्रायश्चित्त से शुद्ध है)

सल्लघट्ठाणं - सल्लघत्ताणं- शल्य घट्टक जीवों के शल्य का घातक है (शल्य अर्थात् माया मिथ्यात्व और निदान रुप कांटो से जो दुखी होते है उनके शल्य को घात करने वाला अर्थात दूर करने वाला है ।

सिद्धिमग्गं - सिद्धि का मार्ग (स्वात्मापलब्धि का मार्ग ।)

सेढिमग्गं - (श्रेणी के दो भेद है १ उपशम श्रेणी २ क्षपक श्रेणी इन दोनों श्रेणियों का मार्ग निर्ग्रन्थ लिंग ही है ।)

खंतिमग्गं - (शांति का मार्ग)

मुत्तिमग्गं - (परिग्रहत्याग रुप मुक्ति का मार्ग है)

पमुत्तिमग्गं - (प्रकर्षरुप से मुक्ति) अर्थात सर्वसंग का परित्याग रुप परमनिस्पृहता का मार्ग)

मोक्खमग्गं - (बन्ध के हेतुओ का अभाव तथा निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मों के अभाव रूप मोक्ष का मार्ग)

पमोक्खमग्गं - मोक्ष का अर्थ एक देश अर्थात् घातिया कर्मों का नाश होने से अर्हन्त भगवान् की अवस्था और प्रमोक्ष का अर्थ है-

सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने से सिद्धावस्था - यह निर्ग्रंथ लिंग दोनों ही अवस्था का कारण है)

णिज्जाणमग्गं - यान अर्थात संसार के पर्यटन से निकलना अर्थात् चतुर्गति के परिभ्रमण का अभाव का यह लिंग मार्ग है)

णिव्वाणमग्गं - (निर्वाण अर्थात् संसार से विरक्ति या परम सुख यह मुनि

लिंग दोनों की प्राप्ति का मार्ग है)

सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं - (शरीर सम्बन्धी तथा मन सम्बन्धी सम्पूर्ण दुखो के नाश करने का यह मुनि लिंग ही मार्ग है) निर्वाण का मार्ग है अर्थात् उस भव में या दूसरे भव में यह निर्ग्रंथलिंग ही निर्वाण का परम साधक है।

अवित्तहं - (अवितथ अर्थात् मोक्ष के चाहने वाले भव्य जीवों के मोक्ष के प्राप्त करने में यह लिंग ही विसवाद रहित, सर्वोत्तम साधन है ।) अर्थात् उस भव में या दूसरे भव

सुचरियपरिणिव्वाणमग्ग - (उत्तम सामायिकादि रुप विशुद्ध चारित्र भावों के लिए यही मुनि लिग निर्वाण का मार्ग है ।)

अविसंतिपवयणं - (यह मुनि लिंग ही एक ऐसा लिग है जिसको मोक्ष को चाहने वाले स्वीकार करते है तथा प्रकृष्ट सर्वज्ञ द्वार प्रणीत होने से यही निराबाध सिद्धिसुख का देने वाला है।

उत्तमं - (उत्तम अर्थात् मोक्ष के लक्षण रुप परमपुरुषार्थ का साधक है)

तंसद्दहामि - (मै पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त निर्ग्रन्थलिंग का श्रद्धान करता हूं अर्थात उसमें विपरीत अभिप्राथा से रहित होता हूँ)

तं पत्तियामि - (उसी लिंग की प्रतीति करता हुँ अर्थात् इसी लिंग को मोक्ष कारण रूप निर्णय करता हूँ)

त रोचेमि - (रुचि करता हूं अर्थात् मोक्ष का यही लिंग साक्षत् कारण है ऐसा समझकर इस लिग में रुचि करता हूँ)

त फामेसी - (उसी का स्पर्श करता हूं अर्थात् मै स्वयं मोक्ष का अर्थी होने के कारण इस लिंग को ही उसका साधन समझकर आलिंगन करता हूं)

इदो उत्तरं - (इस निर्ग्रन्थ लिंग से श्रेष्ठ)

अण्णं - (अन्य मोक्ष का साधक लिंग वर्त्तमान काल में भी दूसरा)

णत्थि - (नहीं है)

ण भूदं - (भूतकाल में भी निर्ग्रन्थ लिंग के अतिरिक्त और कोई दूसरा लिंग मुक्ति का साधक नहीं था)

ण भविस्सदि - (भविष्य काल में भी यही लिंग मुक्ति का मार्ग रहेगा)

णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण वा - (उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र इसी निर्ग्रन्थ लिंग में शोभित होते है)

सुत्तेणवा - (उत्कृष्ट सर्वज्ञ प्रणीत आगम द्वारा प्रतिपादित है इसीलिए भी

यह निर्ग्रंथ लिंग उत्कृष्ट है)

इदोजीवा सिज्झंति - (इस निर्ग्रन्थ लिंग से मोक्षार्थी जीव अपनी आत्मा का स्वरुप प्राप्त कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं)

बुज्झंति - (इस लिंग के धारण करने पर ही वीतराग भावों की वृद्धि के कारण मुनिगण जीवादि तत्वों के रहस्य को समझते हैं)

मुच्चंति - (सम्पूर्ण प्रकार के कर्मों से रहित होते हैं)

परिणिव्वाणयंति - (सुखी या कृतकृत्य हो जाते हैं)

सव्वदुक्खाणमंतं करेंति - (शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों का विनाश करते है)

पडिवियाणति - (सर्व प्रकार के दुःखों का नाश कैसे हो? इसके उपाय को निर्ग्रन्थ लिंग धारी भलीभांति जानते हैं)

समणोमि - (उसे ग्रहण कर मै श्रमण-मुनि होता हूं)

संजदोमि - (संयत अर्थात प्राणी यथा इंद्रियरुप संयम के पालन में तत्पर होता हूं)

उवरदोमि - (सर्व विषयों से उपरत अर्थात् विरक्त होता हूं)

उवसंतोमि - (कहीं २ पर राग द्वेष भाव की कमी होने से मोह को उपशांत करता हूं)

उवहि - (परिग्रह)

णियडि - (निकृत अर्थात वंचना)

माण - (मान अर्थात गर्व)

माय - (माया अर्थात् कुटिलता)

मोस - (असत्यभाषण)

तथा मिच्छाणाण मिच्छादंसण, मिच्छावरित्तं च पडिविरदोमि - तथा च शब्द से प्रसिद्ध मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र के प्रति विरक्त होता हूँ तथा

सम्मणाणसम्मदंसणसम्म चरित्तं च रोचेमि - सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में रुचि (श्रद्धान) करता हूं।

जं जिणवरहिं पण्णत्तं - (जो सम्यग्ज्ञानादि, जिनेन्द्रदेव के द्वारा आगम मे बतलाया गया है उसी का श्रद्धान करता हूं)

इत्थ मे जो कोई - इस में जो कोई दिन सम्बन्धी या (रात्रिसंबंधी) अतिचार

या अनाचार के कारण दोष लगा हो तो वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।।१०।।

सार्वकालिक दोषों का प्रतिक्रमण -

गद्य - पडिक्कमामिभते। सव्वस्स सव्वकालियाए इरिया समिदीए, भासा समिदीए, एसणासमिदीए, आदाणनिक्खोवणासमिदीए, उच्चारपस्सवणाखोल सिहांणयवियडिपइट्ठावणिसमिदीए, मणगुत्तीए, वचिगुत्तीए, कायगुत्तीय, पाणादिवादादो वेरमणाए, मुसावादादो वेरमणाए, अदिण्णदाणादो वेरमणाए मेहुणादो वेरमणाए, परिग्गहादो वेरमणाए, राइभोयणादो वेरमणाए सव्वविराहणाए, सव्वधम्म अइक्कमणदाए, सव्वमिच्छा चरियाए, इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राईओ) अइचारो अणाचारे तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।।११।।

अर्थ - हे भगवन्! सव्वस्स- (दिन में या रात्रि में होने वाले अतिचारों की)

सव्वकालियाए - (सार्वकालिक विशुद्धि के निमित्त) प्रतिक्रमण करता हूं। उन्हीं सार्वकालिक व्रतों को निम्न रुप से बताया गया है:-

इरियासमिदीए - ईर्या समिति, भाषा सपिति, एषणासमिति, आदान निक्षेपण समिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिहाणक-विकृति, प्रतिष्ठापन समिति, मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति तथा

पाणादिवादादो वेरमणाए - प्राणातिपात (हिंसा से) विरमण, (त्याग)

मुसावादादो वेरमणाए - मृषावाद (असत्य वचन से) विरमण (त्याग)

अदिण्णदाणादो वेरमणाए - अदत्तादान (चोरी) से विरमण (त्याग)

मेहुणादो वेरमणाए - मैथुन (अब्रह्म) से विरमण,

परिग्गहादो वेरमणाए - परिग्रह (बाह्य और अभ्यन्तर) से विरमण (विरक्ति)

राइभोयणादो वेरमणाए - रात्रि भोजन से विरमण,

सव्वविराहणाए - सब एकेन्द्रियादि जीवों की विराधना से,

सव्वधम्म-अइक्कमणदाए - सब धर्मो की अतिक्रमणाता अर्थात् जो आवश्यक कार्य यथा काल बतलाये गये है उनका उल्लघन करने से तथा

सव्वमिच्छा चरित्ताए - (अज्ञान के वश से होने वाले सब मिथ्याचारित्र का दिन में या रात्रि में, अतिचार या अनाचार लगा है, उस सम्बन्धी मेरा सर्व दुष्कृत मिथ्या होवे, इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हूँ ।।११।।

वीर भक्ति कायोत्सर्ग की आलोचना-

गद्य - इच्छामि भंते! वीरभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं जो मे देवसिओ (राइओ) अइचारो, अणाचारो आभोगो अणाभोगो काइओ, वाइओ माणसिओ, दुच्चिंतिओ, दुब्भासिओ दुप्परिणामिओ दुस्समणीओ णाणे, दंसणे, चरित्ते सुत्ते, सामाइए, पंचण्हं महव्वयाणं, पंचण्हं समिदीणं तिण्हंगुत्तीणं, छण्हं जीव-णिकायाणं, छण्हं आवासयाणं, विराहणाए, अट्ठविहस्स कम्मस्स णिग्घादणाए, अण्णहा उस्सासिएण वा, णिस्सासिएण वा, उम्मिसिएण वा, णिम्मिसिएण वा, खासिएण वा, छिंक्किएण वा, जंभाइएण वा, सुहुमेहिंअंगचलाचलेहिं; दिट्ठिचलाचलेहिं, एदेहिं सव्वेहिं आयरेहिं असमाहिं पत्तेहिं, आयरेहिं, जाव अरहंताणं, भय वंताणं पज्जुवासकरेमि, तावकायं पावकम्मं, दुच्चरियं वोस्सरामि।।१।।

अर्थ - हे भगवन्! मै वीर भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करना चाहता हूं और उसमें मेरे जो कोई दिवस में (रात्रि में) अतिचार, अनाचार, आभोग, अनाभोग, दुश्चिरित्र, लक्षण कायिक, दुर्भावित स्वरुप वाचिक एवं दुश्चिंतित, दुष्परिणामिक स्वभाव मानसिक और दु.स्वप्निक दोष हुये तथा ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में, सूत्र में, सामायिक में, पांच महाव्रत में, पांच समिति में, तीन गुप्ति में, छह जीवनि काय में, और छह आवश्यक की विराधना में तथा आठ कर्म की

णिग्घाद्णाए - निर्घातन अर्थात् नाश करने वाली क्रियाओं के प्रयत्न करने में जो दोष लगे है तथा अन्य प्रकार से भी दोष लगे है उन सबके विनाशार्थ कायोत्सर्ग करता हूं- अन्य प्रकार के दोष कौन-२ से है उन्हें आचार्य स्वयं प्रकट करते है।

१ उस्सासिदेणवा - (उच्छ्वास से)

२ णिस्सासिदेणवा - (निश्वांस से)

३ उम्मिसिएणवा - (नेत्रों की पलकों के खोलने से)

४ णिम्मिसिएणवा - (नेत्रों की पलकों के बन्द करने से)
५. खासिदेणवा - (खांसने से)
६. छिंकिदेणवा - (छींकने से)
७ जंभाइदेणवा - (जंभाई अर्थात् उबासी लेने से)
८ सुहुमेहिं अंग चलाचलेहिं - (सूक्ष्म अंगों को हिलाने से)
९. दिट्ठि चलाचलेहिं - (नेत्रों के इधर उधर हिलाने से)
१० एदेहिं सव्वेहिं - (इन सब पहले कहे हुये)

आयरेहिं - कार्यों से जो कुछ भी दोष को दूर करने के लिये कायोत्सर्ग करता हूँ।

असमाहिं पत्तेहिं - धर्म ध्यान और शुक्लध्यान यह समाधि कहलाती है। उससे विपरीत आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान ये दोनें असमाधि कहलाते है क्योंकि ये दोनों अशुभ होने से समाधि के घातक है इनके कारण से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने के लिये

जावअरहताणं - जब तक एक देश से और सर्वदेश से घातिया कर्म का घात करने वाले भगवान् पंच परमेष्ठी का

भयवंताण - सातिशय ज्ञान वाले भगवान् की

पज्जुवासं करेमि - एकाग्र विशुद्ध मनसे पर्युपासन करता हूं।

ताव काय पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि - तब तक पाप के कर्मों के उपार्जन करने वाले दुश्चरित काय की व्यत्सर्जन (कायोत्सर्ग करता हूं।)

गद्य - *वद समिदिंदियरोधो, लोचा वासयमचेल मण्हाणं।*
खिदिसयणमदंतवण, ठिदिभोयणमेयभत्तं च॥१॥
एदेखलु मूलगुणा, समणाणं जिनवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं॥२॥

गद्य - *छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं।*

विशेष - ऊपर लिखित गाथा का अर्थ पीछे पृष्ठ में दिया गया है

गद्य - सर्वातिचारविशुद्धयर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजावन्दनास्तवसमेत निष्ठितकरणवीरभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

अर्थ - अब मै सब प्रकार के अतिचारों की विशुद्धि के लिए दिन सम्बन्धी (रात्रि सम्बन्धी) प्रतिक्रमण क्रिया में, पूर्वाचार्यों के अनुक्रम से, सम्पूर्ण कर्मों के क्षयार्थ, भाव-पूजा वन्दनास्तव युक्त, निष्ठतकरणवीरभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

गद्य - इतिप्रतिज्ञाप्य (ऐसी प्रतिज्ञा करके)

दिवसे १०८, रात्रिप्रतिक्रमणे ५४ उच्छ्वासेषु णमो अरहंताणं इत्यादि दंडकं पठित्वा कायोत्सर्ग कुर्यात् पश्चात् थोस्सामीत्यादि चतुर्विंशतिस्तवं पठेत्।

अर्थ - दिन में १०८ श्वासोच्छ्वास (४ बार कायोत्सर्ग का जाप्य) तथा रात्रि में ५४ श्वासोच्छ्वास (२ बार कायोत्सर्ग का जाप्य) में "णमो अरहंताणं इत्यादि से लेकर चत्तारिमंगल" को पूरा बोलकर

अड्ढाईज्जदीवदोसमुद्देसु - को पूरा बोलकर

तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि - तक सामायिक दंडक को पूरा बोलकर फिर णमोकार मंत्र का जाप्य करे फिर आगे 'वीर भक्ति' पढे ।

विशेष - जहां २७ श्वासोच्छ्वास का वर्णन हो वहां पर एक जाप्य अर्थात् ९ बार णमोकार मंत्र का मन में उच्चारण करे, ५४ श्वासोच्छ्वास में दो बार जाप्य करे और १०८ श्वासोच्छ्वास में चार बार णमोकार मंत्र का जाप्य करें । इस प्रकार आवश्यकतानुसार आठ दिन का, पन्द्रह दिन का, चार महीने का तथा वर्ष भर के प्रतिक्रमण के समय उसी पाठ को बोलकर आलोचना करें ।

१. वीर भक्ति—

श्लोक - यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्, द्रव्याणि तेषांगुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवितः, सर्वान् सदासर्वदा।।
जानीते युगपत् प्रतिक्षण मतः, सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः।१।

अर्थ - जो सम्पूर्ण चर+अचर द्रव्यों को, उनके सहभावी गुणों को और क्रम भावी भूत, भावी तथा वर्तमान सब पर्यायों को भी सदा सर्व काल अशेष विशेषों को लिये हुये युगपत् (काल कर्म से रहित एक साथ) प्रतिक्षण जानते है इसलिये उन्हे सर्वज्ञ कहते है, उन सर्वज्ञ, महान् गुणोत्कृष्ट, अंतिम तीर्थंकर वीर जिनेश्वर को नमस्कार हो ।।१।।

श्लोक - वीरः सर्व सुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्व-कर्म-निचयो, वीरायभक्त्या

नमः॥

वीरात् तीर्थ-मिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो।
वीरे श्रीद्युत्तिकांतिकीर्त्तिधृतयो, हे वीर! भद्रं त्वयि॥२॥

अर्थ - इस श्लोक में वीर शब्द की आठों विभक्तियों के एक वचन के प्रयोग का चमत्कार बतलाया गया है। वीर जिनेश्वर सब सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रों द्वारा पूजित है। जिनेश्वर को गणधरादि बुधजन, संसार समुद्र से पार होने के लिये आश्रय करते है, वीर जिनेश्वर ने अपने और पर के कर्मों के समूह को विनष्ट किया है वीर भगवान् को भक्ति से सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं। वीर जिनेश्वर से यह भव सागर से तारने वाला अतुल तीर्थ प्रवृत्त हुआ है वीर जिनेश्वर का बाह्य और अभ्यन्तर तप भारी दुद्धर था जो औरों में नहीं पाया जाता था। वीर जिन में बाह्याभ्यंतर लक्ष्मी, शरीर की ज्योति, कान्ति, कीर्ति, धृति, ये सब गुण विद्यमान है, इसलिये हे वीर जिनेन्द्रदेव! आप ही कल्याणकारी है॥२॥

श्लोक - *ये वीर पादौ प्रणमति नित्यं, ध्यानस्थिता: संयमयोगयुक्ता:।*
तेवीतशोकाहि भवति लोके, संसार-दुर्गम् विषमं तरति॥३॥

अर्थ - ध्यान से एकाग्रता को प्राप्त हुये संयम से उपलक्षित योग से युक्त होते हुये जो भव्य पुरुष वीर भगवान् के चरणों को नित्य प्रणाम करते है वे लोक में शोक से विमुक्त होते है और विषम संसार रुपी अटवी के पार पहुंच जाते है॥३॥

श्लोक - *व्रतसमुदयमूल: सयमस्कंधबंधो,*
यमनियमपयोभि-र्वर्धित:शील-शाख: ।
समिति कलिक भारो गुप्ति गुप्त प्रवालो । गुण कुसुम सुगंधि: सत्-तपश्चित्र-पत्र: ॥ ४ ॥

श्लोक - *शिव-सुख-फल-दायी यो दया छाय योद्ध:,*
शुभजन पथिकानां खेदनोदे समर्थ:।
दुरित-रविज तापं, प्रापयन्नंतभावं,

स भव-विभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः॥५॥

अर्थ - जिसका व्रतों का समुदाय मूल अर्थात् जड़ है संयम, स्कन्धबन्ध है, जो यम, नियम रूप जल से वृद्धिंगत है, अट्ठारह हजार शील जिसकी शाखायें है, जिसमें समितियां रूप कलिकायें भार है, गुप्तियां प्रवाल (पल्लव) है, चौरासी लाख गुण रूप पुष्पों की सुगन्धी है, सम्यक्त्व विचित्र पत्र हैं जो मोक्ष रूपी फल को देने वाला है, दया रुप छाया से प्रशस्त है, भव्यजन रूप पथिकों के संताप को दूर करने में समर्थ है ऐसा पाप रुप सूर्य के संताप का अन्त अर्थात् नाश को करने वाला है वह चारित्र रुप वृक्ष हमारे संसार में जो गत्यादि नाना भव है उसके विनाश के लिये होवे॥४-५॥

श्लोक - चारित्रं सर्व जिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्व शिष्येभयः।
प्रणमामि पंचभेदं, पंचम चारित्र लाभाय॥६॥

अर्थ - सब तीर्थंकरो ने स्वयं चारित्र का अनुष्ठान किया है और सब शिष्यों के लिये जैसा है वैसा स्पष्ट कहा है अतः सब कर्मों के क्षय के साधक पंचम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के लिये सामायिकाकि पांच भेदों से युक्त चारित्र को मैं प्रणाम करता हूं॥६॥

श्लोक - धर्मः सर्वसुखाकरो हित करो धर्म बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवंभृतां, धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म मां पालय॥७॥

अर्थ - इस श्लोक में भी 'धर्म' शब्द की आठों विभक्तियों के एक वचन का प्रयोग किया गया है। धर्म रुप चारित्र, स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सब सुखों का आधार अर्थात् उत्पत्तिस्थान है। सब जीवों के हित का करने वाला है। चारित्र रूप इस धर्म को सभी विवेकशील तीर्थंकर आदि महापुरुष भी संचित करते है, धर्म से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है उस धर्म के लिये मेरा नमस्कार हो, धर्म के अतिरिक्त और कोई संसारी जीवों का उपकारक अर्थात् मित्र नही है। धर्म का मूल कारण दया है। इस प्रकार के धर्म में, मै प्रतिदिन चित्त लगाता हूं। हे धर्म, तू मेरा पालन कर॥७॥

गद्य - धम्मोमंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तं णमसंति, जस्स धम्मे सयामणो॥८॥

अर्थ - यह चारित्र रूप धर्म, उत्कृष्ट मंगल है अर्थात् मल को गलाने वाला और सुख का देने वाला है, धर्म ही नहीं अहिंसा संयम और तप भी सर्वोत्कृष्ट मंगल है क्योंकि जिसका मन धर्म में सदा तल्लीन है उसको देव भी नमस्कार करते है ॥८॥

अंचलिका–

गद्य - इच्छामि भंते! पडिक्कमणादिचार मालोचेउं, सम्मणाण सम्मदसण, सम्मचारित्त-तव-वीरियाचारेसु जम णियम -संजम सील मूलुत्तर गुणेसु, सव्व मइचारं सावज्ज जोग पडिविरदोमि, असखेज्ज लोग अज्झवसाय ठाणाणि, अप्पसत्थ जोग सण्णा णिंदिय कसाय-गारव-किरियासु, मण वयण काय करण दुप्पणिहाणाणि, परि चिंतियाणि, किण्ह णील काउलेस्साओ, विकहा पालिकुंचिएण, उम्मग हस्स रदि-अरदि सोयभय दुगछ-वेयण विज्झंजंभाइ-आणि, अट्ट रुद्द सकिलेस परिणामाणि परिणामदाणि, अणिहुद कर चरण मण वयण काय करणेण, अक्खित्त बहुल परायणेण, अपडि पुण्णेण वा सरक्खरावय परिसंघाय पडिवत्तिएण, अच्छा कारिदं, मिच्छामेलिदं, आ मेलिदं, वा मेलिदं, अण्णहा दिण्ण, अण्णहा-पडिच्छिदं, आवासएसु-परिहीणदाए, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा, समणुमण्णिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं॥१॥

अचलिका का अर्थ - हे भगवन्! मै प्रतिक्रमण सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करना चाहता हूं, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र तप और वीर्य इन पाच आचारों में यम, नियम, संयम, शील, मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कुछ अतिचार लगे है और जो कुछ सावद्ययोग हुआ है उससे मै विरत होता हू। (क) असंख्येय

लोकाध्यवसायस्थान, अप्रशस्तयोग, संज्ञा, इन्द्रिय, कषाय, गारव क्रियाओं में, मन, वचन, काय से जो दुष्प्रणिधान परिचिंतित किये (ख) कृष्णा, नील, कपोत लेश्या, विकथा, उमंग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, विजृंभ (जंभाई) आर्त्त, रौद्र संक्लेश परिणाम परिणमित किये, (ग) अनिभृत (चंचल) कर, चरण, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करने से, (घ) इन्द्रियों के विषयों में अतिप्रवृत्ति करने से (ङ) अपरिपूर्णता से (च) स्वर, व्यंजन, पद और परिसंघात के बोलने में, जो अन्यथा प्रवृत्ति की, (छ) मिथ्या मेलित, आमेलित किया (ज) अन्यथा दिया और अन्यथा स्वीकार किया (झ) आवश्यकों में हीनता स्वयं की, दूसरों से कराई, किये हुए की अनुमोदना की, उसमें लगा हुआ दुष्कृत (दोष) मेरा मिथ्या हो॥१॥

गद्य - वदसमिदिं दियरोधो, लोचावासय, मचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदि भोयण मेयभत्तं च ॥१॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं॥२॥

गद्य - छेदोवट्ठावण होउमज्झं॥

विशेष - इन दोनों गाथाओं का अर्थ पहले प्रकाशित कर दिया गया है।

गद्य - अथ सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायांकृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेत चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं कुर्वेऽहं । (इति प्रतिज्ञाप्य) णमो अरहंताणं इत्यादि दंडकंपठित्वा कायोत्सर्ग कुर्यात्।

(चतुर्विंशतिस्तवंपठेत्)

इस प्रकार जैन मुनिबनकर अनन्तबार प्रतिक्रमण किये फलस्वरूप संसार का ही पात्र रहा। इसलिये श्री १०८ पद्मप्रभमल धारी अध्यात्म निपुण संत द्वा श्री नियमसार में प्रतिपादित निश्चय प्रतिक्रमण का पठन आवश्यकीय है तभी उसका समीचीन अभिप्राय समझकर पूर्णता के लक्ष्य से धर्म की प्राप्ति होगी ।

चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति

गाथा - चउवीसं तित्थयरे, उसहाइ वीर पच्छिमे वंदे।
सव्वेसिं-सगणगण हरे, सिद्धे सिरसा णमंसामि॥१॥

श्लोक - ये लोकेऽष्ट-सहस्रलक्षणधरा, ज्ञेयार्णवान्तर्गता।
ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश, चन्द्रार्कतेजोऽधिका:॥
ये साध्विन्द्रसुराप्सरो गणशतै, गीतप्रणुत्यार्चिता:,
तान् देवान् वृषभादिवीरचरमान्, भक्त्या नमस्याम्यहं॥२॥

श्लोक - नाभेयं देवपूज्यं, जिनवरमजितं, सर्वलोकप्रदीपं ।
सर्वज्ञं संभवाख्यं, मुनिगणवृषभं, नंदनं देवदेवं ॥
कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं, वरकमलनिभं, पद्मपुष्पाभिगंधं ।
क्षांतं दांतं सुपार्श्वं, सकलशशिनिभं, चंद्रनामानमीडे ॥३॥
विख्यातं पुष्पदन्तं, भवभयमथनं, शीतलं लोकनाथम् ।
श्रेयांसं शीलकोशं, प्रवरनरगुरुं वासुपूज्यं सुपूज्यं ॥
मुक्तं दांतेन्द्रियाश्वं, विमलमृषिपतिं, सिंहसैन्यं मुनीन्द्रम् ।
धर्मं सद्धर्मकेतुं, शमदमनिलयं, स्तौमि शांतिं शरण्यम्॥४॥
कुन्थुं सिद्धालयस्थं, श्रवणपतिमरं, त्यक्तभोगेषु चक्रम्।
मल्लिं विख्यातगोत्रं, खचरगणनुतं, सुव्रतं सौख्यराशिम्॥
देवेन्द्रार्च्यं नमीशं, हरिकुलतिलकं, नेमिचन्द्रं भवान्तम्।
पार्श्वं नागेन्द्रवंद्यं, शरणमहमितो वर्द्धमानं च भक्त्या॥५॥

अंचलिका:-

गद्य - इच्छामि भंते! चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं पंचमहाकल्लाण संपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहियाण, चउतीसातिसय विसेससंजुत्ताणं, बत्तीस देविंद मणिमउडमत्थयमहिदाणं, बलदेव वासुदेव चक्कहर रिसि मुणि जइ अणगारो वगूढाणं, थुइ सय

सहस्स णिलयाणं, उस हाइ वीर पच्छिम मंगल महा पुरिसाणं, णिच्चकालंअंचेमि, पूजेमि वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइ गमणं, समाहिमरणं, जिण गुण संपत्ति होउ मज्झं॥

गाथा - वद समिदि दियरोधो, लोचावासयमचेलमण्हाणं।
खिदि सयण मदंतवणं, ठिदि भोयण मेय भत्तं च ॥१॥
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिववरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमाद कदादो, अइचारादो णियत्तोऽहं ॥२॥

गद्य - छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं।

विशेष - इस चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति का अर्थ पीछे दशभक्त्यादि पाठ मे दिया गया है।

गद्य - अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमणक्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पुर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्मक्षयार्थं भावपूजा वन्दनास्तव समेतं श्री सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति निष्ठितकरणवीरभक्तिचतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिः कृत्वा तद्धीनादिक दोष विशुद्ध्यर्थं, आत्मपवित्रीकरणार्थं समाधिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं॥

अर्थ - अब मै सब अतिचारों की विशुद्धि के लिए दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण क्रिया में अपने किये हुए दोषों को दूर करने के लिये पूर्वाचार्यों के क्रम से, सम्पूर्ण कर्मों के नष्ट करने के लिये भावपूजा वंदना, स्तव सहित श्रीसिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठितकरणभक्ति और चतुर्विंशतितीर्थंकर भक्ति को करके उसमें कमी बेशी के दोष को दूर करने के लिये तथा अपने आपको पवित्र करने के लिये समाधि भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं।

इति विज्ञाप्य 'णमोअरहंताणं इत्यादि सम्पूर्ण दंडकं पठित्वा कायोत्सर्गं कुर्यात्। थोस्सामीत्यादि स्तवं पठेत्।

पश्चात् थोस्सामि इत्यादि ८ गाथाओं का पूर्ण पाठ कर समाधि भक्ति को बोलना प्रारम्भ करें।

❋ ❋ ❋

समाधि भक्ति

गद्य - अथेष्टप्रार्थना- प्रथमं, करणं, चरणं, द्रव्यं, नमः ।

अर्थ - अथ इष्ट प्रार्थना - (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को नमस्कार हो।

श्लोक - *शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः, संगति सर्वदार्यैः ।*
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनं ॥
सर्वस्यापिप्रियहितवचो, भावनाचात्मतत्त्वे ।
सम्पद्यन्तां मम भवभवे, यावदेतेऽपवर्गः ।१।

अर्थ - मेरे शास्त्रों का अभ्यास हो, जिनेन्द्र के चरणों को नमस्कार हो, आर्य (सुचरित) पुरुषों की सदा संगति हो, सदाचार परायण पुरुषों के गुणगान की कथा हो, पर के दोषों के कहने में मौन हो, सबके लिये हित मित, प्रिय वचन हों और अपने आत्मस्वरुप में भावना हो, मेरे मोक्ष की प्राप्ति पर्यन्त ये सब जन्म-जन्म में प्राप्त हों।।१।।

श्लोक - *तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं।*
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः।।२।।

अर्थ - हे जिनेन्द्र देव! जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति हो तब तक आपके चरण मेरे हृदय में रहे, और मेरा हृदय आपके चरणों में लीन रहे।।२।।

गाथा- *अक्खरपयत्थहीणं, मत्ताहीण च जं मए भणियं।*
त खमहु णाणदेव! य, मज्झवि दुक्खक्खयं कुणउ।।३।।

अर्थ - हे ज्ञानरुप देव! अक्षर, पद और अर्थ से तथा मात्रा से हीन मैंने जो कहा हो तो, उसको आप क्षमा करें और मेरे दुःखों का क्षय करें।

गद्य - इच्छामि भंते! समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउ, रयणत्तय-सरुव-परमप्प ज्झाण लक्खण

समाहिभत्तिए णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणम्, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।।५।।

अर्थ - हे भगवन्! मैंने समाधिभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया, उसकी अब मैं आलोचना करना चाहता हूँ। रत्नत्रयस्वरूप और परमात्मा का ध्यानलक्षण समाधि का सर्वकाल अर्चन करता हूँ। पूजन करता हूँ, वंदना करता हूँ, और नमस्कार करता हूँ। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो और जिनेन्द्र के गुणों की सम्यक् (भलीभांति) प्राप्ति हो।

इति दैवसिक (रात्रिक) प्रतिक्रमण समाप्त।।

इसके बाद 'चतुर्दिग्वंदना' पाठ का उच्चारण करके लघुसिद्ध भक्ति, लघु श्रुतभक्ति तथा चारित्रभक्ति पूर्वक आचार्य की भक्ति करना आवश्यक है ।

❋ ❋ ❋

अथ चतुर्दिग्वंदना

श्लोक - *प्राग्दिग्विदिगंतरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः।*
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहम् वन्दे।।१।।

अर्थ - पूर्व दिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान, सिद्धभगवान्, तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सब को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ।।१।।

श्लोक - *दक्षिण दिग्विदिगन्तरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगण देवाः।*
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहम् वन्दे।।२।।

अर्थ - दक्षिण दिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं

बारम्बार नमस्कार करता हूं।।२।।

श्लोक - *पश्चिमदिग्विदिगन्तरे,*
केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः।
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणास्तानहं वन्दे।।३।।

अर्थ - पश्चिमदिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धिसहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं।।३।।

श्लोक- *उत्तरदिग्विदिगन्तरे, केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः।*
ये सर्वर्द्धिसमृद्धाः, योगिगणस्तानहम् वन्दे।।४।।

अर्थ - उत्तर दिशा तथा तत्सम्बन्धी विदिशा में जितने भी केवली भगवान्, सिद्धभगवान् तथा सम्पूर्ण प्रकार की ऋद्धि सहित साधुगण अर्थात् योगियों का समुदाय विराजमान है उन सबको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूं।।४।।

आचार्य वन्दना विधि

शिष्यमुनि और साधर्मीमुनि मिल कर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य की लघु भक्ति पढ़कर आचार्य की वन्दना निम्नलिखित प्रकार करें।

गद्य - नमोस्तु आचार्यवन्दनायां प्रतिष्ठापन (प्रातःकाल के समय पौर्वाण्हिक तथा सन्ध्याकाल के समय आपराण्हिक शब्द का उच्चारण करना चाहिये) सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।

अर्थ - हे भगवान्! नमस्कार हो, आचार्यवन्दना में प्रारम्भिक प्रतिष्ठापन सिद्धभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं। ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप्य करे तथा नीचे लिखी हुई सिद्धभक्ति पढ़ें।

गाथा - *सम्मत्तणाणदंसण, वीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।*
अगुरुलघुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।१।।

अर्थ - सिद्धों के सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाध ये आठ गुण होते है।।१।।

गाथा - तवसिद्धे, णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्हि दंसणम्हि य, सिद्धे सिरसा णमंसामि॥२॥

अर्थ - तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, संयम से सिद्ध चरित्र से सिद्ध, ज्ञान में सिद्ध और दर्शन में सिद्ध, इन सब सिद्धों को, मस्तक झुका कर मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

अंचलिका-

इच्छामि भन्ते! सिद्धभक्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण, सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मिपयट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीताणागद वट्ठमाण कालत्तय सिद्धाणं सव्वसिद्धाणं सयाणिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं॥

श्रुत भक्ति

गद्य - नमोस्तुआचार्यवंदनायां प्रतिष्ठापनश्रुतभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहं॥

अर्थ - हे भगवन्! नमस्कार हो, आचार्यवन्दना में, प्रतिष्ठापनश्रुतभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं, ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप्य कर निम्नलिखित पाठ पढ़ें:-

श्लोक - कोटीशतं द्वादशचेवकोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधि
कानि चैव।
पंचाशदष्टौ च सहस्त्रसंख्य, मेतच्छ्रु-तं पंचपदं
नमामि॥१॥

गाथा - अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियंसम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा।२॥

अर्थ - ११२ करोड़ ८३ लाख ५८ हजार ओर ५ पद प्रमाण इस श्रुतज्ञान को मै नमस्कार करता हूं।।१।।

अर्थ - अरहंत देव द्वारा अर्थरूप से कथित और गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप से ग्रंथित श्रुतज्ञान महोदधि को भक्ति से युक्त हुआ मै सिर झुकाकर प्रणाम करता हूं।।२।।

अंचलिका-

इच्छामि भंते। सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्स आलोचेउं अंगोवंगपइण्णए, पाहुडय परियम्म सुत्त पढमाणिओग पुव्वगय चूलिया चेव सुत्तत्थय, थुइ, धम्मकहाइयं सुदं, णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाओ, सुगइगमण, समाहिमरण, जिणगुणसपत्ति होउ मज्झं।!

गद्य - नमोऽस्तु आचार्यवन्दनायाप्रतिष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।।

अर्थ - हे भगवन्! नमस्कार हो, मै आचार्यवन्दना में प्रतिष्ठापनाचार्य भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूं। ऐसी प्रतिज्ञा कर ९ बार णमोकार मन्त्र का जाप्य कर नीचे लिखा पाठ पढे।

श्लोक - *श्रुतजलधिपारगेभ्य:, स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्य:।*
सुचरिततपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्य:।१।

अर्थ - जी श्रुतसमुद्र के पारगामी है, स्वमत और परमत के विभावन (विचार करने) में चतुर है, सुचरित और तप के खजाने है और गुणों में महान् है, ऐसे गुरुओं को नमस्कार हो।।१।।

गाथा - *छत्तीसगुणसमग्गे, पचविहाचारकरण सदरिसे।*
सिस्साणुग्गहकुसले, धम्माइरिये सदा वन्दे।।२।।

अर्थ - जो छत्तीस गुणों से पूर्ण है, पाँच प्रकार के आचार के स्वयं पालने वाले है तथा शिष्यों के द्वारा भी पलाने वाले है, शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल है, ऐसे धर्माचार्यों की मै सदा वन्दना करता हूं।।२।।

गाथा - *गुरुभत्तिसजमेण य, तरन्ति संसारसायरं घोरं।*

छिण्णंति अट्ठकम्मं, जन्मं मरणंण पावेंति।। ।।३।।

अर्थ - गुरुभक्ति करने से शिष्य, घोर संसार सागर से तिर जाते है आठ कर्मों को छेद देते है और जन्म मरण को प्राप्त नहीं होते है।

श्लोक - *ये नित्यं व्रतमन्त्रहोमनिरता, ध्यानाग्निहोत्राकुला:।*
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधना: साधुक्रियासाधव:।।
शीलप्रावरणा, गुणप्रहरणाश्चन्द्रार्कतेजोऽधिका:।
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटा:, प्रीणंतु मां
साधव:।।४।।

अर्थ - जो प्रतिदिन व्रत, मन्त्र और होम में विरत है, ध्यानरूप अग्नि में हवन करने वाले है, आवश्यकादि षट् क्रियाओं में लीन है, तपरुप धन ही जिनके धन है, जो साधुओं की क्रियाओं का साधन करने वाले है, अठारह हजार शील ही जिनके पास ओढने का वस्त्र है, चौरासी लाख गुण ही जिनके पास शस्त्र है, चन्द्र और सूर्य के तेज से भी जिनका तेज अधिक है, मोक्षद्वार के कपाट-पाटन उद्घाटन करने में जो बड़े भट है- योद्धा है ऐसे साधु मेरी रक्षा करें।।४।।

श्लोक - *गुरव: पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायका:।*
चारित्रार्णवगंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशका:।।५।।

अर्थ - जो ज्ञान और दर्शन के नायक है, चारित्ररूप सागर के समान गम्भीर है और मोक्षमार्ग के उपदेश देने वाले है, ऐसे गुरु आचार्य हमारी नित्य रक्षा करें।।५।।

अंचलिका --

गद्य - इच्छामि भन्ते! आइरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, सम्मणाण, सम्मदंसण, सम्मचारित्त जुत्ताणं पंचविहाचाराणं, आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाण उवज्झायाण, तिरयणगुणपालनरयाणं, सव्वसाहूणं, सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

इति आचार्य वन्दना क्रिया सम्पूर्ण ।

विशेष - इसके अनन्तर इष्टदेवता महावीर स्वामी को नमस्कारपूर्वक 'समता सर्वभूतेषु' इत्यादि श्लोक को पढ़कर सिद्धानुद्धतकर्म इत्यादि अंचलिका सहित बृहत्सिद्धभक्ति बृहत आलोचना सहित येनेन्द्रान्' इत्यादि चारित्रभक्ति को अर्हन्त भगवान् के सामने करे वह निम्नलिखित प्रकार है.-

श्लोक - *नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।*
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्यादर्पणायते।।१।।

अर्थ - जिसने अपनी आत्मा से पाप-मल, जड (मूल) से धो डाला है, ऐसे श्रीवर्धमान अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार हो। जिनका ज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है।

श्लोक - *समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना ।*
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं मतम् ।।२।।

अर्थ -- सब प्राणियों में समता भाव धारण करना, संयम में शुभ भावना होना और आर्त्त तथा रौद्र इन दोनों दुर्ध्यानों का त्याग होना ही 'सामायिक' माना गया है ।

गद्य - अथ सर्वातिचारविशुद्धयर्थं ''पाक्षिक'' प्रतिक्रमण क्रियायां कृतदोषनिराकरणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।।

अर्थ -- सब अतिचारों की विशुद्धि के अर्थ, पाक्षिक (चातुर्मासिक, सांवत्सरिक) आदि प्रतिक्रमण में पूर्वाचार्यो के अनुक्रम से सम्पूर्ण कर्मों के क्षयार्थ भावपूजावन्दनास्तवसमेत सिद्ध भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग करता हूँ ।

विशेष - णमो अरहंताणं इत्यादि सामायिक दंडक पढ़कर कायोत्सर्ग करे, फिर 'थोस्सामि' इत्यादि स्तुति, पढ़कर अंचलिका युक्त 'सिद्धानुद्धतकर्म' इत्यादि निम्नलिखित सिद्धभक्ति ।

प्रतिक्रमण समाप्त

षष्ठम - भाग

लघु प्रवचन संग्रह

प्रथम खण्ड

१- मंगलाचरण

जो मोह, माया, मान, मत्सर, मदन मर्दन वीर है । जो विघ्नों बीच भीं ध्यान धारण धीर है । जो तारण-तरण भव निवारण भवजलधि के तीर है । वे वंदनीय जिनेश तीर्थंकर स्वयं महावीर है । जो राग द्वेष विकार वर्जित लीन आत्म ध्यान में । जिनके विराट विशाल निर्मल अचल केवलज्ञान में । युगपद विशद सकलार्थ झलकें ध्वनित हों व्याख्यान में ।। जिनका परम-पावन चरित जल निधि समान अपार है ।। जिनके गुणों के कथन में गणधर न पावै पार है । बस वीतराग विज्ञान ही जिनके कथन का सार है ।। उन सर्वदर्शी सन्मति को वन्दना शत बार है,

२ - गुरूवाणी

तन नहीं छुता कोई, चेतन निकल जाने के बाद ।
फेंक देते फूल ज्यों खुशबू निकल जाने के बाद ।।

आज जो करते किलोलें खेलते है साथ में ।
कल डरेंगे वही निर्जीव हो जाने के बाद ।।

या अथिर ससार में, क्या मगन कुन्दन हो रहा ।
देख फिर पछताएगा, असमर्थ हो जाने के बाद ।।

पांव भी जिसने कभी, रखा नहीं पृथ्वी पर ।
वन-वन भटकते वह फिरें, आपत्ति आ जाने के बाद ।।

३ - शिक्षा

शिक्षा पाकर शिक्षा की दीक्षा लो । पर भिक्षा छोड़कर आत्मा की रक्षा करो ।। पक्षों को छोड़कर निज कक्षा में रहो । ग्रन्थों का लक्ष्य भूत निज तत्व की दृष्टि की दक्षता प्राप्त करो । संसार के परिकर में रहकर

संसार से उपेक्षित रहना बड़े आत्म-बल का काम है । (प्राय: निर्लोभता ही मोक्ष का मार्ग है । यदि साथ में सम्यग्-दर्शन हो)

४ - साधक, संतो की धुन

आत्मा की रमणता की धुन में अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग करते हुए सहजानन्द का अनुभव करते हुए जैसी सिद्ध भगवान की दशा है वैसी दशा का अनुभव करते हुए मुनिराज होते है साधक-संत आत्मा के आनन्द-रस में लीन रहते है । आत्म स्थिरता में कैसे वृद्धि हो उसी की उन्हें धुन है । आहार क्यों नही मिलता उसकी उन्हे किंचित धुन नहीं है ।। साधकों के हृदय की कल्पना बाह्य से नहीं की जा सकती ।।

५ - सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन प्रगट करने वाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है । और वह देशनालब्धि सम्यक्त्वरूप परिणमित हुए ऐसे साक्षात् ज्ञानी की निमित्त से ही प्राप्त होती है ।। मात्र शास्त्र से अथवा किसी भी मिथ्या दृष्टि के निमित्त से देशनालब्धि प्राप्त नहीं होती । जो स्वय मिथ्यादृष्टि है ऐसे जीव को जो अपनी देशनालब्धि के निमित्त रूप से स्वीकार करें उस जीव में तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं होती । यह विषय प्रत्येक जिज्ञासु को अति आवश्यक होने से इस सम्बन्धी लेख इस अंक में दिया गया है ।। वह प्रत्येक जिज्ञासु को भली-भांति समझना चाहिये ।। दीपक जलता हुआ ही दूसरे दीपक को जला सकता है बुझा हुआ कैसे जला देगा, नहीं जला सकता ।।

६ - हीरे की रज

जो हीरा सान पर चढ़ता है वह तो अति मूल्यवान है ही, परन्तु उसकी जो रज खिरती है उससे भी सैकडों रूपये प्राप्त होते है ।। उसी प्रकार वस्तु का सत्य स्वरूप सुनकर जो जीव वस्तु स्वरूप को ग्रहण करता है ऐसा सत्य स्वरूप सुनकर जो शुभ भाव होना है उसके कारण भी उच्च पुण्य बध होता है । जो इस अध्यात्म छठवी गाथा के अन्तर भावों को समझे उसका मोक्ष भाव विमुख न हो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे ।

७ - परिग्रह

परिग्रहारम्भे मग्नास्तारयेषुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ।।

भावार्थ :-- परिग्रह आरम्भ मे डूबा हुआ पुरूष दूसरे को तारने में कैसे समर्थ होगा । जो स्वयं दरिद्री है वह पुरूष दूसरे को धनवान् करने में समर्थ नहीं होता है । एक बात अनुभव से सिद्ध होती है कि जो मनुष्य साधु गुण सम्पन्न है वह बिना उपदेश दिये दर्शन मात्र से ही क्लेश से तप्त को शान्त कर देता है । अगर उस पुरूष का उपदेश मिले तो इतना बड़ा लाभ होता है कि जिसकी सीमा नहीं ।।

८ - मंगलाचरण

त्रैकालयं द्रव्यषट्कं नवपद सहितं जीवषट् काय लेश्याः ।। पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान चारित्र भेदाः ।। इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन महितै । प्रोक्त मर्हद्‌भिरीशै· प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान् यः शुद्धदृष्टिः ।। १।। सिद्धे जयप्प सिद्धे चउविहाराहणा फलं पत्ते । वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो उज्झोवण मुज्झवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरण । दंसण णाण चरित्तं तवाण माराहणा भणिया ।। (इति)

९ - सम्यग्दर्शन विषय

जिस जीव के सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीव ने उस समय अथवा पूर्व भव में सम्यग्ज्ञानी आत्मा से उपदेश सुना होता है । उपदिष्ट तत्व को श्रवण ग्रहण धारण होना विचार होना उसे देशनालब्धि कहते हैं । उसके बिना किसी को सम्यग्दर्शन नहीं होता ।। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करता है । जीव सम्यग्दर्शन को स्वत अपनी योग्यता से अपने में प्रगट करता है, ज्ञानी का उपदेश तो निमित्त मात्र है । अज्ञानी का उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं कर सकता यह नियम है । यदि और सद्‌गुरू का उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो जो जीव उस उपदेश को सुने उन सबको सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता सद्‌गुरू के उपदेश से सम्यग्दर्शन हुआ है, वह कथन व्यवहार मात्र है । निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कथन है ।।

१० - द्रव्य परमाणु व भाव परमाणु

(प्रश्न - चारित्रसार इत्यादि शास्त्रों में कहा है कि यदि द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु का ध्यान करे तो केवलज्ञान हो इसका क्या अर्थ है ।।)

उत्तर - वहाँ द्रव्य परमाणु से आत्म द्रव्य की सूक्ष्मता और भाव परमाणु से भाव की सूक्ष्मता बतलाई है । वहाँ पुद्‌गल परमाणु का कथन नहीं है । रागादि विकल्प की उपाधी से रहित आत्म द्रव्य को सूक्ष्म कहा जाता है क्योंकि निर्विकल्प समाधि का विषय आत्म द्रव्य मन और इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता । भाव शब्द का अर्थ स्वसंवेदन प्रमाण है । परमाणु शब्द से भाव की सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिये क्योंकि वीतराग निर्विकल्प, समरसी भाव पांचों इन्द्रियों और मन के विषय से परे है । (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २ गाथा ३३ की टीका पृष्ठ १६८-१६९)

११ - सबसे बड़ा व सबसे छोटा शरीर

बडे से बड़ा शरीर स्वयं-भूरमण समुद्र के महामत्सय का है जो १००० योजन लम्बा है । छोटे से छोटा शरीर (अंगुल के असंख्यात में भाग प्रमाण) लब्धय पर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव का है जो एक श्वास में १८ बार जन्म मरण करता है ।।

१२ - स्व-चतुष्टय

(१) द्रव्य गुणों के समूह अथवा अपनी-अपनी त्रैकालिक सर्वपर्यायों का समूह सो द्रव्य है । द्रव्य का लक्षण सत् है । वह उत्पाद व्यय-ध्रौव्य सहित है । गुण पर्याय के समुदाय का नाम द्रव्य है । (२) क्षेत्र - जिस प्रदेश में द्रव्य स्थित हो वह उसका क्षेत्र है । (३) काल-जिस पर्याय रूप से द्रव्य परिणमें वह उसका काल है ।। (४) भाव-द्रव्य की जो निज शक्ति-गुण है सो उसका भाव है ।।

१३ - सबसे बड़ा पाप (मिथ्यात्व)

आत्म स्वरूप की पहचान के द्वारा मिथ्यात्व के दूर होने से उसके साथ अनंतानुबंधी कषाय का तथा ४१ प्रकृतियों के बंध का अभाव होता है । तथा बाकी के कर्मों की स्थिति अंत: कोड़ा-कोड़ी सागर की रह जाती

है और जीव थोड़े ही काल में मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है । संसार का मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का अभाव किये बिना अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष या मोक्ष मार्ग नहीं होता । इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायों के द्वारा सर्व प्रकार से उद्यम करके इस मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करना योग्य है ।

१४ - संवर १४८ किस प्रकार होता है

२ सासदन - ३ सम्यक्त्व मिथ्यात्व चौथा पांच छः सात सातिशय

१६ २५ ४१ १० ४ ६

आठ - नौ - दस - ग्यारहवां । १ साता वेदना - ११ - १२ - १३ - १४

१ ३६ ५ १६

(समाप्त होती) कुल ।

१४ १२०

१५ - आचार्य का मुनियों को उपदेश

आचार्य शिष्यों को चारित्र का पालने का उपदेश देते हैं:--

भिक्षा से भोजन कर, वन में थोड़ा जीम, दुखों को सह , निद्रा को जीत, मैत्री और वैराग्य भावना को भले प्रकार विचार कर, लोक व्यवहार न कर एकाकी रह ध्यान में एकाग्र मन हो, आरम्भ मतकर, कषाय रूपी परिग्रह का त्याग कर असंग रह अर्थात् निर्मोह रह या आत्मस्थ रह ।।

१६ - चारित्र का महात्म्य

थोड़ा शास्त्रज्ञ हो जो चारित्र से पूर्ण है वहीं संसार को जीतता है जो चारित्र रहित है उसके बहुत शास्त्रों के जानने से क्या लाभ है । मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है ।।

१७ - चारित्र बिना ज्ञान निष्प्रयोजन

जो कोई साधु बहुत शास्त्र जानता है, बहुत शास्त्रों का अनुभवी हो व बहुत शास्त्रों को पढ़ने वाला हो यदि वह चारित्र से भ्रष्ट है तो वह सुगति को नहीं पा सकता है । यदि कोई दीपक हाथ में लेकर भी कुमार्ग में जाकर कूप में गिर पड़े तो उसका दीपक रखना निष्फल है वैसे ही जो

शास्त्रों को सीखकर भी चारित्र को भंग करता है उसको शिक्षा देने का कोई फल नही है ।

१८ - आर्यिकाओं से दूर रहना योग्य है

साधुओं को साध्विओं के या आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरना उचित नही है । न तो वहाँ बैठना चाहिये, न सोना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न साथ आहार करना चाहिये, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिये ।

१९ - बाह्य त्याग के साथ अन्तरंग त्याग आवश्यक है

जो अंतरंग भावों से विरक्त है वही भावलिंगी साधु है । जो केवल बाहरी द्रव्यों से विरक्त है, अंतरंग राग द्वेषादि का त्याग नहीं है, उस द्रव्य लिंगी साधु को सुगति कभी नहीं होगी । इसीलिये पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमन वाले मन रूपी हाथी को सदा बाँध रखना चाहिये ।

२० - निदान शल्य का त्याग

सर्वशास्त्रों को पढ़कर तथा दीर्घकाल तक घोर तप साधन कर यदि तू शास्त्र ज्ञान और तप का फल इस लोक में लाभ बड़ाई आदि चाहता है तो तू विवेक शून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष के फूल को ही तोड़ डालता है । अब तू उस वृक्ष के मोक्षरूपी पक्के फल को कैसे पा सकेगा ? तप का फल मोक्ष है - यही भावना का कर्त्तव्य है ।

२१ - पांच इन्द्रियों के विषयों का त्याग

जो कोई बहुत शास्त्रों का ज्ञाता भी है । परन्तु पाँच इन्द्रियों के विषयों के व कषायों के अधीन है वह सम्यक् चारित्र का उद्यम् नही कर सकता है । जैसे - पंख रहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड़ नहीं सकता है ।

२२ - विनय मिथ्यात्व किसे कहते हैं

सब देवों का विनय करो, अपना क्या बिगड़ा ? यह मान्यता विनय मिथ्यात्व की है । शिखर जी का कंकड़-कंकड़ पूज्य है जितने पत्थर

उतने देव है यह सब मान्यता विनय मिथ्यात्व की है । पद से विपरीत विभक्ति करना विनय मिथ्यात्व है दिगम्बर निर्ग्रन्थ गुरू की ही नवधा भक्ति है जिसको ही मात्र नमोस्तु किया जाता है । पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों की नवधा भक्ति नहीं होती फिर भी ऐल्लक क्षुल्लक, अर्जिका क्षुल्लिका आदि की नवधा भक्ति करना यानि पूजा करना यह विनय मिथ्यात्व है, क्योंकि पंचम गुण स्थान वर्ती जीवों की छट्ठे गुण-स्थानवर्ती जीवों के जैसी विनय कैसे हो सकती है ? पंचम गुणस्थान वर्ती जीव हमारे सहधर्मी भाई है जिस कारण हम भगवान् के समवशरण के भीतर में एक ही कोठे मे बैठते है । सहधर्मी भाई के नाते ही हम उन्हें इच्छाकार करते है । एक प्रतिमा धारी को जितना संवर होता है उतना ही संवर ऐल्लक, क्षुल्लक, अर्जिका क्षुल्लिका आदि को होता है । संवर में अंतर ही है तो भी हम उनकी पूजा करें यह विनय मिथ्यात्व नहीं है तो क्या है ? पद के अनुकूल भक्ति करना उसी का नाम विनय तप है और पद से विपरीत भक्ति करना यह विनय मिथ्यात्व है ।

२३ - धर्म तत्व को समझो

श्रावक सम्यग्दृष्टि पुण्य फल प्राप्ति और मोक्ष की साधना श्रावक को सिद्ध भगवान जैसे आत्मिक आनन्द का अंश होता है । वह उत्तम स्वर्ग में जाता है । परन्तु उसके वैभव में मूर्च्छित नहीं होता वहाँ से चलकर और मनुष्य होकर वैराग्य प्राप्त कर मुनि होकर आत्म-साधना पूर्ण करके केवल ज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में जाता है । ऐसा श्रावक धर्म का फल है ।

यह श्रावक चाहे मुनिव्रत न ले सके और अणुव्रत धारी ही होवे तो आयु पूर्ण होने पर नियम से स्वर्ग चला जाता है वहाँ अणिमा आदि ऋद्धि सहित बहुत काल पर्यन्त अमर पद में (देवपद में) रहता है । उसके बाद उत्कृष्ट शुभ द्वारा महान उत्तम कुल में मनुष्यपना प्राप्त कर वैरागी होकर सकल परिग्रह त्याग कर मुनि होकर शुद्धोपयोग रूपी साधन द्वारा मोक्ष पहुंचता है । इस प्रकार श्रावक परम्परा से मोक्ष साधता है । (भव्यजीवों) असली शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हो तो इस शरीर के द्वारा किये परोपकार से पुण्य और इन्द्रियवासना की पूर्ति के लिये दूसरे जीवों को सताने से पाप होता है । (वासना) ही पाप का मूल कारण है । इस कलि काल में संसार की वासनाओं में फसे हुए लोग वैराग्य वृत्ति की बात सुनते ही डरने लग जाते है - जो उपदेशक जनता से त्याग कराना चाहता है किन्तु स्वयं त्याग नहीं करता उसका उपदेश जनता के हृदय पर असर नहीं डाल सकता । जनता के हृदय को बदलने की कला तो ज्ञानी में होती

है । जो जिसको स्वयं नही छोड़ सकता वह दूसरों से कैसे उसे छुड़ा सकता है । जो महलों मे रहते थे और प्रातः काल होते ही जिनसे हजारों आदमी दान पाकर मुक्त कण्ठ से जिनकी प्रशंसा करते थे उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया । जब विचार किया तो दीक्षा लेने से पहले अपना सारा वैभव भी छोड़ दिया और इस प्रकार हल्के होकर जनता के सामने मैदान में आये । मतलब यह है कि परिग्रह वृत्ति का त्याग करके ऐच्छिक गरीबी को धारण किया । आचार्यों ने साधु और गृहस्थ दोनों के विषय में कहा है । साधु यदि अपनी भूमिका मे रहना चाहते है तो उन्हें पूर्णरूप से अपरिग्रह के व्रत धारण करना ही होगा फिर बाहर से ही अपरिग्रह होने से काम नही चलेगा अन्दर मे भी उसे अपरिग्रही बनना पड़ेगा परिग्रह की वासना न रहने का लक्षण यह है कि उसकी निगाह मे राजा और रंक तथा धनवान और निर्धन एक रूप में दिखाई देना चाहिये । जो किसी भी सन्त के सामने नत मस्तक हो जाता है, धनवान की खुशामद करता है, समझना चाहिये कि उसके भीतर पूरी अपरिग्रह वृत्ति का उदय नहीं हुआ है । धन की महत्ता को वह भूला नही है । वह समतृण मणि को नही प्राप्त कर सका है । जिसका जीवन पूर्ण रूप से निस्पृह बन जाता है वह धन वैभव से कभी प्रभावित नहीं होता । जो धन वैभव से प्रभावित नहीं होते वही जगत को अपने उच्च आचार और पवित्र विचार से प्रभावित करता है । रागादिभाव हिंसा समेत द्रवित त्रस थावर मरण खेत - जे क्रिया तिन्हें जानहू अधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म ।। याकू गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ।। रागादि द्वेष आदि हिंसा सहित तथा त्रस और स्थावर जीवों के घात स्थान होने से जिन क्रियाओं में द्रव्य हिंसा होती है वह सब क्रियायें कुधर्म है ।। आचार्य शास्त्रों को रचने वाले तो बड़े-बड़े योगी पुरूष हुये है उनके वचनों को शिरोधार्य करके हम सब साम्य भावी हो सकते है । कोई कठिन बात नहीं है योगी के संसर्ग से क्या नहीं हो सकता । योगी से इन्द्र भी संतुष्ट हो जाते है । शेर और गाय अपने वैर को भूल जाते है । मनुष्य की बात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते हैं । जहाँ योगी पहुंच जाते हैं वहा वैर, भय, क्रोध सब ही नष्ट हो जाते है । चन्द्रमा की शीतल किरणें आतप को दूर कर देती है सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है । जिस मुनि का मोह क्षीण हो गया है उसके प्रताप से शान्ति का वातावरण फैल जाता है ।। केवल जो वंश परम्परा चला आया है । चाहे उसमें तत्व का अंश भी न हो । उसे ही लोगों ने धर्म मान लिया है धर्म साधन निराकुलता मे है । जिनका संसर्ग अनेक व्यक्तियों से है ।। वही निमित्त कारण पक्ष या अधिक दुखः के मार्ग में पड़ सकता है इस राग ने संसार को दुःख सागर में डुबो

रखा है । इसका उद्धार का कोई भी उपाय नहीं । उपाय तो केवल वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत धर्म में है परन्तु संसारी रागादि में उनका आदर करते रहें तो जिनका संसार दूर है उन्हें वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत का मार्ग नहीं रूचता ।

२४ - त्यागफल

जब मनुष्य कुछ त्याग करता है तभी उसका प्रतिफल पाता है । और इस संसार में आत्मा से बड़ी क्या वस्तु है । उसके लिये तो सम्पूर्ण पृथ्वी का त्याग भी कम है । किन्तु यह त्याग तन का नहीं मन का त्याग होना चाहिये मजदूरी का त्याग त्याग नही कहा जा सकता यह तो वैसे ही स्थिति हुई जैसे मनुष्य अपरिग्रह अथवा वैराग्य की स्थिति को प्राप्त होता है तब उसके लिये सब भोग नीरस हो जाते है, भोग या अभोग सभी एक जैसे हो जाते है । जिसके लिये भूतल शैया हो, दिशाएं वस्त्र हों, ज्ञानामृत भोजन हो उसे किस का भय रह जाता है । ऐसा योगी साक्षात शिवत्व को प्राप्त कर लेता है । राम विजय का यही रहस्य है । रावण को विलासी इन्द्र नहीं, बनवासी राम ही जीत सकता है । शक्ति सोने की लंका या इन्द्र की स्वर्ण नगरी में नहीं शक्ति राम के त्याग में है (तभी हमारे अपरिग्रह और त्याग की भारी महिमा गाई है) एक दिगम्बर साधु सबको अपने साथ चलने का उपदेश दे रहा है । और जब चलने के काफी लोग हो गये तो चरण शर्मा के शब्दों में कोरस गूंज उठता है । यह मस्ती ही है जिसकी खोज में हम युग युगों से भटक रहे है और यह मस्ती ही है जो हमें मुक्ति दिला सकती है । मधुपान करती हुई मक्खी उसी में चिपक कर गई है और छटपटा रही है--

चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बे परवाह
जाको कुछ न चाहिये सो ही साहन साह

२५ - ज्ञानी और मूढ़ मुनि में अन्तर

मुनि ज्ञानी अरू मूढ़ में अन्तर होय महान,
ज्ञानी तन अपौ तजन चह, भिन्न जीव से जान ।।
मूर्ख बहु विधि धर्म भिस, ग्रह चह जगत् अशेष ।
मुनि ज्ञानी अरू मूढ में, अन्तर यही अशेष ।।
चेला-चेली शास्त्र में मूरख आनन्द मान ।
इनसे विज्ञल ज्ञात है, बध हेतु तिन जान ।।

चेला-चेली कलम अरू, कागज आदि दवात ।
मोह उपजावै मुनिन को, अरू सब अध: गिरात ।।
सिर बालों का लोंचकर, किया दिगम्बर भेष ।
निज को ही वह ठगत है, तजै न संग अशेष ।।
इच्छित पर वस्तु गहै, जो मुनि जिन लिंग धार ।
खोवै वह पानी वमन को दुर्गंधित नि:सार ।।
लोभ कीर्ति के हेतु जो मुनि त्यागै शिव संग ।
तुच्छ कील के कारण, करे देवालय भंग ।।
परिग्रह से निज बड़ा गिनत मुनि न जान परमार्थ ।
भाषा श्री जिनदेव ने करत कथन परमार्थ ।।

अर्थ :-- ज्ञानी और अज्ञानी साधु में बड़ा अन्तर है । ज्ञानी तो अपने शरीर को भी आत्मा से अपने को भिन्न जानकर छोड़ना चाहता है किन्तु अज्ञानी साधु बहुत प्रकार के धर्म के बहाने बना धर्म के नाम से सारे संसार को ग्रहण करना चाहता है विशेष रूप से ज्ञानी और मूढ़ मुनि में यही अन्तर है । मूढ़ अज्ञानी साधु तो चेला-चेली शिष्यों की संख्या-शास्त्रों के इक्ट्ठा करने में आनन्द मानता है किन्तु ज्ञानी मुनि इन सबको कर्म बंध का कारण जानता हुआ इन्हें रखने में शर्माता है । चेला-चेली, कलम, कागज, दवात आदि यह सब ही मुनि को मोह में फंसाते और नीचे गिराते है । जो साधु बालों का लोंच करके दिगम्बर भेष बना पूरे परिग्रह को नहीं छोड़ता वह तो अपने को धोखा ही देता है । जो मुनि जिनेन्द्र का नग्न भेष धारण करके भी मन चाही वस्तुओं का ग्रहण करता है वह फिर सड़ी बेकार दुर्गंधित वमन को खाता है ।

जो साधु लोभ मान कीर्ति के लिए शिवसंग वीतराग भावों का त्याग करता है वह बेकार सी कील के लिए मन्दिर को तोड़ता है । श्री जिनेन्द्र देव परमार्थ का कथन करते हुए कहते है कि जो मुनि अपने को परिग्रह रखने से बढ़ाता है वह तो परमार्थ को जानता ही नहीं (विशेष) - परिग्रह विशेष ग्रहण करके जकड़ने वाला परिग्रह है । संसार के सभी जीवों को जकड़ने वाला जो परिग्रह है उससे बढ़कर उसके लिए अन्य कोई बंधन नहीं । अत: परिग्रह ही संसार परिभ्रमण का कारण है । परिग्रह से इच्छा, पूर्ण न होने से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप, पाप से नरक पशु गति, इन गतियों में वचनातीत महान घोर दु:ख, ऐसे दु:ख का मूल

परिग्रह ही पड़ता है । बाह्यपरिग्रह में शरीर से बढ़कर अन्य कोई परिग्रह नहीं, बहां शरीर की ममता से ही दूसरी वस्तुएं परिग्रह बनती है । अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि धन, घर, स्त्री, पुत्र, शिष्य आदि बढ़ा-बढ़ा कर प्रसन्न होता, वह इन सबमें दु·ख भोगता हुआ भी इन्हीं से मोह करता और दुःखी बना रहता है । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि शरीर को रोगों का घर अशुचि, घर को जेल, स्त्री, पुत्र आदि को बड़ा महान बन्धन समझता है और इन सबसे छुटकारा-मुक्ति पाने को तड़फड़ाता रहता है । इसी प्रकार अज्ञानी मिथ्याती मुनि शिष्यों सुन्दर कमण्डल पिच्छी शास्त्र आदि परिग्रह में रति-प्रीति रखता है जब कि सम्यग्दृष्टि साधु इन सबको भार समझकर छोड़ना चाहता है । वह तो आत्मा स्वयं अपने को ही अपना सब कुछ समझता और उसे ही शुद्ध सिद्ध बनाने की धुन में प्रयत्नशील रहता है ।

नाहं रामो न में वांछा, भोगेषुचन मे मन:
शान्ति मसितु मिच्छामि स्वात्मन्येव-जिनोयथा

अर्थ -- मै राम हूं न मुझे कोई इच्छा है । न संसार के किसी पदार्थ में मेरा मन है । मै तो अपनी आत्मा में ही निमग्न, मै राम नही हूं राम का पुजारी हूं । मैं भी जिनेन्द्र देव के समान शान्ति करना चाहता हूं ।। योग्य वशिष्ठ लिखित राम भावना के अनुरूप ही जिनेन्द्र भगवान के भक्त पुजारी जिनेन्द्र देव की पूजा करते है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान ने ही योग बल से आत्मा को शांत किया तथा ज्ञान सुख आदि शक्तियों का पूर्ण विकास किया है अत. उनकी पूजा भक्ति द्वारा ही वह आध्यामिक शान्ति प्राप्त हो सकती है । इति

२६ - परिग्रह का अर्थ

सम्यक् प्रकार पर वस्तु को अपना मानना । तब जिसको त्याग कर लोग दानी बनते है वह वस्तु तो आत्मा से भिन्न है । उसको अपना मानना ही अन्याय है । वह तो पर है, पर वस्तु को जो ग्रहण करते है, वे चोर है । संसार में परिग्रह छोड़ना उत्कृष्ट है परन्तु छोड़कर संग्रह करना तो अतिनिंद्य है । सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागी दिगम्बर मुद्रा धारण कर एकान्त वास या साधु समागम द्वारा आत्म कल्याग करते हैं परन्तु त्यागी या साधु होकर भी जो इसके विपरीत ही आचरण करते है वे संसार समुद्र में डूबते है कि किनारे लगने का कोई ठिकाना ही नही पाते ।। परिग्रह एक पिशाच है । इसके वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के अनर्थों को उपार्जन करते

है । यह संसार ही परिग्रह मूलक है । अन्तरंग और बहिरंग भेद से यह दो प्रकार का है । अन्तरंग परिग्रह का सम्बन्ध आत्मा से है और वही पदार्थ जिसमें ममभाव होता है उसे बाह्य परिग्रह कहते है । जैसे असि को हिंसक कह देना ।

आये एक ही देश से उतरे एक ही घाट ।
हवा लगी संसार की हो गये बारा बाट ॥
अब तुम आये जगत में जगत हंसा तुम रोय ।
अब ऐसी करनी करो, फिर हंसी न कोय ॥

२७ - अवधि ज्ञान का विषय

अवधि ज्ञान मनुष्यों को होता है ऐसा कहा गया है । इसमें तीर्थंकरों को नहीं लेना चाहिए । उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्य को समझना चाहिए । वह बहुत थोड़े से मनुष्यों को होता है । अवधि ज्ञान को गुण प्रत्यय भी कहा जाता है । वह नाभि के ऊपर शंख पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश मछली, आदि शुभ चिन्हों के द्वारा होता ।

२८ - अरहंत केवली व तीर्थंकर केवली में क्या अन्तर है

१-सभी अरहंत तीर्थंकर नहीं होते । २-सभी तीर्थंकर अरहंत होते है । ३-सभी अरहंतों की वाणी नही खिरती । ४-सभी तीर्थंकरों की वाणी खिरती है । ५-अरहंतों के समवशरण की रचना नही होती । ६-तीर्थंकरों के समवशरण की रचना होती है । ७-अरहंतो के पंच कल्याण नहीं होते । भरत व एरावत क्षेत्रों में तीर्थंकरों के पाँचों कल्याणक होते है लेकिन अन्य क्षेत्रों में ३ या २ होते है । (तीर्थंकर व अरहंतो के) प्रकृति के बंध नही होता तीर्थंकरों के तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है । अरहंत केवली निम्न प्रकार के होते है । १-मूक केवली इनकी वाणी नही खिरती । २-उपसर्ग केवली । ३-अन्तः कृत केवली । ४-सामान्य केवली । (तीर्थंकरों में इस प्रकार के भेद नहीं होते ।)

२९ - मोक्ष - प्राभृतम्

तीन के द्वारा तीन को धारण कर, निरन्तर तीन से रहित, तीन से

सहित और दो दोषों से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ।।

विशेषार्थ :-- तीन के द्वारा अर्थात् मन, वचन, काय के द्वारा तीन को अर्थात् वर्षा काल योग, शीतकाल योग और उष्ण काल योग, को ध ारण कर निरन्तर अर्थात् दीक्षा काल से लेकर तीन से रहित, अर्थात् मिथ्यात्व-माया-निदान, इन शल्यों से रहित तीन से सहित और दो दोषों से विप्रमुक्त अर्थात् राग द्वेष इन दोषों से सर्वथा रहित योगी ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्ध के समान उत्कृष्ट निज-स्वरूप का ध्यान करता है ।। जो जीव मद, माया और क्रोध से रहित है । लोभ से वर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है उत्तम सुख को प्राप्त होता है ।

यह जीव क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के कारण स्वभाव से च्युत हो रहा है, इसलिये इन चारों कषायों का अभाव करके जो रागादि परिणाम से रहित होता हुआ निर्मल स्वभाव से युक्त हो गया है वही जीव कर्म क्षय से उत्पन्न होने वाले इन्द्रिय सुख से रहित देव-दुर्लभ परमानन्द रूप उत्तम सुख को प्राप्त होता है । (जो मुनि) निज आत्मा का ध्यान करता हुआ मुनि जिस अनन्त सुख को प्राप्त करता है उस सुख को करोड़ों देवियों के साथ रमण करता हुआ इन्द्र भी प्राप्त नहीं कर सकता है ।।

जो विषय कषाय से युक्त है जिसका मन परमात्मा की भावना से रहित है । तथा जो जिन मुद्रा से पराँगमुख भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रूद्र पद धारी जीव सिद्धि सुख को प्राप्त नहीं है --

स्त्री जनों के आलिगन आदि पंचेन्द्रियों के विषयों तथा क्रोध मान, माया और लोभ कषाय से युक्त होने के कारण जिसका मन परमात्मा की भावना से हट गया है तथा जो जिन मुद्रा को छोड़कर भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रूद्र मोक्ष सम्बन्धी सुख को प्राप्त नहीं होता है किन्तु नरक के दु'ख को प्राप्त होता है ।

गाथा १२४ (नियमसार)--

कि कहदि वणवासो काय कलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झय मौण पहुदि समदा रहियस्स समणस्स ।।

अर्थ -- आगे कहते है कि जो कोई समता भाव के बिना केवल द्रव्य रूप बाह्य लिंगी अर्थात् चिन्ह को धारणे वाला द्रव्यलिंगी श्रमणाभास

है । अर्थात् यथार्थ में मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश मालूम होता है इसके मोक्ष का कुछ भी उपाय नहीं है ।

जो श्रमण (दिगम्बर मुनि) समता से रहित है उसको वनवास अथवा काय कलेश व नाना प्रकार के उपवासों का करना व शास्त्र पठन तथा मौन व्रत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं । अर्थात्-मोक्ष के साधन को करने में असमर्थ है ।। (विशेषार्थ) - सर्व कर्म कलंक रूपी कीच के रहित महान महानंद का कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो और केवल द्रव्यलिंगी धारी श्रमणाभास वन में वास करे, वह वर्षा काल में वृक्ष में नीचे ठहरे, गर्मी मे अत्यन्त तीव्र किरणों में से संतप्त पर्वत के शिखर पर बैठकर आसन लगावे अथवा शीत ऋतु में रात्रि के मध्य में दिशाओं के ही वस्त्र का लिहाफ ओढ़े अर्थात् चौड़े मैदान में बैठ नग्नावस्था में ध्यान लगाने, त्वचा और हड्डी को दिखलाने वाला व सर्व अंग को क्लेश देने वाला उपवास महोपवास करे व सदा शास्त्र पढ़ाने में ही चतुर हो अथवा वचनों के व्यापार को त्यागकर सदा मौन व्रत ही धारण करे तो भी उसे कुछ भी मोक्ष के कारण भूत फल की प्राप्ति नहीं है । (भावार्थ) समता भाव के साथ में तो ये सब उपादेय है परन्तु समता भाव रहित जीव के इनसे कोई भी ग्रहण योग्य फल का लाभ नहीं है । ऐसा ही श्री अमृतअशीति ग्रन्थ में कहा है-कि पर्वत की भयानक गुफा में, वन में, व दूसरे किसी शून्य प्रदेश में बैठने से, इन्द्रियाँ रोकने से, ध्यान से व तीर्थों की यात्रा में पड़ने से अथवा जय होम करे से ब्रह्म की सिद्धि नहीं है । इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप इन सब अन्य, अपने आत्मा के सार को ही ढूंढ । टीकाकार कहते है जो यती समता भव से रहित हो अनशनादि द्वादश तपों को पालता हो उसके कार्य की सिद्धि नहीं है । इसलिये हे मुनि तु आकुलता से रहित समता देवी का जो कुल मंदिर ऐसा जो अपना आत्मिक तत्व उसी का ही भजन कर ।।

मोक्खख यहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्येव विहरणिच्च्य मा विहरसु अण्ण दविएस ।।

अर्थ .-- उसी मोक्ष मार्ग में आत्मा को लगाओ उसी का ध्यान करो । उसी में नित्य विहार करो, अन्य द्रव्यों में विहार न करो आचार्य महाराज उपदेश करते है कि हे भव्य ! यद्यपि यह आत्मा अनादि काल से अपनी बुद्धि के दोष से राग द्वेष के वशीभूत होकर प्रवृत्त हो रहा है तो भी अपनी ही बुद्धि के गुण से उस आत्मा को वहाँ से निवृत्ति कर दर्शन ज्ञान चरित्र में नित्य ही अत्यन्त निश्चल रूप

से स्थापित करो तथा अन्य पदार्थ सम्बन्धी चिन्ताओं को त्याग कर अत्यन्त एकाग्रह हो दर्शन ज्ञान चारित्र का ही ध्यान करो तथा समस्त कर्म चेतना और कर्म फल चेतना का त्याग करो । शुद्ध ज्ञान चेतनामय दर्शन ज्ञान चारित्र का अनुभव करो तथा द्रव्य स्वभाव के वश से प्रत्येक क्षण में बढ़ते हुए परिणाम पाने से तन्मय परिणाम होकर दर्शन ज्ञान चारित्र में विहार करो तथा एक निश्चल ज्ञान स्वरूप का ही अवलम्बन कर ज्ञेय रूप उपाधि के कारण सभी ओर से दौड़ कर आते हुए सभी पर द्रव्यों में किंचितमात्र भी विहार मत करो । (इति)

३० - उपादान और निमित्त

जैसे-जैसे उपादान प्रबल होता है । वैसे-वैसे जीव सुख और शान्ति को प्राप्त होता है । और जैसे-जैसे निमित्त प्रबल होता है वैसे-वैसे जीव दु:ख और अशान्ति को प्राप्त होता है । जब निमित्त का नाश हो जाता है, तब जीव का संसार कटने लगता है और मोक्ष मार्ग धारण कर शाश्वत सुख का भोक्ता पूर्वोपार्जित कर्मों के नाश से हो जाता है । जीव का शुद्ध दर्शन ज्ञान गुण उपादान है और बाह्य पदार्थों में जीव का राग द्वेष भाव निमित्त है ।

रागी द्वेषी मोही मिथ्या दृष्टि मनुष्य चाहे वह द्रव्यलिंगी बाह्य भेष धारी मुनि हो, वक्ता होने योग्य नहीं है । ऐसा वक्ता वक्ताओं में श्रद्धा विश्वास को त्याग कर स्वयं आगम का अध्ययन एवं अभ्यास करे यही एक मात्र सम्यक्त्व की प्राप्ति का मार्ग है व यथार्थ सुख कारण है । (इति)

३१ - सम्यक्त्व (नव भेदों का वर्णन)

क्षयोपशम सम्यक्त्व तीन प्रकार का है । वेदन सम्यक्त्व ४ प्रकार का है और तथा क्षायिक के ये दो भेद और मिलाने से सम्यक्त्व के नव भेद होते है--

क्षयोपशम सम्यक्त्व के तीन भेदों का वर्णन - (१) पांच का उपक्षम - २ का उदय (२) उपशम उदय (३) छह क्षय एक उपशम वेदक सम्यक्त्व के चार भेद--(१) प्रकृतियों का उपशम एक उदय (२) चार प्रकृतियों का क्षय । दो का उपशम । और एक का उदय है, (३) पाँच प्रकृतियों का क्षय एक उपशम एक उदय (४) २ प्रकृतियों का क्षय एक का उदय । क्षायिक

वेदक सम्यक्त्व (उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद) सातों प्रकृतियों का क्षय करने वाला क्षायक सम्यग्दृष्टि है । यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता । सात प्रकृतियों में से कुछ क्षय हो और कुछ उपशम हो तो वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है उसे सम्यक्त्व का मिश्र रूप स्वाद मिलता है । छह प्रकृतियों का उपशम हो या क्षय हो अथवा कोई क्षय और उपशम हो केवल सातवीं प्रकृतियों सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्व धारी होता है ।

३२ - दो शब्द

वर्तमान काल में तत्व उपदेश प्राय: कर लोप सा हो गया है बाह्य क्रियाओं में धर्म बताया जाता है जो क्रियाएं मोक्ष मार्ग में साधक भी नहीं है । जैसे - शुद्ध के हाथ के जल का त्याग करना यज्ञोपवीत धारण करले वाले व्रती के हाथ से ही आहार लेना इत्यादि । जहां तत्व का ज्ञान नहीं होता । वहाँ त्याग कैसे हो सकता है । अज्ञान-दशा में आत्मा ने अनेक दफे त्याग किया तो भी जिनेन्द्र भगवान की वाणी में बस त्याग को मिथ्या चारित्र ही कहा गया है । आत्मा ने अनन्त दफे द्रव्यलिंग धारण किया परन्तु तत्व ज्ञान के बिना वही द्रव्यलिंग संसार का ही कारण रहा जिस जीव में तत्व ज्ञान की प्राप्ति हो गयी और बाह्य में कुछ भी त्यागी नहीं है तो भी उस जीव को जिनेन्द्र देव का लक्षु नन्दन कहा जाता है यही तो तत्व ज्ञान की महिमा है । प्राय: कर जीव पुण्य भावों में ही धर्म मान बैठे है । धर्म शब्द का व्यवहार जिनागम में दो प्रकार से किया गया है । एक निश्चय धर्म दूसरा व्यवहार धर्म । वीतराग भावों का नाम निश्चय धर्म है । तथा वीतरागी भावों के साथ में जो पुण्य भाव है उसको व्यवहार धर्म कहा जाता है । वह निश्चय धर्म में नहीं है अर्थात् पुण्य भाव को धर्म मानना अज्ञान भाव है । मात्र पुण्य में धर्म मानने की श्रद्धा छुड़ायी जाती है पर इतनी सी बात सुनकर अज्ञानी जीव चिल्ला उठते है कि महाराज पुण्य छुड़ाते है । जहाँ पाप भी नहीं छोड़ते वहाँ पुण्य कैसे छोड़ दोगे पुण्य को धर्म मानना नहीं चाहिए इतना उपदेश दिया जाता है वहाँ तो अज्ञानी चिल्लाते है । लोग पुण्य करना छोड़ देंगे । परन्तु भाई विचार तो करो कि उपदेश सत्य का देना चाहिए या असत्य का । असत्य में सत्य मानकर अनन्त काल निकाला पुण्य भाव में धर्म भाव का अभाव ही है । और धर्म भाव में पुण्य भाव का अभाव ही है । जब तक दृष्टि न आवेगी तब तक जीव सम्यग्दर्शन के सम्मुख भी नहीं हो सकता । पुण्य भाव तथा धर्म भाव में महान अन्तर है

यह दिखलाने के लिये ही यह दृष्टि दोष नाम की बतलाई है ।

निश्चय व्यवहार ज्ञान बिना, भ्रमो अनन्त संसार ।
सम्यक ज्ञान बिना नहिं, मिटे अनन्त संसार ।।

अपनी आत्मा अनन्तकाल से संसार से परिभ्रमण कर रही है परन्तु संसार का पार आया नहीं । आत्मा ने अनन्त दफे करोड़ों रूपया दान दिया, उपवास किया काय द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किया, कुदेव की मान्यता छोड़ सुदेव की भक्ति करी । कुगुरू की मान्यता छोड़ सुगुरू की उपासना की । श्रावक के व्रत और प्रतिमाएं धारण की, मुनिलिंग धारण कर जंगल में निवास किया परन्तु तत्व की यथार्थ श्रद्धा न करके से ये सारी क्रियायें संसार का ही कारण बनी । समयसार गाथा नं० १५२-१५३ में कहा भी है ।

३३ - पंच परिवर्तन

इस संसारी जीव ने पांच प्रकार के परिवर्तन अनन्त बार किये है, वे परिवर्तन है--

(१) द्रव्य परिवर्तन (२) क्षेत्र परिवर्तन (३) काल परिवर्तन (४) भव परिवर्तन (५) भाव परिवर्तन ।

(१) द्रव्य परिवर्तन - पुद्गल द्रव्य के सर्व ही परमाणु व स्कंधों को इस जीव ने क्रम-क्रम से ग्रहण कर करके व भोग करके छोडा है । एक ऐसे द्रव्य परिवर्तन में अनत काल बिताया है ।

(२) क्षेत्र परिवर्तन - लोकाकाश का कोई प्रदेश शेष नहीं रहा जहां यह क्रम-क्रम से उत्पन्न न हुआ हो । इस एक क्षेत्र परिवर्तन में द्रव्य परिवर्तन से भी अधिक अनत काल बीता है ।

(३) काल परिवर्तन - उत्सर्पिणी जहा आयु काय सुख बढते जाते है । अवसर्पिणी जहा ये घटते जाते है । इन दोनों युगों के सूक्ष्म समयों में कोई ऐसा शेष नही रहा जिसमें इस जीव ने क्रम-क्रम से जन्म व मरण न किया हो । इस एक काल परिवर्तन में क्षेत्र परिवर्तन से भी अधिक काल लगा ।

(४) भव परिवर्तन - चारों ही गतियों में नोग्रैवैयक तक कोई भव शेष नही रहा जो इस जीव ने धारण न किया हो । इस एक भव परिवर्तन

में काल परिवर्तन से भी अधिक अनंत काल बीता है ।

(५) भाव परिवर्तन - इस जीव ने आठ कर्मों के बंधने योग भावों को प्राप्त किया है । इस एक भाव परिवर्तन में भव परिवर्तन से भी अधिक अनंत काल बीता । इस तरह पाँचों प्रकार के परिवर्तन इस संसारी जीव ने अनंत बार किये है ।

इस सब संसार भ्रमण का मूल कारण मिथ्यादर्शन है । मिथ्यादर्शन के साथ (अविरती) प्रमाद कषाय तथा योग भी है । मिथ्यादृष्टि संसार में भोगों में (तृष्णा में) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अपरिग्रह के अतिचार रूपी पाँच अविरति भावों में फंसा रहता है । वही मिथ्यादृष्टि आत्म हित में प्रमादी रहता है तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करता है तथा मन, वचन काय को अति क्षोभित रखता है ।

इस असार संसार में अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही कष्ट पाता है उसी के लिये संसार का भ्रमण है । जो आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है वह संसार से उदास व वैराग्वान हो जाता है व अतीन्द्रिय आत्मीक सच्चे सुख को पहचान लेता है । वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी हो जाता है । वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है यदि कर्मो के उदय से कुछ काल किसी गति में रहना पड़ता है तो वह संसार में लिप्त न होने से संसार प्राप्ति शारीरिक मानसिक कष्टों को कर्मोदय विचार कर समता भाव से भोग लेता है । वह हर एक अवस्था में आत्मिक सुख को जो सच्चा सुख है, स्वतंत्रता से भोगता रहता है यह बात सच है ।

भावार्थ -- इस द्रव्य क्षेत्रादि पाँच तरह के संसार भ्रमण में जहाँ यह जीवजन्म, मरण, रोग, भय के महान कष्ट पाता है श्री जिनेन्द्र के धर्म न जानता हुआ दीर्घकाल तक भ्रमण किया करता है ।

(१) भावार्थ -- प्रथम पुद्गल द्रव्य परिवर्तन में इस एक जीव ने सर्व ही पुद्गलों को बार-बार अनन्त दफे ग्रहण कर और भोग कर छोड़ा है ।

(२) भावार्थ -- दूसरे क्षेत्र परिवर्तन में यह जीव बार-बार सर्व ही लोकाकाश के प्रदेशों में क्रम-क्रम से जन्मा है । कोई स्थान ऐसा नही है जो बहुत बार पैदा न हुआ हो और अनेक प्रकार के छोटे व बड़े शरीर धारे हैं ।

(३) भावार्थ '-- तीसरे काल परिवर्तन में इस जीव ने उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के सर्व ही समयों में बहुत बार जन्म मरण किया है । कोई

समय बचा नही जिसमें यह अनन्त बार जन्मा या मरा न हो ।

(४) भावार्थ -- चौथे भव परिवर्तन में नरक की जघन्य आयु से होकर उर्द्धलोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक सर्व ही जन्मों को इस जीव ने बहुबार मिथ्या दर्शन को धारण करके भ्रमण किया ।

(५) भावार्थ -- पाँचवें भाव परिवर्तन में यह जीव मिथ्यादर्शन के कारण आठों कर्मों के सर्व ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश इन चार प्रकार बन्ध स्थानों को धरता हुआ बार-बार भ्रमा है । (इति)

स्थिति और अनुभाग बन्ध दोनों कषाय से । प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध मन, वचन, काय से यानी योग से होता है ।

(६) क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगप्सा यह ६ भेद है ।

(७) माया, लोभ, हास्य, रति, तीन वेद । यह सात भेद है ।

(८) अष्ट शुद्धि - भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यार्थ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिपना शुद्धि, शयना शुद्धि, वाक्य शुद्धि ।

३४ - मुनि का स्वरूप

मुनि नाम मूलगुण १०८--मूलगूण २८, परिषह २२, तप १२, भावना १२, धर्म १० चारित्र १३, पचाचार्य ५, ६ काय--जीवों की रक्षा करना ।

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो, निर्मोही नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही, मोहिनो मुने: ।।

अर्थ -- मोह मिथ्या) रहित गृहस्थ मोक्ष मार्गी है । मोह सहित (मिथ्या दर्शन युक्त) मुनि मोक्ष मार्गी नही है । (और इस लिये) मोही मिथ्या दृष्टि मुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनि मात्र का दर्जा गृहस्थ से ऊचा नही है मुनियों में मोही और निर्मोही दो प्रकार के मुनि होते है । मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ का दर्जा ऊंचा होता है यह उससे श्रेष्ठ है । इसमें इतना और जोड़ देना चाहता हू कि अविवेक मुनि से सविवक गृहस्थ भी श्रेष्ठ है । और इसलिये उसका दर्जा अविवेक मुनि मे ऊचा है । (गुरू के लक्षण) जो पाँच इन्द्रियनि को विषयानी को जो आशा कहिये वाछा ताकरि रहित होय । छ काय के

जीवन का घात करने वाला आरम्भ कर रहित होय और अन्तरंग बहिरंग परिग्रह करि रहित होय और विशेषण सहित जो तपस्वी कहिये गुरू सो प्रशंसा करिये है ।

अन्तरंग परिग्रह १४ मिथ्यात्व, वेद जो स्त्री, पुरूष नपुंसक हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ । बहिरंग परिग्रह १०--क्षेत्र वास्तु हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य दासी दासी कुप्य, भाँड् । यह २४ परिग्रह रहित है --

(१) वैदिक मत में परम हस साधू सबसे उत्कृष्ट माने जाते है, वे परम हंस साधू सर्वथा नग्न दिगम्बर ही होते है । शुक्रदेव जी वैदिक मत से प्रसिद्ध महात्मा हुए है । वे शुक्र देव जी नग्न दिगम्बर रूप में विचरण करते थे ।

(२) बौद्ध मत की नीव डालने वाले महात्मा बुद्ध ने सबसे प्रथम आत्म शुद्धि के लिये नग्न दिगम्बर साधू चर्या का ही पालन किया था । जब उनको उम वेश में कठिनाई अनुभव हुई तब उन्होंने वस्त्र पहन लिये ।

(३) ईसाई मत में नग्न निर्विकार रूप को महत्व दिया गया है वाईविल में लिखा है । उसने अपने कपड़े उतार दिये थे और सैमुयल को भी नगा रहने की शिक्षा दी उनके बिल्कुल नग्न होने और लगोटी तक का भी त्याग देने पर लोगो ने पुछा क्या ये पैगम्बर का सन्देश देन वाले है ।

(४) यहूदियों मे नग्नता को महत्व दिया गया है । एशाट आफ इण्डिया पेज ३२ पर जो लिखा है । उमका भाव यह है । यहूदियों ने भैराज का विश्वास करने वाला जो पहाडों पर आवाद हो गये थे लगोटी तक त्याग कर विल्कुल नग्न रहते थे ।

(५) मुमलमानों मे भी अनेक सबसे ऊचे दर्जे के फकीर बिल्कुल नंगे रहते थे ।

३५ - तिर्यंच गति के दु:ख

(पचेन्द्रिय तिर्यंचों को असहनीय दु ख सहना पड़ता है)

तिर्यंच गति व मनुष्य गति में कितने प्राणी तीव्र पाप के उदय से लबध्यपर्याप्त पैदा होते है । जो गर्मी सर्दी पसीना मल आदि से सम्मूर्छन जन्म पाते है । व एक श्वास में अठारह बार जन्मते मरते हैं उनकी आयु

१/१८ श्वास होती है । स्वास्थ्य युक्त पुरुष नाड़ी फड़कने की एक श्वास होती है ३४/४८ मिनट या एक मुहूर्त में ऐसे ३७७३ श्वास होते है । ऐसे जीव एक अंर्तमुहुर्त में ६६३३६ जन्म लेते है । नीचे प्रमाण क्षुद्र भव धर कर जन्म मरण का कष्ट पाते है ।

(१)	साधारण वनस्पति बादर के लगातार६०१२ जन्म			
(२)	'' सूक्ष्म के	''	६०१२	''
(३)	पृथ्वी कायिक बादर के	''	६०१२	''
(४)	'' सूक्ष्म के	''	६०१२	''
(५)	जल कायिक बादर के	''	६०१२	''
(६)	जलकायिक वनस्पति सूक्ष्म के लगातार		६०१२	''
(७)	वायुकायिक '' बादर के	''	६०१२	''
(८)	'' सूक्ष्म के	''	६०१२	जन्म
(९)	अग्नि कायिक बादर के	''	६०१२	''
(१०)	'' सूक्ष्म के	''	६०१२	''
(११)	प्रत्येक वनस्पति के सूक्ष्म के	''	६०१२	''
		योग	६६१३२	जन्म

द्वेन्द्रियों के लगातार ८० तेंद्रियों के ६०   २०४
चौइन्द्रियों के ४० पंचेंद्रियों के २४

कुल योग   ६६३३६

पंचेन्द्रियों के २४ में से ८ असैनी तिर्यंच ८, सैनी तिर्यच मनुष्य के गर्भित है ।

३६ - करणलब्धि

(परन्तु अब पांचवी करणलब्धि) जो कि केवल आसन्न भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है । उसका स्वरूप कहते है, भेदा-भेद रत्न त्रयात्मक मोक्ष-मार्ग को तथा सम्पूर्ण कर्मों के क्षय रूप मोक्ष को और अतीन्द्रय परम ज्ञानानन्द-मय मोक्ष स्थल को अनेक नाम निक्षेप प्रमाणों के द्वारा भली-भांति जानकर दर्शन मोहनीय के उपशम करने योग्य परिणामों का होना करणलब्धि है । पंचमी करणलब्धि सो भव्य के होय अभव्य के नहीं होय है । (१) अध करण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्ति करण ऐसे तीन करण

है । ईहां करण नाम कषाय नि की मंदता तै विशुद्ध रूप आत्म परिणाम निका है । (इति)

३७ - तीर्थंकर के बल का प्रमाण

२०० सिंह का बल एक अष्टापद में, दस लाख अष्टापद का बल एक बलदेव में, दो बलदेव का बल एक वसुदेव में, दो वसुदेव का बल एक चक्रवर्ती में चक्रवर्ती का बल एक देव में, दस लाख देवों का बल एक इन्द्र में । ऐसे अनन्त इन्द्र एक साथ मिलकर तीर्थंकर की चिचली (कन्ष्ठिा) अंगुली को भी हिला नहीं सकते । उदाहरण भी हरिवंश पुराण में मिलता है--जब कृष्ण जी की सभी रानियों ने नेमिनाथ तीर्थंकर को अपने पति के घमंड में स्वपति के बल का मान करते हुए उनका तिरस्कार करने के भाव प्रभू को लगे तो नेम जी ने सभी यादव, योद्धाओं को लोह श्रृंखला पकड़ कर कृष्ण सहित खींचने को कहा जब कि आप उस श्रृंखला को अपनी चितली अंगुली से ही पकड़ें तो प्रभु की और ही सब खींच गये, पूर्ण बल लगने पर प्रभू ने अपना हाथ ऊंचा कर सभी को झुला दिया जिससे सभी रानी और कृष्ण जी को लज्जित होना पड़ा जिससे मान चूर-चूर हो गया । (इति)

३८ - गण का हिसाब

(१) असंख्यात वर्षों का एक पल्य होता है । और दश कोड़ा-कोड़ी पल्यों का एक सागर होता है ।

(२) एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणनफल आता है उसे कोड़ा-कोड़ी कहते हैं ।

(३) दश कोड़ा-कोड़ी अद्धा पल्यों का एक सागर होता है ।

(४) (पूर्व का परिमाण) सत्तर लाख करोड़ और छप्पन करोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है । अर्थात् ७६५०००००००००० ।

३९ - इन्द्र

भवन वासियों के ४० व्यन्तरों के ३२ कल्पवासियों के २४ ज्योतिषियों के सूर्य १ चन्द्रमा १ तिर्यंचों में सिंह १ और मनुष्यों में चक्रवर्ती । ऐसे १०० इन्द्रों के द्वारा आपके कमल पूजनीक है । वन्दनीक स्तत्य है ।

४० - भोग-भूमिया की आयु

(१) आयु ३ पल्य ऊंचाई छ हजार धनुष का शरीर तीन दिन में बदरी फल का आहार। (२) आयु २ पल्य, ऊंचाई चार हजार धनुष की, आहार २ दिन में बहड आँवला के बराबर। (३) आयु १ पल्य, ऊंचाई एक कोश की, आहार १ दिन में बराबर आँवला के समान।

कुलकर प्रति श्रुति नाम से प्रसिद्ध। आयु पल्य का मार्ग और ऊचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलाई। इस प्रकार क्रम-क्रम से तीसरा काल व्यतीत होने पर जब इसमें पल्य का आठवाँ भाग शेष रह गया तब् कल्प वृक्षों के सामर्थ्य घट गई। (बाद में)

असि, मषि, कृषि, मेवा शिल्प और वाणिज्य इन छ· कर्मों की व्यवस्था कर दी थी। इसलिये उक्त छह कर्मों की व्यवस्था होने से यह कर्म भूमि कहलाने लगी थी। (इति)

४१ - निश्चय नय से सम्यक् चारित्र

अपने शुद्ध आत्मा स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना राग द्वेष मोह के विकल्पों से रहित हो जाना निश्चय सम्यक् चारित्र है। आत्मा का स्वभाव यदि विचार किया जावे तो वह शुद्ध अखड ज्ञानानन्द-मय द्रव्य है। वही परमात्मा वही भगवान, वही ईश्वर, वही परब्रह्म, वही परम ज्योति स्वरूप है। उसका यह स्वरूप कभी मिटा नही, मिटता नहीं, मिटेगा नहीं, । उस आत्मा के स्वभाव में न कुछ बंध है। जिससे मुक्ति की कल्पना हो, न ही कोई रागादि भाव है जिनको मिटाना हो न कोई ज्ञानावरणादि कर्म है जिनसे छूटना हो न कोई शरीरादिनो कर्म है। जिनकी संगत हटाना हो। यह आत्मा विकारों में रहित यथार्थ एक ज्ञायक स्वरूप परम शुद्ध समयसार है। स्वसमय है निराबाध है। अमूर्तीक है शुद्ध निश्चय नय, से उसमें किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वह सदा ही सहजानन्द स्वरूप है। वहाँ सहज मुख के साधन की कोई कल्पना नही है यह सब द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध द्रव्य का विचार है। इस दृष्टि में किसी भी साधन की जरूरत नहीं है।

४२ - व्यवहार-दृष्टि

परन्तु पर्यायार्थिक नय या पर्याय की दृष्टि देख रही है। और ठीक

ठीक देख रही है कि इस संसार आत्मा के साथ तैजस कार्माण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से साथ साथ चले आ रहे है । इस कर्माण शरीर के ही कारणों मे राग, द्वेष, मोह आदि भाव-कर्म पाये जाते है तथा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व अन्य सामग्री रूपी नौ-कर्म का संयोग है । इस अवस्था के कारण ही इस जीव को जन्म मरण करना पड़ता है । दु ख व सुख के जाल में फंसना पड़ता है । बार बार कर्म बंध करके उसका फल भोगते हुए इस संसार मे संसरण करना पड़ता है इस पर्याय दृष्टि से या व्यवहार नय से सहज सुख साधन का विचार है । रत्नत्रय का साधन इसी दृष्टि से करने की जरूरत है । सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा में प्रतीति में, रूचि में जम जाता है । सच्चा सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप सशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा आनन्द मय बन जाना जाता है तब सम्यक् चारित्र से इसी श्रद्धान ज्ञान सहित शुद्ध आत्मीक भाव में रमण किया जाता है । चला ज़ाता है । परिणमन किया जाता है तिष्ठा जाता है । यही सम्यक् चारित्र है । इसलिये चारित्र की बड़ी भारी आवश्यकता हे । किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही संतोषित न हो जाना चाहिये । किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिये । बिना चारित्र के श्रद्धान और ज्ञान अपने अभीष्ट फल को नही दे सकते ।

एक मनुष्य को श्रद्धान व ज्ञान है । यह मोती की माला है । पहरने योग्य है, पहरने से शोभा होगी परन्तु जब तक वह उसको पहनेगा नही तब तक उसकी शोभा नही हो सकती चारित्र धारण किये बिना ज्ञान श्रद्धान व्यर्थ है । एक मानव के रसीले पकवान बर्फी, पेडा, लड्डू आदि पदार्थ रक्खे है वह उनका ज्ञान वह श्रद्धान रखता है कि ये सेवने योग्य हैं इनका सेवन लाभकारी है । स्वादिष्ट है परन्तु जब तक वह उन मिष्ट पदार्थों का सेवन एकाग्र होकर न करेगा तब तक उसका श्रद्धान व ज्ञान कार्यकारी नहीं है ।

एक मानव के सामने पुष्पों का गुच्छा पडा हुआ है । वह जानता है व श्रद्धान रखता है कि वह सूघने योग्य है सूंघने से शरीर को लाभ होगा परन्तु यदि वह सूंघे नहीं तो उसका ज्ञान व श्रद्धान कुछ भी काम का न होगा । एक तो श्रद्धान है व ज्ञान है कि बम्बई नगर देखने योग्य है । परन्तु जब तक वह बम्बई में आकर देखेगा नही तब तक उसका ज्ञान श्रद्धान सफल न होगा ।

एक मानव को श्रद्धान व ज्ञान है कि लाला रतन लाल बड़ा ही मनोहर गाना बजाना करते है बहुत अच्छे भजन जब तक उनको सुनने का

प्रबंध न किया जाये तब तक यह गाने बजाने का ज्ञान व श्रद्धान उपयोग नही दे सकता है । बिना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान उपयोग नही दे सकता है । बिना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान की सफलता नहीं ।

एक मन्दिर पर्वत के शिखर पर है । हमको ये श्रद्धान व ज्ञान है कि उस मन्दिर पर पहुंचना चाहिये व इसका मार्ग इस प्रकार है । इस प्रकार चलेगे तो अवश्य मन्दिर में पहुंच जावेंगे परन्तु हम आलसी बने बैठे रहे चलने का पुरूषार्थ न करें तो हमें कभी भी पर्वत के मन्दिर पर पहुंच नहीं सकते है । जो कोई *अयथार्थ* तत्व ज्ञानी अपने को परमात्मावत ज्ञाता दृष्टा अकर्त्ता अभोक्ता बन्ध मोक्ष से रहित मानकर, श्रद्धान कर, जानकर ही संतुष्ट ही हो जाते है और स्वच्छंद हो कर राग द्वेष बर्द्धन कारक कार्यों में प्रवृत्ति रखते है । कभी भी आत्मानुभव का आत्म ध्यान का साधन नहीं करते वे कभी भी अपने श्रद्धान व ज्ञान का फल नहीं पा सकते व कभी भी सहज सुख का लाभ नहीं कर सकते वे कभी भी कर्मों से मुक्त स्वाधीन नहीं हो सकते ।

यथार्थ तत्व ज्ञानी स्वतत्व रमण को ही मुख्य सहज सुख का साधन व मुक्ति मार्ग मानते है । यही जैन सिद्धांत का सार है । अतएव निश्चय सम्यक् चारित्र लाभ की आवश्यकता है । स्वात्मरमण की जरूरत है । आत्म-ध्यान करना योग्य है इसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धान होते हुए जितने अंश में स्वस्वरूप में थिरता एकाग्रता तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक् चारित्र है ।

जैन सिद्धांत ने इसीलिये स्वात्मानुभव की श्रेणियां बनाकर अविरत सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभव को दोयज का चंद्रमा कहा है वही पाँचवे देशविरत गुण स्थान में अधिक प्रकाशित होता है छठे प्रमत्त विरत में इससे अधिक अप्रमत विरत में इससे अधिक, मोह गुण स्थान में उससे अधिक संयोग केवली परमात्मा के पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान स्वात्मानुभव प्रकाशित हो जाता है । इस स्वानुभव को धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते है इसको शुद्ध-योग कहते है । इसी को कारण समयसार कहते है । परमात्मा के स्वानुभव को कार्य समयसार कहते है । इसी को सहज सुख साधन कहते है । परमात्मा के स्वानुभव पूर्ण अनंत सुख को सहज साध्य कहते है ।

वास्तव में मन वचन कायों की चंचलता राग द्वेष मोह से या कषायों के रंग से रंगी हुई स्वात्मानुभव में बाधक है । जितनी कषायों के रंग से रंगी हुई स्वात्मानुभव में बाधक है । जितनी जितनी यह चंचलता

मिटती जाती है उतनी-उतनी स्वात्मानुभव की कला अधिक-अधिक चमकती जाती है । जैसे पवन के झोंको से समुद्र क्षोभित होकर थिर नहीं रहता है जितना-जितना पवन का झोंका कम होता जाता है उतना-उतना क्षोभपना भी कम होता जाता है । जब पवन का संचार बिल्कुल नहीं रहता है तब समुद्र बिल्कुल थिर हो जाता है उसी तरह राग द्वेष या कषायों के झकोरे जितने अधिक होते हैं । उतना ही आत्मा का उपयोग रूपी जल क्षोभित व चंचल रहता है । जितना-जितना कषायों का उदय घटता जाता है चंचलता कम होती जाती है । कषायों का अभाव शुद्धात्मचर्या को निष्कम्प प्राप्त करा देता है । (इति)

समाप्त

४३ - वीतराग भाव

संसार में जिन्हें कुछ भी प्रिय नहीं, चैतन्य के वीतरागी निर्विकल्प आनन्द रस की है जिन्हें प्यास है, जिन्हें राग की पुण्य की प्यास नहीं है, ऐसे परमानन्द के पिपासु भव्य जीवों के हेतु शास्त्रों में परमानन्द की धारा बहा दी है--वाह सन्तों ने तो परम आनन्द की प्याऊ लगाई है, जैसे प्रचुर ग्रीष्म में तृषातुरों के लिए मधुर शीतल जल की प्याऊ लगाई हो और तृषातुर जीव वहाँ आकर प्रेम से उसका पान करें तो उनका हृदय तृप्त होता है:--उसी प्रकार संसार वन की आकुलता रूपी ग्रीष्म में भ्रमण करते-करते थके हुए प्राणियों के हेतु भगवान के समवसरण में और संतो की छाया में वीतरागी आनन्द रस की प्याऊ लगी है, वहाँ परमानन्द के पिपासु भव्य गीत जिज्ञासु से प्रेम पूर्वक आकर शुद्धात्मा के अनुभव रूप अत्यन्त मधुर अमृत रस का पान करके तृप्त होते है अरे, ''कहाँ नववे ग्रैवेयक से लेकर सप्तम नर्क तक का दु:खद दावानल और कहां इस चैतन्य के परम आनन्द अनुभव रूपी सुख के वेद की शांति । अरे चैतन्य के परम आनन्द का अनुभव किये बिना सब दुख रूप लगता है, इससे भयभीत होकर जो चैतन्य के सुख के लिये लालायित है--ऐसे जीव शुद्धात्मा के अनुभव की और जाते हैं, उन्हें पंच परमेष्ठी की भक्ति तथा शुद्ध आत्मा का रत्नत्रय ही प्रिय में प्रिय है, ऐसे जीवों को स्वानुभव रस पान कराके सन्त उनकी तृषा मिटाते है ।

(''सम्यग्दर्शन के आठ अग की कथा'')

पैहली नि:शक अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कथा, दूसरी नि;काक्ष अंग में प्रसिद्ध सती अनन्तमती की कथा, तीसरी निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उदायन की राजा की कथा, चौथी अमूढ़ दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा, पाँचवी उपगूहन अग प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा और छठवी स्थिति करण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा सातवें अंग में प्रसिद्ध विष्णु कुमार मुनि की कथा वात्सल्य अंग में सम्यग्दर्शन के आठ अंग प्रभावना अंग नाना प्रकार से करनी चाहिये । (इति)

४४ - ज्ञान चेतना

'' ज्ञान चेतना द्वारा ही सुख का अनुभव होता है ''

देवलोक के देवों के अपेक्षा असख्यात गुना दुर्लभ ऐसा वह मनुष्य भव पाकर, विषय कषाय रूप अशुभ में भव को गवाये या कुदेव कुगुरू के सेवन में जीवन खोये उसकी तो क्या बात ? परन्तु सच्चे वीतरागी देवगुरू को ही माने, अन्य न माने, विषय कषाय के पाप भाव छोडकर शील-व्रत शुभ भाव में मग्न रहें और उसमें सन्तोष माने कि अब इससे मोक्ष हो जायेगा, परन्तु व्रतादि के शुभ राग से पार ज्ञान-चेतना अनुभव न करे तो वह जीव भी रंच मात्र सुख को प्राप्त नही करता । वह स्वर्ग में चला जाता है, परन्तु उससे क्या ? सुख तो राग रहित चैतन्य परिणति में है, कहीं स्वर्ग में सुख नही है ''ज्ञान चेतना द्वारा ही सुख का अनुभव होता है, ज्ञान चेतना स्वय सुख रस से परिपूर्ण है'' --यह किसकी बात है । --'तेरी अपनी' भाई तू स्वयं ज्ञान चेतना स्वरूप है -- अपनी ज्ञान चेतना, को भूलकर अनन्त तू शुभ भाव कर चुका है 'शुभ के साथ अज्ञान है इसलिए राग में सर्वस्व मानकर राग रहित पूर्ण ज्ञान स्वभाव का तू अनादर कर रहा है' सम्यग्ज्ञान के बिना राग में सुख कहां से होगा शुभ राग में ऐसी युक्ति नहीं कि अज्ञान रूपी अधकार और दुख को दूर करे । ज्ञान वस्तु राग से भिन्न है, उस ज्ञान-चेतना के प्रकाश द्वारा ही 'अज्ञान अन्धकार दूर होता है' और सुख प्रगट होता है । निजानन्दी ज्ञान स्वरूप आत्मा की और उन्मुख न होकर सम्यग्ज्ञान चेतना प्रगट किये बिना सुख का अंश भी प्रगट नहीं होगा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड आत्मा स्वयं है, राग में कहीं सुख नही है । राग में या बाह्य से सुख लेना चाहे वह तो सुख की सत्ता आत्मा है उसका अस्वीकार करता है । अरे जहाँ सुख है जो स्वयं सुख है इसका

स्वीकार किये बिना सुख कहां से होगा।

प्रश्न : शुभ राग भले न हो, परन्तु दुख तो नही है ?

उत्तर : अरे भाई उसमें आकुलता रूप दुख ही है, जड़ मे सुख दुख की कोई वृत्ति नहीं है, चैतन्य तत्व अपने ज्ञान भाव द्वारा सुख का वेदन करता है, और अज्ञान भाव से दुख का वेदन करता है। भेद ज्ञान वह सिद्ध पद का कारण है और भेद ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान, वह संसार दुख का कारण है, जहाँ चैतन्य के ज्ञान की शान्ति का वेदन नहीं है वहां कषाय है। भले अशुभ या शुभ हो-- परन्तु जो कषाय है वह तो दु.ख ही है। शुभ कषाय को कही आत्मा को शान्ति तो नहीं कहा जा सकता। आत्मा ज्ञान के द्वारा क्षणमात्र में करोड़ो भव के कर्म छूट जाते है और सम्यग्ज्ञान के बिना करोडों वर्ष के तप द्वारा भी सुख का एक बिन्दु भी प्राप्त नहीं होता। देखो तो सही, ज्ञान की अपार महिमा। अज्ञानी जीव को ज्ञान की खबर नहीं है, उसे तो राग ही दृष्टि गोचर होता है-- परन्तु राग से पार चैतन्य की गहराई में भरा हुआ ज्ञान उसे दिखाई नही देता। इसलिए कहते है कि हे भाई मोक्ष का कारण तो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान सहित चारित्र है। सम्यक् श्रद्धा ज्ञान के बिना आचरण मिथ्या है, उसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की महिमा जानकर, उसे परम अमृत के समान जानकर उसका सेवन करो -- यह रत्न चिन्तामणि समान मनुष्य-पर्याय प्राप्त करके तथा जिनवाणी का श्रवण करके हे जीवों, तुम दुर्लभ ऐसा सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करो और आत्मा को पहिचानो--ऐसा सर्व सन्तों का उपदेश है।

" स्व विषय में सुख--पर विषय दुख "

जिनको समस्त पदार्थों को जानने की इच्छा है, परन्तु इन्द्रियधीन ज्ञान अपने-अपने अल्प विषयों को ही ग्रहण कर सकता है, और बाह्य विषयों के वेग से वह आकुल-व्याकुल दु:खी रहता है। यदि इन्द्रियों से भिन्नता जानकर ज्ञान को अन्तर्मुख करके स्व--विषय को ग्रहण करे, तो आनन्द का अनुभव हो और बाह्य विषयों की आकुलता मिट जाये।

(इति)

४५ - वीरनाथ का मार्ग

भगवान महावीर प्रभु की २५२२ वर्षीय निर्वाणोत्सव चल रहा है, उसमें हमें मोक्ष मार्ग मे ज्ञान कैसा है ? ज्ञान का लक्ष्य क्या है -- यह

दिखाते हुए श्री कुन्द-कुन्द स्वामी बोध प्राभृत में कहते है कि--जो ज्ञान अतीन्द्रिय होकर आत्मा के सन्मुख हो गया है, राग से पार होकर, इन्द्रियों से पार होकर अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मा जिसने प्रत्यक्ष किया, ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान ही जिनमार्ग की सच्ची मुद्रा है । जहां ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान है वहाँ पर जिन मार्ग है, जहाँ ऐसा ज्ञान नही है वहाँ जिन मार्ग नही है । ऐसा ज्ञान किस प्रकार हो--यह बात समयसारादि में आचार्य देव ने अलौकिक ढंग से समझाया है । सीमंधर तीर्थंकर के और श्रुत केवली के पास जाकर ऐसा अपूर्व श्रुत ज्ञान लाकर कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपने औदारिक शरीर के द्वारा भरत क्षेत्र के जीवों को देकर अपार उपकार किया है । (मोक्ष मार्ग, किसको कहा) - जिस ज्ञान का निशाना शुद्धात्म हो, अर्थात् जो ज्ञान सीधा आत्मोन्मुख होकर उसको साधे वही ज्ञान मोक्ष मार्ग का ज्ञान है । इसके बिना अकेला बाह्य शास्त्र पठन या द्वीप समुद्रादि का जानपना, उसे सच्चा ज्ञान नही कहा जाता, क्योंकि वह ज्ञान मोक्ष मार्ग को नहीं साधता, आत्मा को लक्ष्य नहीं बनाता । महावीरादि तीर्थंकर भगवन्तों की देशना तो ऐसी है कि ज्ञान स्व सम्मुख करके आत्मा को निशाना बनाकर उसको बेदो--जानो--अनुभवो ।

ज्ञान का सच्चा स्वरूप जानने से साध्य रूप आत्मा का स्वरूप जानने में आता है, क्योंकि ज्ञान का लक्ष्य शुद्ध आत्मा है, जैसे बाण अपने लक्ष्य की और सम्मुख होकर उसको बेधता है । वैसे सम्यग्ज्ञान रूपी तीक्ष्ण (अतीन्द्रिय) बाण, अपने लक्ष्य रूप शुद्धात्मा के प्रति सम्मुख होकर उसको बेधता है-अनुभव में लेता है जानता है-ध्येय बनाता है । ऐसा लक्ष्य बेधी ज्ञान को ही मोक्ष का साधक है । वह ज्ञान, राग को अपना निशाना नहीं बनाता, राग से पार होकर शुद्धात्मा में पहुंच जाता है । अत· हे जीवों ! ज्ञान का ऐसा स्वरूप जानकर भक्ति से उसकी आराधना करो । ऐसे ज्ञान के बिना मोक्ष मार्ग नहीं होता, ध्यान नहीं होता । संयम नही होता, व्रत नही होता । आत्म ज्ञान के बिना पंच महाव्रत का पालन करने वाला जीव भी असंयमी तथा संसारी मार्ग है, और सम्यग्ज्ञान के द्वारा जिसने अपने शुद्धात्मा को ध्येय बनाया है वह असंयमी हो तो भी मोक्ष-मार्गी है ।

(णाणम् अदात्थम्)

अर्थात आत्मा में जो स्थित है वही जिन मार्ग में सच्चा ज्ञान है, अथवा आत्मा जिसका अर्थ प्रयोजन है ऐसा स्वलक्ष्यी ज्ञान ही जिन मार्ग का ज्ञान है । जिससे आत्मा का प्रयोजन न साधे, निज स्वरूप न सधे, ऐसे शास्त्र के पठन को भी जिन मार्ग में ज्ञान नही कहते । जिन मार्ग में

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा है वे तीनों ही शुद्धात्मा के आश्रित है, आत्मा-रूप है, वे राग-रूप नहीं है, पर के आश्रित नहीं है ।

जो जाने सो ज्ञान:-- किसको जाने अपने लक्ष्य रूप शुद्धात्मा को जाने वही ज्ञान है । जैसे बाण उसको कहते है जो अपने लक्ष्य को बेधे, वैसे अपने परमात्मा स्वरूप को जो बेधे--जाने--अनुभवे उसे ही जैन-शासन में ज्ञान कहते है । साध्य रूप ऐसे निज स्वरूप को जो न साधें उसे ज्ञान कैसे कहें ? अलक्ष्य बेधी निष्फल है अत: वह ज्ञान नहीं, अपितु, अज्ञान है ।

जो राग है वही कहीं ज्ञान का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान से अभिन्न ऐसा आत्म स्वरूप ही ज्ञान का लक्ष्य है, स्व लक्ष्य को बेधना--एकाग्र होकर जानना यह तो (अर्जुन की तरह) अत्यन्त धीर पुरूष का कार्य है, चंचल मन से आत्मा नहीं साधा जाता । आत्मा को साधने के लिए जो ज्ञान अन्तर में उन्मुख हुआ वह तो अत्यन्त धीर है--शांत है, अनाकुल है, अनन्त गुण के मधुर स्वाद को एक साथ आत्मसात् करता हुआ वह प्रकाशमान होता है, चैतन्य रस का अतीन्द्रिय स्वाद उसमें भरा है । ऐसे ज्ञान को पहचान कर आत्मा को साधना,--यही भगवान वीरनाथ का मार्ग है ।

(इति)

४६. ज्ञान का निशाना

ज्ञान का निशाना शुद्ध आत्मा, ज्ञानी के विनय से उसकी प्राप्ति

जो जीव पंचपरमेष्ठी भगवंतों के प्रति विनयवत है वह मोक्ष मार्ग का ज्ञान प्राप्त करता है । ऐसे ज्ञान को पाकर वह जीव मोक्ष मार्ग के लक्ष्य रूप परम आत्म स्वरूप को लखता है--जानता है--अनुभव करता है । ऐसा ज्ञान जैन मार्ग में ज्ञानियों की परम्परा से मिलता है, अत: जिसको ज्ञानी के प्रति विनय-बहुमान न हो वह जीव सच्चे ज्ञान को नहीं पा सकता सर्वज्ञ परम्परा के कुन्द कुन्दाचार्य जैसे ज्ञानी--आचार्यों का विनय छोड़कर जो जैन मार्ग से अलग हुए उन्हें मोक्ष मार्ग का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता । ज्ञानी का सत्य विनय भी तभी हो सकता है जबकि उसके ज्ञान का सत्य-स्वरूप पहचाना जाये । पहिचान के बिना बहुमान किसका । ज्ञान का धनुष व श्रद्धा के बाण से धर्मी जीव परमात्मा स्वरूप को लक्ष्य रूप करके मोक्ष मार्ग को साधता है वह अपने लक्ष्य को नहीं चूकता । भाई, तेरा लक्ष्य सत्य को बना जिसका लक्ष्य ही असत होगा वह किसको साधेगा लक्ष्य हो पूर्व दिशा की ओर निशान को लगावे पश्चिम की ओर, तो वह लक्ष्य को साध नहीं

सकता, उसका निशाना निष्फल जायेगा । वैसे मोक्ष मार्ग में लक्ष्य रूप तो राग रहित चैतन्य स्वरूप शुद्धात्मा है, उसकी और लक्ष न करके, उससे विरूद्ध ऐसे शुभ राग को लक्ष्य बनावे तो उसके लक्ष से मोक्ष मार्ग का निशान कभी नहीं सधता । अत हे भव्य जीव ! प्रथम तू ही ज्ञानी के द्वारा लक्ष्य रूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान कर, और उसे ही ध्येय रूप बनाकर ध्या· इस ध्येय के ध्यान से तेरा मोक्ष मार्ग सधेगा । ज्ञानी के सानिध्य में सत्य मार्ग.जानने से मार्ग के बारे में तेरी उलझन मिट जायेगी, और तेरा ज्ञान अपने सत्य लक्ष्योन्मुख) हो जायेगा । शुद्धात्मा के आश्रय से सुख पूर्वक तेरे को मोक्ष मार्ग सिद्ध होगा ।

सन्त गुरूओं के द्वारा शुद्धात्मरूप अपने लक्ष्य को जो नहीं पहचानता और राग द्वारा मोक्ष मार्ग प्राप्त करना चाहता है--उसको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कभी नहीं होती, मोक्ष मार्ग तो वीतराग सुख रूप है, और राग तो दुख रूप है, राग कि जो स्वयं दु ख रूप है, वह मोक्ष सुख का कारण कैसे हो सकता है ? बोध स्वरूप आत्मा को जो बूझे जाने वह सच्चा बोध है । बोध स्वरूप को जो न जाने उसे बोध कौन कहे । राग में कहीं ऐसी ताकत नहीं कि बोध स्वरूप आत्मा को जान सके । जिससे ज्ञान स्वरूप आत्मा जाना जाये ऐसे बोध का उपदेश महावीर भगवान ने मोक्ष मार्ग में दिया है ।

(श्री गुरू के वास में जाकर विनयवत शिष्य ने पूछा--हे प्रभो मुझे ज्ञान की प्राप्ति करा दो) -- तब श्री गुरू कृपा करके उससे कहते है कि हे भव्य जीव ! ज्ञान की प्राप्ति आत्मा में अतर्मुखता से होती है, अत तुम बाह्य का (हमारा भी) लक्ष्य छोडकर तुम्हारे आत्मा की सन्मुख होवो । पर को लक्ष्य बनाने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, निज आत्मा को लक्ष्य बनाते ही तेरे को ज्ञान की प्राप्ति होगी ।

अहो, जैन शासन का अलौकिक ज्ञान कुन्द-कुन्दाचार्य देव ने प्रसिद्ध किया है वाह, जैन गुरू कैसे परम निस्पृह है । वे स्वय अपने का भी आश्रय छोडने का कहकर जीव को निज स्वभाव का आश्रय कराते है । ऐसे वीतरागी निस्प्रह गुरूओं के आश्रय द्वारा दर्शाया हुआ जो सत्य मोक्ष-मार्ग है उसका आश्रय छोडकर जिन्होंने कुगुरू के कुमार्ग का आश्रय किया, वे अपने हित को भूलकर अपना अहित कर रहे है, ऐसे जीवों के ऊपर करूणा अपने वीतरागी सन्तो ने सत्य मार्ग जगत में प्रसिद्ध किया है । हे भाई इस मार्ग की आराधना से ही तुझे मोक्षमार्ग का सम्यक् ज्ञान होगा, और अल्प काल में ही तेरे भव दु·ख का अन्त होकर तेरे को मोक्ष

की प्राप्ति होगी । अत: जिन मार्ग को जानकर भक्ति से आत्मा की आराधना करो ।

(धन्य अवतार चारित्र दशा)

धन्य अवतार चारित्र दशा । जन्म सदृश नग्न रूप । अकेला । अकेला नही, परन्तु अन्दर निर्विकल्प तत्व में घुसकर निर्विकल्प दशा की प्रचुरता हो तो बाहर से नग्न दशा ही होती है । नग्न दशा हो जाती है करते नहीं । तीन लोक का नाथ सत् चिदानन्द प्रभु उससे शरीर भिन्न है ।

दुख का निमित्त उसका लक्ष छोड़ दें । यह क्षेत्र मेरा, शरीर मेरा सब मेरा मेरा, मेरा पने में शामिल लक्ष्य को लगा दु खी होता था । उसे छोडकर निर्विकल्प तत्व मेरा, आनन्द मेरा ज्ञान मेरा ऐसे स्वरूप में उग्र जम गया तब शरीर का रूप जन्म सदृश ही नग्न हो जाता है । निश्चय व्यवहार का ऐसा ही सहज मेल है ।

सन्त थोडे में बहुत देते है । अरे रेशमी गादला मिले तो सुख है, पर रेशम में और शमशान में क्या फेर है, रेशमी कपड़े में बहुत जीव मरते है । एक थोड़े कपडे में हजारों जीव मरते है, यह कपड़ा आर्य भाणसों को वापरने लायक नहीं है । मिथ्या दृष्टि जीव क्या-क्या नहीं करते हिंसा करें-झूठ बोले । अरे कहाँ जाना है तुझे प्रभु यहां तो २५-४० वर्ष की मुदत है । आत्मा अनन्त काल रहेगा तो कहीं तो रहेगा । ऐसा पाप करके दुर्गति में जाना है तुझे कहना है भाई जाप करके मिथ्या दृष्टि पने ही रहना है । कितनी करूणा है सन्तों की प्रभु तू अकेला ही है पर से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं-नहीं । पर से सम्बन्ध रखेगा तो कभी भी शरीर तेरा साथ नहीं छोड़ेगा ।

(समाप्त चौथा उपदेश)

४७ - मोक्ष का उपाय

संवर और निर्जरा

प्रश्न - गुणस्थानों के दो नाम का क्या कारण है ?

उत्तर - मोहनीय कर्म और योग

प्रश्न - कौन-कौन से गुणस्थान का क्या-क्या निमित्त है ?

उत्तर - आदि के चार गुण स्थान तो दर्शन मोहनीय कर्म के निमित्त से

होते है । पाँचवें गुण स्थान से लगाकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय के निमत्त से होते है ।

तेरहवां और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान योग के निमित्त से होते है ।

भावार्थ :-- पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है । इसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्व रूप होते है चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम-क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है । इस गुण स्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है तीसरा गुणस्थान सम्यक मिथ्यात्व रूप दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होता है । इस गुणस्थान में आत्मा के परिणाम सम्यक् मिथ्यात्व अर्थात् उभय रूप होते है । प्रथम गुणस्थान में औदायिक भाव, चतुर्थ गुणस्थान में औपशामिक क्षायिक अथवा क्षायोपशामिक भाव और तीसरे गुणस्थान में औदायिक भाव होंते है । परन्तु दूसरा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है इसलिये यहाँ पर दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से परिणामिक भाव है किन्तु अनन्तानुबन्धी रूप चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इस गुणस्थान में चारित्र को मोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदायिक भाव भी कहे जा सकते है । इस गुणस्थान में अनन्तानुबंधी के उदय से सम्यक्त्व का घात हो गया है इसलिये यहाँ सम्यक्त्व नही है । और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आया है । इसलिये मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं है । अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है पाँचवे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक छ गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते है । इसलिये इन गुणस्थानों में सम्यक् चारित्र से गुण की क्रम वृद्धि होती है ग्यारहवाँ गुणस्थाना चारित्र मोहनीय कर्म के उपशय से होता है इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होते है, यद्यपि यहाँ पर चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो गया है तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक् चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक् चारित्र होता है ऐसा लिखा है । बारहवा गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है । इसलिये यहाँ क्षायिक भाव होते है । इस गुणस्थान में भी ग्यारहवें गुणस्थान की तरह सम्यक् चारित्र की पूर्णता नही

है सम्यक्ज्ञान गुण यद्यपि चौथे गुणस्थान में ही प्रकट हो चुका है।

भावार्थ :-- यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादि काल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीय का उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यात्व रूप था परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में दर्शन मोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो गया तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगा। पंचमादि गुणस्थानों में तपश्चरणादि के निमित्त से अवधि, मन-पर्याय ज्ञान भी किसी-किसी जीव के प्रकट हो जाते है तथापि केवलज्ञान के हुए बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नही हो सकती, इसलिये इस बारहवें गुणस्थान तक सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना क्षपक श्रेणी का १३वाँ गुणस्थान नही होता तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुण अभी तक अपूर्ण है इसलिये अभी तक मोक्ष नही होता १ तेरहवाँ गुणस्थान योगो के सद्भाव की अपेक्षा से होता है इसलिये इसका नाम संयोग और केवल ज्ञान के निमित्त से संयोग केवली है। इस गुण स्थानों मे सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है। परन्तु चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नहीं होता। चौदहवाँ गुणस्थान योगों के भाव की अपेक्षा से है इसलिये इसका नाम अयोग केवली है इस गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है अतएव मोक्ष भी बन दूर नही रहा अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पाँचों हस्त स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने ही काल मे मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न - मिथ्यात्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अयथार्थ श्रद्धान रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। इस मिथ्यात्व गुणस्थान मे रहने वाला जीव मिथ्या श्रद्धावान होता है। तत्वार्थ श्रद्धा की और इसकी रूचि नही होती जैसे - पित्तज्वर वाले रोगी को दुग्धादि रस कड़वे लगते है उसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नही लगता।

प्रश्न - मिथ्यात्व गुण स्थान से किन-किन प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - कर्म की १४८ प्रकृतियों से स्पर्शादिक २० प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार मे तथा बन्धन ५ और संघात ५ का

अभेद विवक्षा से पाँच शरीरों में अन्तर्भाव से होता है इस कारण भेद विवक्षा से सर्व १४८ और अभेद विवक्षा से १२२ प्रकृतियां है।

सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन दो प्रकृतियों का प्रबन्ध नहीं होता क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता सम्यक् परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड करने से होती है इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की लब्ध योग्य प्रकृतियां १२० और सत्व योग्य प्रकृतियां १४६ है मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति, अहारक शरीर और आहाराक-आंगोपांग इन तीन प्रकृतियो का बन्ध सम्यग्दृष्टि को ही होता है । इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में १२० मे से तीन घटाने पर ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

प्रश्न - मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियो का उदय होता है ?

उत्तर - सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारकांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पांचों प्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय नही होता इसलिये १२२ में से ५ घटाने पर ११७ का उदय होता है ।

प्रश्न - मिथ्यात्व गुणस्थान में सत्ता, कितनी प्रकृतियो की रहती है ?

उत्तर - १४८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है ।

प्रश्न - सासादन गुणस्थान किसे कहते है ?

उत्तर - प्रथमोपशम सम्यकत्व के काल मे जब ज्यादा से ज्यादा ६ आंवली कम से कम एक समय शेष रहता है उस समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व विहीन परिणाम सासादन गुणस्थान कहलाता है ।

प्रश्न - प्रथमोपशम सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उत्तर - सम्यक्त्व के तीन भेद है--दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबंधी की चार प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है ।

इन सातों प्रकृतियों के क्षय होने से उत्पन्न सम्यक्त्व को क्षायिक सम्यक्त्व कहते है । और इन्ही छः प्रकृतियों के अनुदय तथा सम्यक् प्रकृति नामक प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है ।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद है -- प्रथमोपशम सम्यक्त्व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । अनादि मिथ्यादृष्टि के पांच और सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है ।

प्रश्न - द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किसे कहते है ?

उत्तर - सातवें गुणस्थान में क्षयोपशमिक सम्यदृष्टि जीव श्रेणी चढ़ने के सन्मुख अवस्था में अनन्तानुबंधी चतुष्टय का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादिरूप) करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते है ।

प्रश्न - आँवली किसे कहते है ?

उत्तर - असंख्यात समय की एक आंवली होती है ।

प्रश्न - सासादन गुण स्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व गुणस्थान में जो ११७ प्रकृतियों का बन्ध सासादन में होता है । उनमें से इसी मिथ्यात्व गुणस्थान में जिनकी व्युच्छिति है ऐसी सोलह प्रकृतियों के घटाने पर १०१ प्रकृतियों का बन्ध सासादन में होता है ।

प्रश्न - वे १६ प्रकृतियां कौन-कौन सी है ?

उत्तर - मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक-वेद, नारक-गति, नारक गत्यानुपूर्वी नरकायु, असंप्राप्तासृपाटिक संहनन, एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अप्रयाप्त, और साधारण ।

प्रश्न - व्युच्छिति किसे कहते है ?

उत्तर - जिस गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों के बन्ध, उदय अथवा सत्व की व्युच्छित्ति कही हो उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बन्ध, उदय अथवा सत्व पाया जाता है । आगे के किसी भी गुणस्थान में उन प्रकृतियों का बन्ध, उदय अथवा सत्व ही होता है । उसी को व्युच्छिति कहते है ।

प्रश्न - सासादन गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - गुणस्थान में जो मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण इन पांच मिथ्यात्व गुणस्थान को व्युच्छिति प्रकृतियों को घटाने पर ११२ रही परन्तु नरक गत्यानुपूर्वी का इस गुणस्थान में उदय नही होता इसलिये इस गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - सासादन गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - १४५ प्रकृतियों का सत्व रहता है यहाँ पर तीर्थंकर प्रकृति आहार और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती है ।

प्रश्न - तीसरा मिश्र गुणस्थान किसे कहते है ?

उत्तर - सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यत्व रूप परिणाम होते है और न केवल मिथ्यात्व रूप होते है किन्तु मिले हुए दही गुड़ के स्वाद की तरह एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते है । इसी मिश्र परिणाम को मिश्र गुणस्थान कहते है ।

प्रश्न - मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - दूसरे गुणस्थान में बन्ध प्रकृतियां १०१ थी उनमें से व्युच्छित प्रकृतियां २५ है -- अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि निद्रा-निद्र प्रचला-प्रचला दुर्भग दु:स्वर-अनादेय-न्यग्रोध-संस्थान स्वस्ति संस्थान-कुब्जक संस्थान-कतन संस्थान-वज्रनाराच संहनन-नाराच-संहनन अर्द्धनाराच संहनन-कीलिक संहनन-अप्रस्तविहायोगति- स्त्रीवेद-नीच-गोत्र तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्वी-तिर्यगायु-उद्योग घटाने पर ७६ प्रकृतियां रही परन्तु इस गुणस्थान में किसी आयु कर्म का बन्ध नही होता है इसलिये ७६ में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर ७४ प्रकृतियों का बन्ध मिश्रगुणस्थान में होता है । नरकायु को प्रथम गुणस्थान में और तिर्यगायु की दूसरे गुणस्थान में ही व्युच्छिति हो जाती है ।

प्रश्न - मिश्रगुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर - दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता है । उनमें से व्युच्छित्त प्रकृति के अनन्तानुबन्धी ४ एक इंद्रियादिक ४ स्थावर एक = ९ के घटाने पर शेष १०२ में से नरकगत्यानुपूर्वी दूसरे गुणस्थान में घटाई जा चुकी है शेष की तीन आनुपूर्वी घटाने पर शेष ९९ प्रकृतियां क्योंकि तीसरे गुणस्थान में मरण न होने से किसी भी आनुपूर्वी का उदय नही होता । ९९ में से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय यहाँ आ मिला इस कारण इस गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर - मिश्र गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों का सत्ता रहती है ।

प्रश्न - अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व सहित और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से व्रत रहित परिणाम को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते है ।

प्रश्न - अविरत गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - मिश्रगुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें मनुषायु, देवायु और तीर्थंकर प्रकृति मिलाने पर ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न - अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - मिश्रगुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है । उनमें व्युच्छित प्रकृति सम्यक्मिथ्यात्व घटाने पर ९९ रही इनमें चार आनुपूर्वी और एक सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों के मिलाने पर चतुर्थ गुणस्थान में इन पाँच प्रकृतियों का उदय होता है । इस प्रकार कुल ९९+५=१०४ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - १४८ प्रकृतियों का सत्व रहता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १४१ का ही सत्व होता है ।

प्रश्न - देशविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से संयम भाव रहित किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उपशम से श्रावक व्रत रूप देशचारित्र सहित परिणाम को देश विरत नामक पंचम गुणस्थान कहते है पंचम आदि ऊपर के समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है इसके बिना पंचम और षष्ठ गुणस्थान नहीं होता ।

प्रश्न - पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थान में जो ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा है उनमें से व्युच्छित्त दस के (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभ नाराच संहनन) घटाने पर शेष ६७ प्रकृतियों का पंचम गुणस्थान में बन्ध होता है ।

प्रश्न - पंचम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थान में १०४ प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से व्युच्छित्त १७ प्रकृतियों के (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ देवगति, देवगत्यानुपूर्वी देवायु नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी, नरकायु वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिकअपोपांग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी दुर्गम, अनादेय अयशकीर्ति) घटाने पर ८७ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर - पंचम गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों का सत्व कहा है उनमें से व्युच्छित्त प्रकृति एक नरकायु के बिना १४७ की रहती है । किन्तु क्षायिक सम्यदृष्टि की अपेक्षा से १४० की ही सत्ता रहती है ।

प्रश्न - प्रमत्त विरत छट्ठे गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - संज्वलन और नौ कषाय के उदय से संयमान तथा मल जनक प्रमाद युक्त परिमाण को प्रमत्त विरत्त गुणस्थान कहते है यद्यपि संज्वलन, नौ कषाय के उदय चारित्र गुण का विरोधी है तथापि वह प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से प्रादुर्भूत सकल संयम के घातने से समर्थ नहीं है इस कारण उपचार से संयम का उत्पादक कहा है इसलिये इस गुणस्थान में मुनि को समस्त विरत अर्थात् चित्रलाचरण कहते है ।

प्रश्न - अप्रमत्त विरत छठे गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - पचम गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने पर शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न - प्रमत्त विरत छठे गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता

है ?

उत्तर - पंचम गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता कही है उनमें से व्युच्छिन्न तिर्यन्चायु एक प्रकृति के घटाने पर १४६ प्रकृतियों की सत्ता छठे गुणस्थान में रहती है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ की सत्ता रहती है ।

प्रश्न - अप्रमत्त विरत सप्तम् गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - संज्वलन और नोकषाय के मन्द उदय से प्रमाद रहित संयम परिणाम को प्रमत्त विरत गुणस्थान कहते है ।

प्रश्न - प्रमत्त गुणस्थान के कितने भेद है ?

उत्तर - दो भेद होते है-स्वस्थान अप्रमत्त विरत और सातिशय अप्रमत्त विरत।

प्रश्न - स्वस्थान अप्रमत्त विरत किसे कहते है ?

उत्तर - हजारों बार छठे से सातवें गुणस्थान में और सातवें से छठे गुणस्थान में आवे जावे रूप परिणाम को स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते है ।

प्रश्न - अतिशय अप्रमत्त विरत किसे कहते है ?

उत्तर - जो श्रेणी चढ़ते के सन्मुख होता है उसे सातिशय अप्रमत्त विरत कहते है ।

प्रश्न - श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन होता है ?

उत्तर - क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि ही श्रेणी चढ़ते है सम्यक्त्व वाला तथा क्षयोपशामिक सम्यक्त्व वाला श्रेणी नही चढ़ सकता है । प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़ कर क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर प्रथम ही अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जायेगा अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जायेगा । उस समय श्रेणी चढ़ने का पात्र होता है ।

प्रश्न - श्रेणी किसे कहते है ?

उत्तर - जहाँ चारित्र मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियों का क्रम से उपशम

या क्षय होता है । उसे श्रेणी कहते है ।

प्रश्न - श्रेणी के कितने भेद है ?

उत्तर - दो भेद है--उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ।

प्रश्न - क्षपक श्रेणी किसे कहते है ?

उत्तर - जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय होता है ।

प्रश्न - इन दोनों श्रेणियों की कौन-कौन से जीव चढ़ते है ?

उत्तर - क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों ही श्रेणियाँ चढ़ता है किन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी ही चढ़ता है । क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता ।

प्रश्न - उपशम श्रेणी के कौन-कौन से गुणस्थान है ?

उत्तर - चार गुणस्थान है--आठवाँ, नवमां, दशवाँ एवं ग्यारवाँ ।

प्रश्न - चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय के लिये आत्मा के कौन से परिणाम निमित्त कारण है ?

उत्तर - तीन है--अध:करण-अपूर्व-करण-अनिवृत्ति करण ।

प्रश्न - अध. करण किसे कहते है ?

उत्तर - जिस कारण में (परिणाम समूह में) उपरितन समय वर्ती तथा अध·तन समय वर्ती जीवों के परिणाम सदृश तथा विदृश होते है उसे अध·करण कहते है । यह अध:करण सातवें गुणस्थान में होता है ।

प्रश्न - अपूर्व करण किसे कहते है ?

उत्तर - जिस कारण में उतरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होते है अर्थात् भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा विसदृश होते है और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के होते है उसे अपूर्व करण कहते है यह आठवें गुणस्थान में होता है ।

प्रश्न - अनिवृत्तिकरण किसे कहते है ?

उत्तर - जिस कारण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते है और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही होते है उसे अनिवृतिकरण कहते है इन तीनों करणों के परिणाम प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता लिये होते है । यह नवमें गुणस्थान में होता है ।

प्रश्न - सप्तम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

उत्तर - छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कहा है उनमें से व्युच्छिन्न छः प्रकृतियों के (अस्थिर, अशुभ, असाता, अयशः-कीर्ति, अरति और शोक) घटाने पर ५७ शेष रही इसमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दो प्रकृतियों के मिलाने पर सप्तम गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न - सप्तम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों की रहती है ?

उत्तर - छठे गुणस्थान में जो ८१ प्रकृतियों का उदय कहा है उनमे से व्युच्छिन्न पांच प्रकृति के (आहारक शरीर, आहारक अंगोपाँग, निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला, और स्त्यानगृद्धि) घटाने पर शेष ७६ प्रकृतियों का उदय सप्तम गुणस्थान में होता है ।

प्रश्न - सप्तम गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की रहती है ?

उत्तर - छठे गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी १४६ की सत्ता रहती है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ प्रकृतियों की ही रहती है ।

प्रश्न - आठवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियो का बन्ध कहा है उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति एक देवायु के घटाने पर ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न - आठवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियो का उदय कहा है उनमे से व्युच्छिन्न चार प्रकृतियों के (सम्यक्त्व प्रकृति, अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका) घटाने पर ७२ प्रकृतियों का अष्टम् गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न - आठवें गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की होती है ?

उत्तर - सातवें गुणस्थान में १४६ प्रकृतियों की सत्ता कही है उनमें से व्युच्छिन्न चार प्रकृतियों के (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) घटाने पर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी वाले के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों घटाने पर शेष १३९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है । क्षपक श्रेणी वाले के सातवें गुणस्थान की व्युच्छिन्नित्त प्रकृति आठ को (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया,

लोभ तथा दर्शन मोहनीय की तीन तथा देवायु के घटाने पर शेष १३८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है ।)

प्रश्न - नवम् गुणस्थान अनिवृत्तिकरण में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - आठवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का बन्ध कहा है उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां ३६ (निद्रा, प्रचला, तीर्थन्कर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति पंचेन्द्रिय जाति:, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर, आहारक अंगो-पांग, समचतुष्क संस्थान, वैक्रियिक अंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरूलघुत्व, उपघात, उच्छवास, त्रस, बादर, पर्याप्त, रति, जुगुप्सा, भय, परघात, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति) के घटाने पर शेष २२ प्रकृतियों का नवम् गुणस्थान में बन्ध होता है ।

प्रश्न - नवम्गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की होती है ?

उत्तर - अष्टम गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी उपशम श्रेणी वाले द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के १४२ क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ और क्षपक श्रेणी वाले के १३८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है ।

प्रश्न - नवम् गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियो का होता है ?

उत्तर - अष्टम गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ छ: (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के घटाने पर शेष ६६ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - दशम गुणस्थान सूक्ष्म साम्पराय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - अत्यन्त सूक्ष्म लोभ कषाय के उदय के को अनुभव करते हुए जीव के परिणामों को सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते है ।

प्रश्न - दशम गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियो का होता है ?

उत्तर - नवम् गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है उनमें से व्युच्छिन्न पांच प्रकृतियों (पुरूषवेद, संज्जवलन, क्रोध, मान, माया, लोभ के) घटाने पर शेष १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न - दशम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - नवम् गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है । उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियों छ के (स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद,

संज्वलन, क्रोध, मान, माया) घटाने पर शेष ६० प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - दशम गुणस्थान मे सत्ता कितनी प्रकृतियो की रहती है ?

उत्तर - उपशम श्रेणी के नवम् गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के १४२ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३८ तथा क्षपक श्रेणी वाले के नवम् गुणस्थान मे १३८ प्रकृतियों की सत्ता है । उनमे से व्युच्छिन्न ३६ प्रकृतियो के (तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्यानावरण की चार, प्रत्याख्यानावरण की चार, संज्वलन क्रोध, मान, माया, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी) घटाने पर शेष १०२ प्रकृतियों की सत्ता दसवें गुणस्थान में रहती है ।

प्रश्न - ग्यारहवें गुणस्थान उपशान्त मोह का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों उपशम से यथाख्यात चारित्र सहित परिणाम को उपशान्त मोह गुणस्थान कहते हैं ।

इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर मोहनीय कार्य के उदय से जीव निचले गुणस्थानों में आ जाता है ।

प्रश्न - ग्यारहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियो का होता है ?

उत्तर - दसवें गुणस्थान मे १७ प्रकृतियों का बन्ध होता था उनमें से व्युच्छिन्न १६ प्रकृतियों के (ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ४, अन्तराय की ५, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र,) घटाने पर शेष एक सातावेदनीय का बन्ध होता है ।

प्रश्न - ग्यारहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - दसवें गुणस्थान मे ६० प्रकृतियों का उदय रहता है उसमे से व्युच्छिन्न प्रकृति एक संज्वलन लोभ के घटाने पर शेष ५९ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - ग्यारहवें गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - दसवें गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के १४२ प्रकृतियों का और क्षपक सम्यग्दृष्टि के १३९ की सत्ता रहती है ।

प्रश्न - क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान का क्या स्वरूप है और किसको होता है ?

उत्तर - मोहनीय कर्म के क्षय होने से स्फार्टक भावना गत जल की तरह अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्र के धारक मुनि के क्षीण मोह गुणस्थान होता है ।

प्रश्न - बारहवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर - एक सातावेदनीय मात्र का बन्ध होता है ।

प्रश्न - बारहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - ग्यारहवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का उदय होता है । उनमें से वज्रनाराच और नाराच इन दो व्युच्छिन्नि प्रकृतियों को घटाने पर शेष ५७ प्रकृतियों का उदय होता है ।

प्रश्न - बारहवें गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की रहती है ?

उत्तर - दसवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा १०२ प्रकृतियों की सत्ता है उनमें से व्युच्छित्ति प्रकृति संज्जवलन लोभ को घटा देने पर शेष १०१ प्रकृतियों का सत्य रहता है ।

प्रश्न - संयोग केवली तेरहवें गुणस्थान का क्या स्वरूप है और वह किसको होता है ?

उत्तर - घातिया कर्मों की ४७ और अघातिया कर्मों की १६ (नरक गति, तिर्यग्गति २, तदानुपूर्वी २, विकलजय ३, आयुस्त्रिक ३, उद्योत, आतप, ऐकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर को मिलाकर ६३, प्रकृतियों का क्षय होने से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान और मनोयोग, वचन योग तथा काययोग के धारक अरहंत भगवान के संयोग केवली नाम तेरहवां गुणस्थान होता है । यही केवली भगवान अपनी दिव्य ध्वनि से भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्ष मार्ग का प्रकाश करते है ।

प्रश्न - तेरहवें गुणस्थान में बंध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - एक मात्र साता वेदनीय का बन्ध होता है ।

प्रश्न - तेरहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - बारहवें गुणस्थान मे ५७ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति १६ के (ज्ञानावरण की ५, अंतराय की ५, दर्शनावरण की ४, निद्रा और प्रचला घटाने पर शेष ४१ प्रकृतियों का उदय होता है ।)

प्रश्न - तेरहवें गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की है ?

उत्तर - बारहवें गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों की सत्ता है, उनमें से व्युच्छिन्न १६ प्रकृतियों के (ज्ञानावरणी की ५, अन्तराय की ५, दर्शना वरण की ४, निद्रा और प्रचला) घटाने पर शेष ८५ प्रकृतियों की सत्ता है।

प्रश्न - अयोग केवली १४ वें गुणस्थान का क्या स्वरूप है और यह किसको होता है ?

उत्तर - मन, वचन, काय के योगों से रहित केवल ज्ञान सहित अरहन्त भगवान के चौदहवाँ गुणस्थान होता है इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने के बराबर है। अपने गुणस्थान के काल के द्विचरम समय में सत्ता की ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का और चरम समय में १३ प्रकृतियों का नाश करके अरहन्त भगवान् मोक्ष धाम को (सिद्ध शिला को) पधारते हैं।

प्रश्न - चौदहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान में जो एक साता वेदनीय का बन्ध होता था उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छिन्ति होने से यहाँ किसी का भी बन्ध नहीं होता।

प्रश्न - चौदहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान में ४२ का उदय होता है उनमें से व्युच्छित्ति प्रकृति ३० के (वेदनीय-वज्रऋषभनाराच संहनन-निर्माण-स्थिर अस्थिर-शुभ-अशुभ सुस्वर - दुःस्वर - प्रशस्त विहायोगति - अप्रशस्त विहायोगति - औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग - तैजस शरीर - कर्माण शरीर - समचतुरस्रसंस्थान - न्यग्रोध - स्वाति - कुब्जक - वामन - हुंडक - स्पर्श - रस - गंध - वर्ण - अगुरुलघुत्व - उपघात - परघात - उच्छ्वास - प्रत्येक) घटाने पर शेष १२ प्रकृतियों का (वेदनीय, मनुष्य गति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय, जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति, उच्चगोत्र उदय होता है।

प्रश्न - चौदहवें गुणस्थान में सत्ता कितनी प्रकृतियों की रहती है ?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। परन्तु द्विचरम समय में ७२ और अंतिम समय में १३ प्रकृतियों की सत्ता नष्ट करके अरहंत भगवान मोक्ष को पधारते हैं।

गुणस्थानों में संवर का वर्णन

प्रश्न - सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - सासादन नाम दूसरे गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का (मिथ्यात्व, नपुंसक, वेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रियजाति, त्रिन्द्रिय जाति, चतुन्द्रिय जाति, हुंडक संस्थान, असंप्राप्त पाटिका संहनन, नरक गत्यानुपूर्वी, आताप, साधारण, सूक्ष्म, अपर्याप्त, स्थावर) संवर होता है ।

प्रश्न - सासादन नामक गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - इन १६ प्रकृतियों के आस्रव, बन्ध का कारण मिथ्यात्व भाव है । सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व भाव नहीं है अतएव अशुभभाव योग की मन्दता होने से इन प्रकृतियों का संवर होता है ।

प्रश्न - मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - तीसरे गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर होता है इनमें से १६ प्रकृतियों का संवर पूर्व हो चुका है बाकी २५ प्रकृतियों का (निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यगायु, तिर्यग्गति, न्यग्रोध, परिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, वामन, संस्थान, कब्जकसंस्थान, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्द्धनाराच संहनन, कीलक संहनन, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, भर्ग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गौत्र) संवर होता है ।

प्रश्न - इन २५ प्रकृतियों का मिश्रगुणस्थान में क्यों संवर होता है ?

उत्तर - २५ प्रकृतियों के बन्ध का कारण अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है । इस तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व नहीं है अतः इन प्रकृतियों के आस्रव का कारण न होने से संवर होता है ।

प्रश्न - अनंतानुबन्धी कषाय यहाँ क्यों नहीं होती ?

उत्तर - सम्यगमिथ्यात्व परिणाम के होने पर अशुभोपयोग की अत्यन्त मंदता होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं हो सकती ।

प्रश्न - अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थान में भी ४१ प्रकृतियों का संवर होता है । इस संवर का कारण सम्यक्त्व परिणाम है इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय ४, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण अशुभोपयोग का अभाव हो जाता है । और शुद्धोपयोग साधक शुभोपयोग प्रकट हो जाता है ।

प्रश्न - देशविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ।

उत्तर - देशविरत गुणस्थान में ५१ प्रकृतियों का संवर होता है । ४१ प्रकृतियों का पूर्व संवर हो चुका है । १० प्रकृतियां निम्न प्रकार है - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभ नाराच संहनन, और मनुष्यगत्यानुपूर्वी ।

प्रश्न - देशविरत में इन १० प्रकृतियों का संवर क्यों हो जाता है ?

उत्तर - देश संयम (संयासंयम) का भाव होने पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय नहीं रहती । देशविरत परिणाम सम्यक्त्व होने पर है । मनुष्य, तिर्यंच के होता है सो इनके सम्यक्त्व होने के कारण देवायु बन्धती है अत: देशविरत देवगति के सिवाय अन्य गति में नहीं जाता है अत: मनुष्यायु से सम्बन्ध रखने वाली ६ प्रकृतियों का भी संवर हो जाता है ।

प्रश्न - चतुर्थ गुणस्थान तो देव व नारकियों के भी होता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मरण कर देव गति में नहीं जा सकते है । ऐसा प्राकृतिक नियम है वे मनुष्य गति मे ही उत्पन्न होते है अत: चतुर्थ गुणस्थान में इन छ: प्रकृतियों का संवर नहीं रहा । विशेष अपेक्षा से तो चतुर्थ गुणस्थान के मनुष्य तिर्यंचों के आयु न बंधी हो तो सम्यक्त्व के कारण उनके भी देवायु बंधती है और इस तरह उस चतुर्थगुणस्थानवर्ती मनुष्य तिर्यंच के इन ६ प्रकृतियों का संवर होता है ।

प्रश्न - प्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - प्रमत्त विरत गुणस्थान में ५५ प्रकृतियों का संवर होता है । इनमे ५१ का पूर्व संवर हो चुका है शेष ४ प्रकृतियां निम्न है --

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ।

प्रश्न - प्रमत्त विरत में इन ४ प्रकृतियों का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - प्रमत्त विरत गुणस्थान में सकल संयम प्रकट है सकल संयम का परिणाम प्रकट होने पर सकल संयम के प्रतिपक्षी इन ४ प्रकृतियों का आस्रव नही हो सकता ।

प्रश्न - अप्रमत्त गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - अप्रमत्त विरत गुणस्थान में ६१ प्रकृतियों का संवर होता है । इनमें ५५ प्रकृतियों का पूर्व संवर हो चुका है और ६ प्रकृतियां निम्न है--असाता वेदनीय, अरति मोहनीय, शोक वेदनीय, अशुभ नाम कर्म, अस्थिर नामकर्म और अयश नामकर्म ।

प्रश्न - अप्रमत्त विरत में इन ६ प्रकृतियों का संवर क्यों हो जाता है ?

उत्तर - अप्रमत्त विरत में संज्वलन कषाय का उदय मन्द हो जाने से *प्रभाव नहीं रहा । अप्रमत्त विरत अवस्था में इन ६ प्रकृतियों का* आश्रव नहीं हो सकता ।

प्रश्न - अपूर्व करण में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - अपूर्व करण में ६२ प्रकृतियों का संवर होता है । इनमें से ६१ प्रकृतियों का पूर्व संवर हो चुका है । बाकी १ प्रकृति देवायु है ।

प्रश्न - आठवे गुणस्थान में देवायु का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - श्रेणी के परिणाम इतने निर्मल होते है कि उनके कारण श्रेणियों में किसी भी आयु का आस्रव नहीं होता । अन्य आयु कर्मो का संवर पहले, दूसरे तथा पाँचवें गुणस्थान में बता दिया था शेष देवायु का यहाँ संवर हो जाता है ।

प्रश्न - अनिवृत्ति करण में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - अनिवृत्ति करण गुणस्थान में ९८ प्रकृतियों का संवर होता है । इनमें से ६२ प्रकृतियों का संवर पूर्व हो चुका है और ३६ प्रकृतियाँ निम्न है- निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, देवगति, पंचन्द्रिय जाति, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारकांगोपांग, औदारिक शरीर, औदारिकांगोपांग, निर्माण, समचतुरस्रसंस्थान, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नामकर्म, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, बादर, पर्याप्ति,

शुभ, सुभग, सुस्वर, स्थिर, आदेय नामकर्म, तीर्थन्कर नाम कर्म ।

प्रश्न - नवमे गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - उपशमक अथवा क्षयक अनिवृत्तिकरण परिणामों की विशेषता के कारण उक्त प्रकृतियों का संवर है । अपूर्वकरण परिणामों में भी उत्तरोत्तर विशेषता थी, जिसके कारण अपूर्वकरण गुणस्थान में ही कुछ समय पश्चात ३० प्रकृतियों का संवर हो गया था ।

प्रश्न - सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - दसवें गुणस्थान में १०३ प्रकृतियों का संवर होता है । इनमें से ९८ प्रकृतियों का संवर पूर्व हो चुका है । बाकी ५ प्रकृतियाँ निम्न है -- संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरूषवेद ।

प्रश्न - दसवें गुणस्थान में ५ प्रकृतियों का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त सब कषायों के अभाव से मोहनीय कर्म की अवशिष्ट इन ५ प्रकृतियों का संवर होता है । अनिवृत्तिकरण परिणामों की विशेषता से भी उक्त ५ प्रकृतियों से अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में पुरुषवेद तीसरे भाग में से संज्वलन क्रोध, चौथे भाग में संज्वलन मान पाँचवें भाग में संज्वलन माया नाम मोहनीय कर्म का संवर हो गया था ।

प्रश्न - उपशान्त मोह में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - ग्यारहवें गुणस्थान में ११९ प्रकृतियों का संवर होता है इनमें १०३ प्रकृतियों का पूर्व संवर हो चुका है । शेष १६ प्रकृतियां निम्न हैं -- मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, यशकीर्ति नाम कर्म, उच्च गौत्र कर्म, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय ।

प्रश्न - उपशान्त मोह में १६ प्रकृतियों का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - समस्त मोह के अभाव से होने वाली वीतरागता के कारण केवल सातावेदनीय को छोड़कर सर्व प्रकृतियों का संवर हो जाता है ।

प्रश्न - यहाँ साता वेदनीय का संवर क्यों नहीं होता है ?

उत्तर - यद्यपि वीतरागता हो गई है किन्तु योग का सद्भाव है कारण -

पने से योगों के सद्भाव से सातावेदनी का ईर्यापथा आस्रव होता है ।

प्रश्न - उपशान्त मोह में सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव क्यों होता है ?

उत्तर - साम्परायिक आस्रव कषाय होने पर ही होता है । योग से आस्रव होता है किन्तु आकर खिर जाता है । कषाय न होने से स्थिति बन्ध नही होता अतः उपशान्त मोह में केवल सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव है ।

प्रश्न - क्षीण मोह में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - क्षीण मोह गुणस्थान में भी ११९ प्रकृतियों का संवर होता है ।

प्रश्न - संयोग केवली के कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - संयोग केवली गुणस्थान में १२० प्रकृतियों का संवर होता है इनमें से ११९ का पूर्व संवर हो चुका है और एक सातावेदनीय का भी संवर होता है ।

प्रश्न - यहाँ सातावेदनीय का संवर क्यों होता है ?

उत्तर - योग का अभाव रहने से यहां अवशिष्ट सातावेदनीय का संवर होता है ।

प्रश्न - शेष २८ प्रकृतियों का संवर कब होता है ?

उत्तर - शेष २८ प्रकृतियां दर्शन मोहनीय की है (१) सम्यग्मिथ्यात्व (२) सम्यकप्रकृति, ५ बन्धन नाम कर्म, ५ संघात नाम कर्म और १६ स्पर्शादि सम्बन्धी है । इनमें से सम्यक्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति का तो आस्रव ही नहीं होता, इसलिये उनके संवर का वहां प्रश्न ही नही होता । ५ बन्धन ५ संघात नाम कर्मो का शरीर में अन्तर्भाव किया है सो जहां शरीर नाम कर्मो का संवर नही होता है उसी नाम वाले बन्धन व संघात कर्मो का संवर होता है ।

स्पर्शादि नामकर्म २० है उन्हें मूल नाम से ४ मानकर ४ का संवर बताया इस तरह १६ नम्बर कम रहते थे सो जहां नवमे गुणस्थान में इन ४ का संवर बताया सो २० का ही संवर समझना ।

प्रश्न - अतीत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है ?

उत्तर - अतीत गुणस्थान में सिद्ध भगवान के समस्त कर्म प्रकृतियों का सदा के लिये संवर हो जाता है क्योंकि अत्यन्त निर्मल द्रव्यकर्म,

भाव कर्म से मुक्त सर्वथा शुद्ध वहां शुद्धोपयोग वर्तता रहता है ।

गुणस्थान क्रम से आत्मा के क्रमिक विकास को देखते हुए यह भली भांति समझ में आ जाता है कि ज्यों-ज्यों आत्मा विशुद्धि के मार्ग पर अग्रसर होता है त्यों-त्यों ही उसमें से मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार अपने आप मन्द या क्षीण होते चले आते है यहाँ तक कि एक समय वह आ जाता है जब वह समस्त विकारों से रहित हो जाता है ।}

आत्मा का मोह और मिथ्यात्व सबसे अधिक अहित करने वाला है इसके वश में होकर ही यह जीव अनादि काल से आत्म स्वरूप को भूला हुआ संसार में भटक रहा है जब इस को उपदेशादिक का निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है 'पर' क्या है हित क्या है और अहित क्या है । इसका बोध करके आत्म कल्याण की ओर इसकी प्रवृत्ति होने लगती है परिणामों में इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि वह केवल अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिये दूसरे के न्याय प्राप्त अधिकारों को छीनने से ग्लानि करने लगता है उसके पहले बांधे हुए कर्म हल्के होने लगते है तथा नवीन कर्मो की स्थिति भी कम पड़ने लगती है । सांसारिक कर्मों को करते हुए भी उनमे स्वभावत· अरूचि होने लगती है तब कहीं समझना चाहिए कि ये जीव सम्यग्दर्शन के सन्मुख हो रहा है फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये है वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समर्थ कारण नहीं है इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोह का उपशम करने में स्मर्थ ऐसे अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम होते है तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है इनके बिना नहीं । इन परिणामो में ही मिथ्यात्व नष्ट करने की सामर्थ्य है इस तरह जब यह जीव अध:करण परिणामो को उल्लंघन करके अपूर्वकरण परिणामों का प्राप्त होता है तब यह जिनत्व की पहली सीढ़ी पर है ऐसा समझना चाहिए कि यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है इनके बिना नहीं । जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है उसे ''जिन'' कहते है । इस व्याख्यान के अनुसार जिनत्व का प्रारम्भ होता है इसके आगे जैसे-जैसे कर्म शत्रुओं का अभाव होता जाता है वैसे ही जिनत्व धर्म का प्रादुर्भाव होता जाता है और बारहवें गुणस्थान के अन्त में जब यह समस्त घातिया कर्मो को नष्ट कर चुकता है तब पूर्ण रूप से 'जिन' संज्ञा को प्राप्त होता है । सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मो से रहित है इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी कर्म शत्रुओं के जीतने से साक्षात 'जिन' है ऐसा समझना चाहिये ।

कर्मों की १४८ प्रकृतियों का वर्णन

जो आत्मा के गुण को एक देश घाते उसे देश घाती कहते है। प्रकृतियां (ज्ञानावरनीय ४-) मतिज्ञान श्रुतज्ञान - अवधिज्ञान मनः पर्यय - (दर्शनावरनीय ३) चक्षुदर्शन - अचक्षु दर्शन - अवधिदर्शन (मोहनीय १४) संज्वलन क्रोध - मान - माया - लोभ (९कषाय) हास्य - रति - अरति - शोक - भय - जुगुप्सा - स्त्रीवेद - पुरूषवेद - नपुंसकवेद और सम्यक्त्व प्रकृति - (अंतराय ४) लाभांतराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय-दानान्तराय-वीर्यान्तराय-कुल २६ प्रकृतियां है।

२१ सर्वघाती प्रकृतियाँ

जो आत्मा के गुण को संवदेश घाते वे सर्वघाती प्रकृतियाँ है। (ज्ञानावरणी) केवल ज्ञानावरणी, (दर्शनावरणी) केवलदर्शन, निद्रा-निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि (मोहनीय १४) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान ४, अप्रत्याख्यान ४, मिथ्यात्व १, सम्यक्त्व मिथ्यात्व १ ये २१ प्रकृतियां है।

१६ प्रकृतियां (मिथ्यात्व गुणस्थान बन्ध)

मिथ्यात्व, हुँडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्त, सृपटिका संहनन, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, विकलत्रय तीन, नरक गत्यानुपूर्वी, और नरकायु ये १६ प्रकृतियाँ अरहन्त रूप नहीं रहती। अर्थात् - इनका बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है इसी प्रकार क्रम से गुणस्थानों की परिपाटी के अनुसार जैसे - ज्ञान और चारित्र की वृद्धि होती जाती है। वैसे ही इन सबका अभाव होता जाता है।

सयोगी केवली के ६३ प्रकृतियों का अभाव है --

आठ कर्मो मे से (चार घातिया कर्म) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय का अत्यन्त नाश हो जाता है। कर्म की १४८ प्रकृतियाँ है जिनमें ६३ प्रकृतियों का भगवान की आत्मा के प्रदेश से अभाव हो गया है।

प्रकृतियां इस प्रकार है--

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २८, अन्तराय ५=कुल ४७ (आयु की तीन) देवायु, तिर्यन्चायु, नरकायु=३+४७=५० प्रकृतियां।

नाम कर्म की १३ प्रकृतियां

१-नरकगति, २-तिर्यन्च, ३-नरक गत्यानुपूर्वी, ४-तिर्यन्च गत्यानुपूर्वी, ५-एकेन्द्रिय, ६-द्विन्द्रिय जाति, ७-त्रीन्द्रय जाति, ८-चतुरेन्द्रिय जाति, ९-उद्योत, १०-आतप, ११-साधारण, १२-सूक्ष्म, १३-स्थावर और इन सबको मिलाकर ६३ प्रकृतियों का नाश किया है। तो भी भगवान की आत्मा के साथ एक क्षेत्र में ८५ प्रकृतियों का सम्बन्ध है।

केवली -- जो स्वाभाविक योगों को धारण किये हुये है तो भी योगों से विरक्त है जिन्हें मात्र ८५ प्रकृतियां जली हुई रस्सी के समान लगी हुई है।

केवली के सत्ता में ८५ प्रकृतियाँ

(१) आसातावेदनीय (२) देवगति (३) (पाँच शरीर) औदारिक (४) वैक्रियक (५) आहारक (६) तैजस (७) कार्माण (८) (पाँच बन्धन) औदारिक (९) वैक्रियक (१०) आहारक (११) तैजस (१२) कार्माण (पाँच संघात) (१३) औदारिक (१४) वैक्रियक (१५) आहारक (१६) तैजस (१७) कार्माण (छः संस्थान) समचतुरस संस्थान (१९) न्याग्रोध परिमंडल (२०) स्वातिक (२१) वामन (२२) कुब्जक (२३) हुंडक (तीन अंगोपांग) (२४) औदारिक (२५) वैक्रियक (२६) आहारक छः संहनन (२७) वज्रनाराच (२८) वृषभनाराच (२९) नाराच (३०) अर्द्धनाराच (३१) कीलक (३२) स्पटिक (पाँच वर्ण) (३३) काला (३४) नीला (३५) पीला (३६) सफेद (३७) लाल (दो गन्ध) (३८) सुगन्ध (३९) दुर्गन्ध, पाँच रस ८ स्पर्श : (४०) तिक्त (४१) कसायला (४२) कड़वा (४३) मीठा (४४) खट्टा (४५) कोमल (४६) कठोर (४७) शीत (४८) उष्ण (४९) हल्का (५०) भारी (५१) स्निग्ध (५२) रूक्ष (५३) देवगति, प्रायोग्यानुपूर्वी (५४) अगुरुलघु, (५५) उपघात (५६) परघात (५७) उच्छ्वास (५८) प्रशस्त विहायोगति (५९) अप्रशस्त विहायोगति (६०) अपर्याप्ति (६१) प्रत्येक शरीर (६२) स्थिर, (६३) स्थिर (६४) शुभ (६५) अशुभ (६६) दुर्भग (६७) सुस्वर (६८) दुःस्वर (६९) अनादेय (७०) मनुष्यगति (७१) अपयशकीर्ति (७२)

निर्माण (७३) नीच गोत्र (७४) साता वेदनीय (७५) मनुष्यायु (७६) पंचेन्द्रिय जाति (७७) मनुष्य गत्यानुपूर्व (७८) त्रस (७९) बादर (८०) पर्याप्तक (८१) सुभग (८२) आदेय (८३) तीर्थंकर (८४) देवगति (८५) उच्चगौत्र ।

अर्थ :-- भगवान् अरहंत देव के जो बाकी के अघातिया कर्म लगे हुए है वे भी बेड़ियों के समान अत्यन्त कठिन है ऐसे वेदनीय नाम गौत्र आयु कर्म की मूल ४ एवं ८५ उत्तर प्रकृतियों को विदीर्ण करते हुए सर्वथा नाश करते हुए वे भगवान अनन्त स्वभाव को धारण करने वाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणों से शोभायमान होते है ।

भावार्थ -- समस्त कर्मो के नाश होने पर सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्रगट होते है । तथा उनके साथ आत्मा के अन्य अनन्त गुण प्रगट हो जाते है । तथा जिस समय कर्मो का नाश होता है उसी समय में वे भगवान लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान होते है ।

४९-पंच परमेष्ठी के १४३ गुण

अरहन्त के ४६ गुण, सिद्धों के ८ गुण, आचार्य के ३६ गुण, उपाध्याय के २५ गुण सर्व साधु के २८ गुण कुल मिलाकर १४३ गुण होते है ।

(अरहंत के गुण)

३४ अतिशय, ८ प्रतिहार्य, ४ अनन्त चतुष्टय । इस प्रकार अरहन्त के ४६ गुण होते है ।

(जन्म के १० अतिशय)

(१) शरीर पसीने से रहित होना (२) मल मूत्र रहित (३) खून दूध के समान (४) वज्र वृषभ नाराच संहनन (५) समचतुर संस्थान (६) बहुत सुन्दर (७) १०८ लक्षण (८) सुगन्धित शरीर (९) अनन्त बल (१०) मिष्ट वचन ।

(ज्ञान के १० अतिशय)

(१) सौयोजन सुभिक्ष (२) उपसर्ग रहित (३) आकाश में गमन (४) समवशरण में (५) आहार रहित (६) चर्तुमुख दर्शन (७) समस्त विद्या के

स्वामी (८) छाया रहित (९) नेत्र की पलक न लगना (१०) बाल व नाखून न बढ़ना।

(देव कृत्य १४ अतिशय)

(१) सब-अर्ध में मागधी भाषा (२) सर्व जीवों पर एक भाव (३) सभी ऋतुओं के फल फूल (४) शीशे के समान पृथ्वी (५) सुगन्धित वायु (६) सर्व जीव आनन्द मय (७) एक योजन तक भूमि शुद्धि (८) गंधोदक वृष्टि (९) चरण के नीचे कमल (१०) आकाश निर्मल (११) जय जय शब्द की ध्वनि (१२) धर्म चक्र के सन्मुख चलना (१३) वायुकुमार द्वारा पंखा करना (१४) अष्ट द्रव्य को आगे चलना।

(अष्ट प्रतिहार्य)

(१) अशोक वृक्ष (२) सुर पुष्प वृष्टि (३) दिव्यध्वनि (४) चमर (५) दुन्दुभिबाजा (६) भामंडल (७) सिंहासन (८) छत्र तीन।

(अनन्त चतुष्टय)

(१) अनन्त दर्शन (२) अनन्त ज्ञान (३) अनन्त सुख (४) अनन्त वीर्य इस प्रकार अरहन्त के ४६ गुण है।

(१८ दोष रहित अरिहन्त देव)

(१) क्षुधा, २-तृष्णा, ३-भय, ४-दोष, ५-राग, ६-मोह, ७-चिन्ता, ८-जरा, ९-मृत्यु, १०-खेद, ११-स्वेद, १२-मद, १३-रति, १४-विस्मय, १५-जन्म, १६-निद्रा, १७-रोग, १८-शोक।

(सिद्धों के आठ गुण)

१-सम्मत गुण, २-णाण, ३-दंसण, ४-वीर्य, ५-सुहमत, ६-अवगाहण, ७-अगुरुलघु, ८-अव्याबाधत्व।

(आचार्य के ३६ गुण)

१२ बहिरंग तप+६आवश्यक+५ पंचाचार+१० धर्म+३गुप्ति=३६ गुण।

(१२ बहिरंग तप)

१-अनशन, २-ऊनोदर, ३-व्रतपरिसंख्यात, ४-रस परित्याग, ५-भूमि शयन, ६-कायक्लेश, ७-प्रायश्चित, ८-विनय, ९-वैयावृत, १०-स्वाध्याय, ११-कायोत्सर्ग, १२-ध्यान ।

(छः आवश्यक)

१-सामायिक, २-स्तवन, ३-वन्दना, ४-प्रतिक्रमण, ५-कायोत्सर्ग, ६-स्वाध्याय ।

(पाँच पंचाचार)

१-दर्शनाचार, २-ज्ञानाचार, ३-चारित्राचार, ४-तपाचार, ५-वीर्याचार ।

(दस धर्म)

१-उत्तम क्षमा, २-मार्दव, ३-आर्जव, ४-शौच, ५-सत्य, ६-संयम, ७-तप, ८-त्याग, ९-आकिंचन, १०-ब्रह्मचर्य ।

(तीन गुप्ति)

२-मनोगुप्ति, २-वचन गुप्ति, ३-काय गुप्ति । इस प्रकार आचार्य के ३६ गुण है ।

(उपाध्याय के २५ गुण)

११ अंग + १४ पूर्व = २५ गुण है ।

११ अंग

१-आचारांग, -सूत्रांग, ३-स्थानांग, ४-समवायांग, ५-व्याख्या प्रज्ञप्ति ६-ज्ञातृकथा, ७-उपासकाध्यानांग, ८-अंतकृतांग, ९-अनुत्तरांग, १०-प्रश्न व्याकरण, ११-विपाक सूत्रांग ।

(१४ पूर्व)

१-उत्पाद पूर्व, २-आग्रायणी, ३-वीर्यानुवाद, ४-अस्ति नास्ति, ५-ज्ञान

प्रवाद, ६-सत्यप्रवाद, ७-आत्म प्रवाद, ८-कर्म प्रवाद, ९-क्रिया विशाल, १०-विद्यानुवाद, ११-कल्याणवाद, १२-प्राणानुवाद, १३-क्रिया विशाल, १४-लोक बिन्दु । इस प्रकार २५ गुण जानने चाहिये ।

(सर्व साधु के २८ गुण)

१-पाँच महाव्रत, २-अहिंसा महाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रह त्याग महाव्रत ।

पाँच समिति - ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, व्युत्सर्ग समिति ।

पाँच इच्छा निरोध - स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इनके विषयों का त्याग करना पाँच इच्छा निरोध है ।

छः आवश्यक - सामायिक, स्तवन, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग

शेष सात गुण - केश-लोच, नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन, दंत न धोना, खड्गासन, एक समय भोजन, इस प्रकार २८ गुण सर्व साधुओं मे पाये जाते है ।

(आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ)

पाँच ज्ञानावरण - मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवल ज्ञान ।

नौ दर्शनावरण - चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु, दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला, स्त्यान गृद्धि

दो वेदनीय - साता वेदनीय, असाता वेदनीय ।

२८ मोहनीय - मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति (दर्शनमोहनीय) (चारित्र मोहनीय) १६ कषाय + नौकषाय इस प्रकार दर्शन मोहनीय ३ + २५ चारित्र मोहनीय = २८ मोहनीय ।

चार आयु कर्म - नरकायु, तिर्यंगायु, देवायु, मनुष्यायु ।

दो गोत्र - उच्च गोत्र, नीच गोत्र ।

पाँच अन्तराय - दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यान्तराय ।

१३ नामकर्म - इस प्रकार कर्म की १४८ प्रकृतियाँ है ।

समस्त - जीव स्थानों को घटित करने के लिये कुछ ज्ञातव्य बातें

१- एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुईद्रिय, नारकी तथा अन्य प्रकार के लब्ध्य पर्याप्तक ये सब जीव नपुंसक ही होते है ।

२- एक इंद्रिय, द्वीइंद्रिय, त्रिइंद्रिय, चतुईंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा नारकी जीव इन सब जीवों को अशुभ (कृष्ण, नील, कापोत) लेश्यायें ही होती है ।

३ - औदयिक शरीर मनुष्य और तिर्यचों के होता है । वैक्रियिक शरीर देव और नारकियों के ही होता है ।

४ - तिर्यंच गति में क्षायिक - सम्यग्दृष्टि जीव भोग भूमि तिर्यच में ही उत्पन्न होता है । और वहाँ भी वे तिर्यच क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है जिन्होनें पहले मनुष्य - पन में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया है उससे पहले तिर्यच आयु का बन्ध कर लिया हो वह भोग भूमि में उत्पन्न होता है । कर्म भूमि का तिर्यच नही होता ।

५ - जो मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करने से पहले नरक आयु का बन्ध करले वह क्षायिक सम्यक्त्व सहित पहले नरक में उत्पन्न होता है ।

६ - देवगति में नपुंसक वेद नही होता ।

७ - देव गति में पर्याप्त के शुभ लेश्या होती है । और अपर्याप्त के अशुभ लेश्या होती है । किन्तु छोटे देवों में (भवन वासी व्यन्तर और ज्योतिषी अपर्याप्त के ३ अशुभ लेश्या भी हो सकती है । इस कारण देव गति के सामान्य आलाप में लेश्यायें कही गयी है ।

८ - देव गति मे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता क्षायिक सम्यक्त्व दृष्टि मनुष्य मरकर देव बनता है तो वह भी वहाँ क्षायिक सम्यकदृष्टि है ।

९ - एकेन्द्रिय पर्याप्त प्रथम गुणस्थान होता है । कोई पंचेन्द्रिय जीव दूसरे गुणस्थान में मरकर एकेन्द्रिय हो तो उसके अपर्याप्त अवस्था में दूसरा गुणस्थान रह सकता है इस कारण एकेन्द्रिय के सामान्य आलाप में दो गुण स्थान बताये है ।

१० - कुअवधि ज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय के ही हो सकता है ।

११ - सासादन गुणस्थान में मरकर जीव नरक गति में, सूक्ष्म एकेन्द्रिय में, अग्नि काय में और वायु काय में उत्पन्न नहीं होता ।

१२ - तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता इस कारण इसमें मिश्र काय योग व कार्माण नहीं होता इसी कारण इस मिश्र गुणस्थान में अपर्याप्त अवस्था भी नहीं होती ।

१३ - क्षयोपशमी सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी पर नहीं चढ़ता है श्रेणी पर चढ़ने के लिये उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करना होगा या क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करना होगा ।

१४ - क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी व क्षायिक श्रेणी दोनों में किसी पर चढ़ सकता है । किन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव केवल उपशम श्रेणी पर ही चढ़ सकता है ।

✤ ✤ ✤
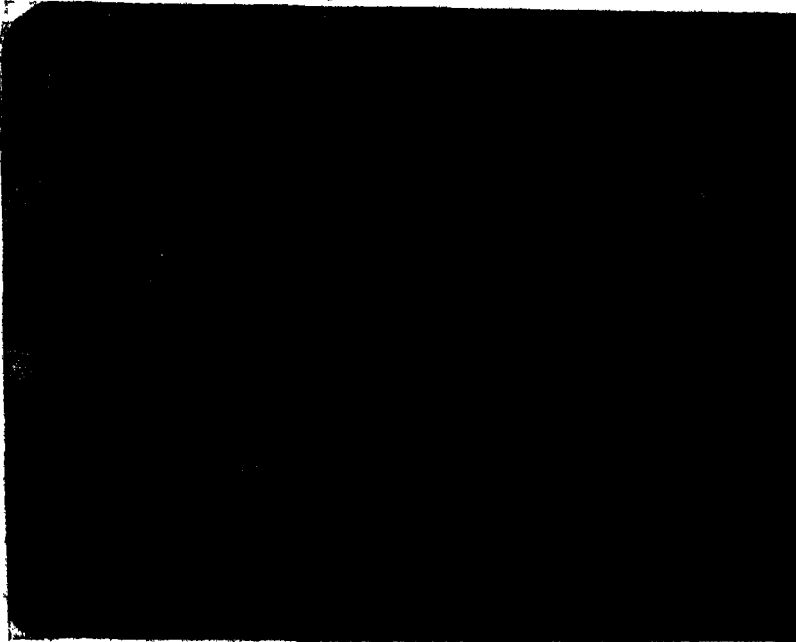
श्री पार्श्वनाथाय नमः

द्वितीय खण्ड

उपदेश संग्रह

(१)

गुणस्थान

मोह तथा योग निमित्त से होने वाले आत्मा के और चारित्र गुणो की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते है। गुणस्थान १४ होते है-
(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्रसम्यक्त्व, (४) अविरत सम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्त विरत (७) अप्रमत्त विरत (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग केवली (१४) अयोग केवली।

मिथ्यात्व:- मोक्ष मार्ग के प्रयोजन भूत जीवादि सात तत्वों में यथार्थ श्रद्धान न होने को मिथ्यात्व कहते है। मिथ्यात्व में जीव देह को आत्मा मानता है तथा अन्य भी पर पदार्थों को अपना मानता है। कषाय परिणामों से भिन्न ज्ञान प्राप्त आत्मा का अनुभव नही कर सकता है।

२- *सासादन सम्यक्त्व* - उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाने पर मिथ्यात्व का उदय न आ पाने तक अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से जो अयथार्थ भाव रहता है। उसे सासादन सम्यक्त्व कहते है।

३- *सम्यग्मिथ्यात्व* - जहां ऐसा परिणाम हो जो न केवल सम्यक्त्व रुप हो और न केवल मिथ्यात्व रूप हो किन्तु मिला हुआ हो उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते है।

४- *अविरत सम्यक्त्व*- जहां सम्यग्दर्शन तो प्रगट हो गया हो किन्तु किसी भी प्रकार का व्रत-संयम न हुआ हो उसे अविरत सम्यक्त्व कहते है। इस गुण स्थान में उपशम सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये तीनों सम्यक्त्व हो सकते है ।

५- *देशविरत* - जहाँ सम्यग्दर्शन भी प्रगट हो गया हो और

संयमासंयम भी हो गया हो उसे देशविरत कहते है ।

६- *प्रमत्त विरत* - जहां महाव्रत का भी धारण हो चुका हो किन्तु संज्वलन कषाय का उदय मंद न होने से प्रमाद हो वह प्रमत्त विरत है ।

७- *अप्रमत्त विरत* - जहाँ संज्वलन कषाय का उदय मंद होने से प्रमाद नहीं रहा उसे अप्रमत्त विरत कहते है । इसके दो भेद है (१) स्वस्थानअप्रमत्त, (२) सातिशयअप्रमत्त विरत ।

स्वस्थान अप्रमत्त विरत वे कहलाते है जो श्रेणी में नहीं चढ़ सकेंगे तथा सातिशय अप्रमत्त विरत वे कहलाते है जो श्रेणी में अष्टम गुण स्थान में चढ़ जायेंगे किन्तु अभी सातवें गुण स्थान में है। स्वस्थान अप्रमत्त विरत मुनि छट्ठे गुणस्थान मे पहुंचते है और इस प्रकार छट्ठे से सातवें में, सातवें से छठे में परिणाम आते जाते रहते हैं । सातिशय अप्रमत्त विरत मुनि के अधकरण परिणाम होते है। यदि वे चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम प्रारंभ करते है तो उपशम श्रेणी चढ़ते है। और यदि क्षय प्रारम्भ करते है तो क्षपक श्रेणी चढ़ते है सो वे दोनों (उपशम या क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले मुनि) आठवे गुण स्थान में पहुंचते है। सातिशय अप्रमत्त विरत मुनि के परिणाम का नाम अध करण इसलिये है कि इसके काल में विविक्षित समयवर्ती मुनि के परिणाम के सदृश कुछ पूर्व उत्तर समयवर्ती मुनियों के परिणाम हो सकते है ।

८- *अपूर्व करण* - इस गुणस्थान में अगले-अगले समय में अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते है ये उपशमक व क्षपक दोनें तरह के होते है इस परिणाम का अपूर्व करण नाम इसलिये भी है कि इसके काल में समान समयवर्ती मुनियों के परिणाम सदृश भी हो जाय किन्तु विविक्षित समय से भिन्न पूर्व या उत्तर समयवर्ती मुनियो के परिणाम विसदृश ही होंगे। इस गुणस्थान में प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि होती-२ कर्मों की स्थिति घात होने लगता है, स्थिति बंध कम हो जाते है, बहुत अनुभाग नष्ट हो जाता है, असंख्यात गुणी प्रदेश निर्जरा होती है और अनेक अशुभ प्रकृतियाँ भी बदल जाती है।

९- *अनिवृत्ति करण* - इस गुणस्थान में चढ़ते हुए अधिक विशुद्ध परिणाम होते है ये उपशमक, क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं इस परिणाम का निवृत्तिकरण नाम इसलिये है कि इसके काल में विविक्षित

समय में जितने मुनि होंगे सब का समान ही परिणाम होगा। यहाँ भी भिन्न समय वालों के परिणाम विदृश ही होंगे। इस गुणस्थान में चरित्र मोहनीय की २० प्रकृतियों का अप्रत्याख्यानावरण ४ प्रत्याख्यानावरण ४, संज्वलन ३, हास्यादि ९ का उपशम या क्षय हो जाता है।

१०- सूक्ष्मसाम्पराय - नवमे गुणस्थान में होने वाले उपशम या क्षय के बाद केवल संज्वलन सूक्ष्म लोभ रह जाता है । ऐसा जीव सूक्ष्मसाम्पदाय गुणस्थानावर्ती कहा जाता है । इस गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। जिसके द्वारा अन्त में इस गुणस्थान वाला जीव सूक्ष्म लोभ का भी उपशम या क्षय कर देता है।

११- उपशान्तमोह - समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो चुकते ही जीव उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती हो जाता है इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है किन्तु उपशम का काल समाप्त होते ही १० गुणस्थान में गिरना पड़ता है। या मरण हो तो चौथे गुणस्थान में एक दम आना पड़ता है।

१२- क्षीण मोह - क्षपक श्रेणी में चढ़ने वाला मुनि है समस्त मोहनीय के क्षय होते ही क्षीण मोह गुणस्थान वर्ती हो जाता है। इस गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र हो जाता है तथा इसके अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भी क्षय हो जाता है । क्षपक श्रेणी से चढ़ने वाला मुनि ११वे गुणस्थान में नहीं जाता वह १०वे गुणस्थान से १२वें गुणस्थान में आ जाता है।

१३- क्षीण मोह - चारों घातियाँ कर्म के नष्ट होते ही यह आत्मा सकल परमात्मा हो जाता है इन केवली भगवान के जब तक योग रहता है तब तक उन्हें संयोग केवली कहते है।

इनके विहार भी होता है। दिव्य ध्वनि भी खिरती है तीर्थंकर संयोग केवली के समवशरण की रचना होती है। सामान्य संयोग केवली के गन्ध कुटी की रचना होती है इन सबका नाम अर्हन्त परमेष्ठी है। अन्तिम अन्तर्मुहुर्त में इनके वादर योग नष्ट होकर सूक्ष्म योग रह जाता है और अंतिम समय में यह सूक्ष्म योग भी नष्ट हो जाता है।

१४- अयोगकेवली - अयोग केवली योग नष्ट होते ही ये

परमात्मा अयोग केवली हो जाते है (शरीर के क्षेत्र में रहते हुए भी इनके प्रदेशों का शरीर से सम्बन्ध नही रहता) इनका काल अ इ उ ऋ लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों को बोलने के बराबर रहता है। इस गुण स्थान में और अन्त समय में इसके ही ये प्रभु गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान हो जाते है।।

(गुणस्थानो का निमित्तों का विवरण)

१ - मिथ्यात्व नामक दर्शन मोह के उदय के निमित्त से होता है ।

२ - दर्शन मोह की अपेक्षा पारिणामिकता के निमित्त से होता है ।

३ - सम्यगमिथ्यात्व नामक दर्शन मोह के उदय के निमित्त से होता है ।

४ - दर्शन मोह के उपशम क्षयोपशम या क्षय के निमित्त से होता है ।

५ - अप्रत्याख्यानावरण नामक चारित्र मोह के क्षयोपशम के निमित्त से होता है ।

६ - प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्र मोह के क्षयोपशम के निमित्त से होता है ।

७ - संज्वलन के मन्द उदय सहित प्रतयाख्यानावरण के क्षयोपशम के निमित्त से होता है ।

८ - चारित्र मोहनीय के उपशम के परिणाम के निमित्त से होता है ।

९ - चारित्र मोहनीय के क्षपण के परिणाम के निमित्त से होता है ।
चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों के उपशम के निमित्त से होता है ।

१० - चारित्र मोहनीय के क्षपण के परिणाम के निमित्त से होता है ।
चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों के उपशम के निमित्त से होता है ।

११ - चारित्र मोह की समस्त प्रकृतियों उपशम के निमित्त से होता है ।

१२ - चारित्र मोह की समस्त प्रकृतियों के क्षय के निमित्त से होता है ।

१३ - घातिया कर्मों के क्षय हो जाने के योग के सद्भाव के निमित्त से होता है ।

१४ - योग अभाव निमित्त से होता है ।

(२)

१४- जीव समास

जीव समास - जिन सदृश धर्मों द्वारा अनेक जीवों का संग्रह किया जा सके उन सदृश नाम जीव समास है वे १४ है-

(१) एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, (२) एकेन्द्रिय वादर अपर्याप्त (३) ऐकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, (४) एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, (५) द्विन्द्रिय पर्याप्त (६) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त (७) त्रीन्द्रिय पर्याप्त (८) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त (९) चार इन्द्रिय पर्याप्त (१०) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त (११) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त (१२) असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त (१३) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त (१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त।

(१) एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त - जिन जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय है तथा बादर शरीर (जो दूसरे बादर को रोक सके और जो दूसरे बादर से रुक सके) है और जिनकी शरीर पर्याप्ति भी पूर्ण हो गई है वे एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त है ये पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पति रुप पाँच प्रकार के होते है।

(२) एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त - एकेन्द्रिय वादरों में उत्पन्न होने वाले जीव उस आयु के आरम्भ से लेकर जब तक उनकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती वादर अपर्याप्त कहलाते है इनमें से जो जीव ऐसे है कि पर्याप्ति पूर्ण न कर सकेंगे और मरण हो जायेगा उन्हें लब्ध्यपर्याप्त कहते है जिनकी पर्याप्ति पूर्ण अभी तो नहीं हुई परन्तु पर्याप्ति पूर्ण कर रहे है। इन जीव समासों में अपर्याप्त शब्द से दोनों अपर्याप्तों का करना चाहिये।

(३) एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त - जो जीव एकेन्द्रिय सूक्ष्म (उनका शरीर न दूसरे को रोक सकता है और न दूसरे से रुक सकता है वह सूक्ष्म नाम कर्म का जिनके उदय है) एवं पर्याप्त है उन्हें एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त कहते है।

(४) एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त - एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त जीवों को एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त कहते है।

(५) द्वीन्द्रिय पर्याप्त - जिनके स्पर्शन, रसना ये दो इन्द्रिय है तथा जो पर्याप्त हो चुके है उन्हे द्वीन्द्रिय पर्याप्त कहते है।

(६) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त - उन द्वीन्द्रिय जीवों को कहते है जो लब्ध्य अपर्याप्त या अभी निवृत्यपर्याप्त है उनको द्वीन्द्रिय अपर्याप्त कहते है।

(७) त्रीन्द्रिय पर्याप्त - जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रिय है और जो पर्याप्त हो चुके है। उन्हे त्रीन्द्रिय पर्याप्त कहते है।

(८) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त - उन त्रीन्द्रिय जीवों को कहते है। जो लब्ध्य अपर्याप्त या अभी निवृत्य पर्याप्त है उनको त्रीन्द्रिय अपर्याप्त कहते है।

(९) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त - जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु ये चार इन्द्रियां है और पर्याप्त हो चुके है उन्हे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त कहते है।

(१०) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त - उन चतुरिन्द्रिय जीवों को कहते है जो लब्ध्य-अपर्याप्त या अभीनिवृत्यपर्यापत है चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त है।

(११) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त - जिनके स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां है लेकिन मन नही है वे असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते है पर्याप्ति पूर्ण हो चुकाने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय केवल तिर्यन्च गति में होते है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चारइन्द्रिय जीव भी केवल तिर्यंच गति में ही होते हैं ।

(१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त - उन असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को कहते है जो लब्ध्यपर्याप्त है या अभी निवृत्य पर्याप्त है उनको असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त कहते है ।

(१३) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त - संज्ञी अर्थात् मन सहित पंचेन्द्रिय जीव पर्याप्त पूर्ण हो जाने पर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त कहलाते है ।

(१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त - उन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को कहते है जो अभी निवृत्य पर्याप्त है उनको संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त कहते है। सिद्ध भगवान् अतीत जीव समास होते है ।

(३)

पर्याप्ति

आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा के परमाणुओं का शरीर, इन्द्रिय आदि परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते है। पर्याप्ति छः होती है-
(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छवास पर्याप्ति, (५) भाषा पर्याप्ति (६) मन पर्याप्ति।

(१) आहार पर्याप्ति - आहार वर्गणा के परमाणुओं को खल और रस भाग रुप परिणमावने के कारण भूत जीव की शक्ति के पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते है।

(२) शरीर पर्याप्ति - जिन परमाणुओं को खल रुप परिणमाया था उनको हाड़ वगैरह कठिन अवयव रुप और जिनको रस रुप परिणमाया था उनको रुधिरादिक द्रव्यरुप परिणमावने की कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते है।

(३) इन्द्रिय पर्याप्ति - आहार वर्गणा के परमाणु की इन्द्रिय के आकार परिणमावने को तथा इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करने को कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते है।

(४) श्वासोच्छवास - आहार वर्गणा के परमाणुओं को श्वासोच्छवास रुप परिणमवने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छवास पर्याप्ति कहते है।

(५) भाषा पर्याप्ति - भाषा वर्गणा के परमाणुओं को वचन रुप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते है।

(६) मन. पर्याप्ति - मनो वर्गणा के परमाणुओं की हृदय स्थान में आठ पंखुड़ी के कमलाकार मन रुप परिणमावने की तथा उसके द्वारा यथावत विचार करने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते है।

सिद्ध भगवान को अतीत पर्याप्ति कहते है।

(४)

प्राण

परिभाषा- जिनके संयोग से यह जीव जीवन से अस्वस्थता को प्राप्त हो व वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त हो उनको प्राण कहते है प्राण १० होते है।

(१) स्पर्शइन्द्रिय (२) रसना इन्द्रिय (३) घ्राणेइन्द्रिय (४) चक्षुइन्द्रिय (५) श्रोतेन्द्रिय (६) मनोबल (७) वचन बल, (८) काय बल, (९) आयु, (१०) श्वासोच्छ्वास

सिद्ध भगवान उन्नति प्राण कहे जाते है।

(५)

संज्ञा

संज्ञा - वांछा के संस्कार को संज्ञा कहते है। ये संज्ञा ४ है ।

(१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा (३) मैथुन संज्ञा (४) परिग्रह संज्ञा ।

(१) आहार संज्ञा - आहार संबंधी वाँछा करना ।

(२) भय संज्ञा - भय सम्बन्धी परिणाम के संस्कार को भय संज्ञा कहते है ।

(३) मैथुन संज्ञा - मैथुन सम्बन्धी वाँछा के संस्कार को मैथुन संज्ञा कहते है ।

(४) परिग्रह संज्ञा - परिग्रह सम्बन्धी वाँछा के संस्कार को परिग्रह संज्ञा कहते है।

(५) दशम गुणस्थान के ऊपर के जीव अतीत संज्ञा कहलाते है ।

भाव प्राण

आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादिक अपने कार्य में प्रवर्तें उसे भाव प्राण कहते है।

(६)
मार्गणा

मार्गण १४ होती है-
गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक।

(१) गति मार्गणा - गति नामक नाम कर्म के उदय से उस गति विषयक भाव के कारण भूत, जीव की अवस्था विशेष को गति कहते है इसके पांच भेद है-

नरक गति, तिर्यन्च गति, मनुष्य गति, देव गति, अगति।

नरक गति - इस पृथ्वी में सात नरक है उनमें नारकी जीव रहते है। उन्हें बहुत काल पर्यन्त घोर दुःख सहना पड़ता है उनकी गति को नरक कहते है ।

तिर्यन्च गति - नारकी, मनुष्य व देव के अतिरिक्त जितने संसारी है वे सब तिर्यन्च कहलाते है एकेन्द्रिय जिसमें निगोद भी शामिल है । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय तो नियम से तिर्यन्च होते है उनकी गति को तिर्यन्च गति कहते है ।

मनुष्य गति - स्त्री पुरुष, बालक, बालिकायें, मनुष्य कहे जाते है इनकी गति को मनुष्य गति कहते है ।

देव गति - भवनवासी, व्यंतर (जिसके निवास स्थान इस पृथ्वी के खर भाग व पंक भाग में है) ज्योतिष, (सूर्य चन्द्रतारा आदि) वैमानिक (१६ स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, अनुत्तर में रहने वाले) इन प्रकार के देवों की गति को देव गति कहते है

अगति (गति रहित) - गति से रहित जीवों को गति रहित कहते है सिद्धों के गति नहीं है ये गति रहित है।

(२) इन्द्रिय मार्गणा - इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होने वाले संसारी आत्मा के बाह्य चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते है इसकी मार्गणा ६ है -

एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अतीन्द्रिय।

अतीन्द्रिय - जो पंचेन्द्रिय तथा मनइन्द्रिय इन दोनो से रहित है वे अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

(३) काय मार्गणा - आत्म प्रवृत्ति अर्थात् योग से संचित पुद्‌गल पिंड को काय कहते है। इसकी मार्गणा सात है

(१) पृथ्वीकायिक, (२) अपकायिक, (जलकायिक) (३) अग्नि कायिक, (४) वायुकायिक (५) वनस्पति कायिक (६) त्रसकायिक (७) अकायिक।

अकायिक- जनके किसी प्रकार का काय नही रहा वे अकायिक है

(४) योग मार्गणा- मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म प्रदेश के परिस्पंद (हलन, चलन) का कारण भूत जो प्रयत्न होता है उसे योग कहते है। इसकी मार्गणा १६ है

(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग (४) अनुभयमनोयोग, (५) सत्यवचनयोग, (६) असत्यवचनयोग (७) उभयवचन योग, (८) अनुभयवचन योग (९) औदारिककाय योग (१०) औदारिक मिश्र काय योग (११) वैक्रियक काय योग (१२) वैक्रियक मिश्र काय योग (१३) आहारक काय योग, (१४) आहारक मिश्रकायोग (१५) कार्माण काय योग (१६) आयोग।

सत्यमनोयोग - सत्य वचन के कारण भूत मन को सत्य मन कहते है। उसके निमित्त से होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते है।

असत्य मनोयोग - असत्य वचन के कारण भूत मन को असत्य मन कहते है और उसके निमित्त होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते है।

उभयमनोयोग - उभय (सत्य, असत्य, दोनों) मन के निमित्त से होने वाले योग को उभय मनोयोग कहते है।

अनुभय मनोयोग - अनुभय (न सत्य न असत्य) मन के निमित्त से होने वाले योग को अनुभव मनोयोग कहते है।

सत्य वचन योग - सत्य वचन के निमित्त से होने वाले योग को असत्य वचन योग कहते है।

असत्य वचन योग - असत्य वचन के निमित्त से होने वाले योग को असत्य वचन योग कहते है।

उभय वचन योग - उभय (सत्य असत्य दोनों) वचन के निमित्त से होने वाले योग को असत्य वचन योग कहते है।

अनुभय वचन योग - अनुभय (न सत्य न असत्य) वचन के निमित्त से होने वाले योग को अनुभय वचन योग कहते है।

औदारिक काय योग - मनुष्य और तिर्यंचो के शरीर को औदारिक शरीर कहते है उसके निमित्त से जो योग होता है उसे औदारिक शरीर काय योग कहते है।

औदारिक मिश्र काय योग - कोई प्राणी मरकर मनुष्य या तिर्यन्च गति में पहुंचा। वहाँ पहुँचते ही वह औदारिक वर्गणाओं को ग्रहण करने लगता है। उस समय से अन्तर्मूहुर्त तक (जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नही होती) कार्माण मिश्रित औदारिक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेश में परिस्पंद के लिये जो उस जीव का प्रयत्न होता है। उसे औदारिक मिश्र काय योग कहते है।

वैक्रियक काय योग - देव नारकियों के शरीर को वैक्रियक कहते है उसके निमित्त से जो योग होता है उसे वैक्रियक काय योग कहते है।

वैक्रियक मिश्रकाय योग - कोई मनुष्य तिर्यन्च मरकर देव या तिर्यन्च गति में पहुंचा, वहां पहुंचते ही वह वैक्रियक वर्गणाओं को ग्रहण करने लगता है। उस समय से अन्तमूहुर्त तक (जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती) कार्माण मिश्रित वैक्रियक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेशों में परिस्पंद के लिये जो उस जीव का प्रयत्न होता है उसे वैक्रियक मिश्र काय योग कहते है।

आहारक काय योग - सूक्ष्म तत्व में संदेह होने पर या तीर्थ वन्दानादि के निमित्त आहारक ऋद्धि वाले छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के मस्तक से एक हाथ का धवल शुभ व्याघात रहित आहारक शरीर निकलता है उसे आहारक काय कहते है उसके निमित्त से होने वाले योग को आहारक योग कहते है।

आहारक मिश्र काय योग - आहारक शरीर का पर्याप्ति जब तक पूर्ण नही होती तब तक औदारिक व आहारक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव प्रदेशों ने परिस्पंद के लिये जो प्रयत्न होता है उसे आहारक मिश्र काय कहते है।

कार्माण काय योग - मोड़े वाली विग्रह गति को प्राप्त चारों गतियों के जीवों के तथा प्रतर और लोक पूर्ण समुद्घात को प्राप्त केवली जिनके कार्मण काय होता है उसके निमित्त से होने वाले कार्मण काय को योग कहते है।

अयोग - अयोग केवली व सिद्ध भगवान के योग नही होता योग रहित अवस्था को अयोग कहते है।

वेद मार्गणा

पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद के उदय से उत्पन्न हुई मैथुन की अभिलाषा को वेद कहते है। इसकी मार्गणा ४ है-

(१) पुरुष वेद (२) स्त्री वेद (३) नपुंसक वेद (४) अपगत वेद

(१) पुरुष वेद - जिसमें स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे पुरुष वेद कहते है।

(२) स्त्री वेद - जिस भाव में पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे स्त्री वेद कहते है।

(३) नपुंसक वेद - जिस भाव में दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो उसे नपुंसक वेद कहते है।

(४) अपगत वेद - जहाँ वेद अभाव है उसे अपगत वेद कहते है।

कषाय मार्गणा

जो आत्मा के सम्यक्त्व देश चारित्र, सकल चरित्र, और यथाख्यात चारित्र रुप गुण को घाते उसे कषाय कहते है इसकी मार्गणा २६ है-

४ अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ + ४ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माय, लोभ + प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ + ४ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ + ९ हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद + १ अकषाय = २६ मार्गणा।

चार अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते है जो आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घाते।

चार अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते हैं जो देश चारित्र को घाते (देश चारित्र श्रावक के अर्थात् पंचम गुणस्थान वर्ती जीव के होता है।)

चार प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते है जो सकल चारित्र को घाते (सकल चारित्र मुनियों के होता है)

चार संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ उन्हें कहते है जो यथाख्यात चारित्र को घाते (यथाख्यात चारित्र ११-१२-१३-१४ वे गुणस्थान में होता है।)

हास्य- हंसने के परिणाम को कहते है।

रति - इष्ट पदार्थ में प्रीति करने को कहते है।

अरित - अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति करने को कहते है।

शोक - रंज के परिणाम को कहते है।

भय - डर को कहते है।

जुगुप्सा -ग्लानि को कहते है।

पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद का वर्णन पहले हो चुका है।

अकषाय- कषाय के अभाव को कहते है।

ज्ञान मार्गणा

इसकी मार्गणा ८ होती है-

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन. पर्याय ज्ञान, केवलज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअविधि ज्ञान, विभंगावधिज्ञान।

मति ज्ञान - इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मति ज्ञान कहते है।

श्रुतज्ञान - मति ज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में अन्य विशेष जानने को श्रुतज्ञान कहते है।

अवधिज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मीय शक्ति से रुपी पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लेकर जानने को अवधि ज्ञान कहते है।

मनःपर्यायज्ञान - दूसरे के मन में छिपते हुए रूपी पदार्थ को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मीय शक्ति से जानने को मनः पर्याय ज्ञान कहते है।

केवलज्ञान - तीन लोक तीन काल वर्ती समस्त द्रव्य-पर्यायो को एक साथ स्पष्ट जानना केवलज्ञान है।

कुमतिज्ञान - सम्यक्त्व के न होने पर होने वाले मतिज्ञान को कुमति ज्ञान कहते है।

कुश्रुतज्ञान - सम्यक्त्व के न होने पर होने वाले श्रुतज्ञान को कुश्रुत ज्ञान कहते है।

कुअवधिज्ञान - विभंगा अवधिज्ञान ज्ञान को कुअवधिज्ञान कहते है। इसका दूसरा नाम विभंग बोध ज्ञान है।

* *
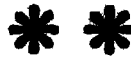
संयम मार्गणा

संयम - अहिंसादि पंच व्रत धारण करना ईर्यापथादि पाँच समितियों का पालन करना क्रोधदि कषायों का विग्रह करना, मनोयोगादि तीनों योगों को रोकना, पाँचों इन्द्रियों पर विजय करना, सो संयम है। इसकी मार्गणा ८ है।

(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्मसम्पराय (५) यथाख्यात चरित्र (६) असंयम (७) संयमा-संयम (८) संयम।

सामायिक - सब प्रकार की अविरति से विरक्त होना व समता भाव धारण करना सामायिक संयम है।

छेदोपस्थापना - छेद रूप से व्रत के धारण करने को या व्रतों मे छेद (भंग) होने पर फिर से व्रतों के पालन करने को छेदोपस्थापना संयम कहते है ।

परिहार विशुद्धि - जिसमें परिहार प्रधान हो ऐसे शुद्धिप्राप्त संयम

को परिहार विशुद्धि संयम कहते है।

सूक्ष्मसम्पराय - सूक्ष्म कषाय (लोभ) वाले जीवों के जो संयम होता है उसे सूक्ष्म सम्पराय संयम कहते है।

यथाख्यात संयम - कषाय के अभाव में जो आत्मा का अनुष्ठान होता है उसमें निवास करने को यथाख्यात संयम कहते है।

असंयम - जहाँ किसी के संयम या संयमासंयम का लेश भी न हो उसे असंयम कहते है।

संयमा-संयम - जिनके त्रस जीवों के घात का (अविरति) का त्याग हो चुका हो। जिनके अणुव्रत का धारण है उसके चारित्र को संयमा-संयम कहते है।

संयम - असंयम, संयमा संयम रहित सिद्ध भगवान सदा अपने शुद्ध स्वरुप में स्थित है उनके ये तीनों नहीं पाये जाते सो ये असंयम संयमा संयम रहित है।

दर्शन मार्गणा

आत्माभिमुख अवलोकन को दर्शन कहते है इसकी मार्गणा चार है। (१) चक्षुर्दशन, (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन।

चक्षुर्दशन - चक्षु इन्द्रिय जनित ज्ञान से पहले होने वाले दर्शन को चक्षुदर्शन कहते है।

अचक्षु दर्शन - चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न होने वाले दर्शन को अचक्षु दर्शन कहते है।

अवधि दर्शन - अवधि ज्ञान से पूर्व होने वाले दर्शन को अवधि दर्शन कहते है।

केवल दर्शन - केवल ज्ञान के साथ साथ होने वाले दर्शन को केवल दर्शन कहते है।

लेश्या मार्गणा

कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते है। इसकी मार्गणा ७ है -

(१) कृष्ण लेश्या, (२) नील लेश्या, (३) कापोत लेश्या, (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या (७) अलेश्या।

कृष्ण लेश्या - तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर क्रोध न छोड़े, लड़ने का जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो जो किसी के वश में न हो ये लक्षण कृष्ण लेश्या के हैं।

नील लेश्या - काम करने में मन्द हो, स्वच्छन्द हो, कार्य करने में विवेक रहित हो, विषयों में लम्पट हो, कामी, मायाचारी आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्राय को सहसा नहीं जान सकते, दूसरे को ठगने में चतुर हो, परिग्रह में तीव्र लालसा हो, ये लक्षण नील लेश्या के हैं।

कापोत लेश्या - दूसरे की निन्दा करे, द्वेष करे शोकाकुल हो-भयभीत हो, ईर्षा करे। दूसरों का तिरस्कार करे, अपनी प्रशंसा करे, दूसरों का विश्वास न करे, स्तुति करने वाले पर सन्तुष्ट होवे, रण में मरण चाहे, स्तुति करने वालों को खूब धन देवे, अपना कार्य अकार्य न देखे ये लक्षण कापोत लेश्या के हैं।

पीत लेश्या - कार्य अकार्य सेव्य, असेव्य को समझने वाले ही सर्व समदर्शी हो, दया परायण हो, दान-रत कोमल परिणामी हो ये लक्षण पीत लेश्या के हैं

पद्म लेश्या - त्यागी, भद्र, उत्तम, कार्य करने वाला, सहनशील साधु पूजारत हो, ये लक्षण पद्म लेश्या के है।

शुक्ल लेश्या - पक्षपात न करे, निदान न बाँधे, सब में समानता की दृष्टि रखे, इष्ट राग, अनिष्ट द्वेष न करे, ये लक्षण शुक्ल लेश्या के हैं।

भव्यत्व मार्गणा

जिन जीव के अनन्त चतुष्टय रुप सिद्धि व्यक्त होने की योग्यता होवे वह भव्य है उनके भाव को भव्यत्व कहते है। इसकी मार्गणा १ होने की -

(१) भव्यत्व (२) अभव्यत्व (३) अनुभव (न भव्यत्व न अभव्यत्व) उक्त योग्यता में अभाव को अभव्यत्व कहते है।

सिद्ध जीव न भव्य है और न अभव्य है।

सम्यक्त्व मार्गणा

मोक्ष मार्ग के प्रयोजन भूत तत्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है, इसकी मार्गणा ६ है-

(१) औपशमिक सम्यक्त्व (२) वेदक (क्षयोपशमिक सम्यक्त्व (३) क्षायिक सम्यक्त्व (४) मिथ्यात्व (५) सासादन सम्यक्त्व (६) सम्यक्मिथ्यात्व।

औपशमिक - अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन ७ प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है। इसके दो भेद है- (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व, (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व - मिथ्यात्व के अनन्तर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व - अनादि मिथ्यादृष्टि व मिश्र प्रकृति सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना कर चुकने वाले जीवों के अनंतानुबंधी ४ व मिथ्यात्व इन पाँच के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है और ७ की सत्तावालों के ७ प्रकृतियों के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है? क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अनन्तर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते है और वह भी ७ प्रकृतियों के उपशम से होता है । सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव यदि उपशम श्रेणी चढ़े तब उसके क्षायिक सम्यक्त्व या औपशामिक सम्यक्त्व होना आवश्यक है वहाँ यदि उपशम सम्यक्त्व करे तब वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व मे मरण हो सकता है यदि मरण हो तो देवगति में ही जायेगा" प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण नही होता।

वैदक सम्यक्त्व - अनंतानुबंधी ४ मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय से व उपशम से तथा सम्यक् प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व होता है उसे वेदक सम्यक्त्व कहते है। इस सम्यक्त्व में सम्यक् प्रकृति के उदय के कारण सम्यग्दर्शन में चल मल तथा अगाढ़ (जो कि सूक्ष्म दोष है) दोष लगते है।

क्षायिक सम्यक्त्व - अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है।

सासादन सम्यक्त्व - सम्यक्त्व की विराधना होने पर यदि मिथ्यात्व का उदय न आवे तो, मिथ्यात्व का उदय न आने तक अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से होने वाला विपरीत आशय सासादन सम्यक्त्व कहलाता है।

मित्यात्व - मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्वों के अश्रद्धान रुप विपरीत अभिप्राय को मिथ्यात्व कहते है।

सम्यग्मिथ्यात्व - सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जो मिश्र परिणाम होता है। जिसे न तो सम्यक्त्व रुप कह सकते है किन्तु आशय जो कुछ समीचीन व कुछ आसमीचीन है उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते है।

संज्ञी मार्गणा

जो संज्ञी अर्थात् मन सहित है उन्हें संज्ञी कहते है इसकी मार्गणा ३ है

१- संज्ञी, २- असंज्ञी, ३- अनुभय न संज्ञी न असंज्ञी।

संज्ञी - सैनी पंचेन्द्रिय ही संज्ञी होतें है ये चारों गतियों में पाये जाते है ।

असंज्ञी - एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी होते है ये सब तिर्यन्च है।

अनुभय - सयोग केवली व अयोग केवली व सिद्ध भगवान अनुभय है ये न संज्ञी है क्योंकि इनके भाव मन नही है। और न असंज्ञी है क्योंकि अविवेक नहीं है संयोग केवली के यद्यपि द्रव्य मन है परन्तु भावमन नहीं है।

आहारक मार्गणा

मन बचन के योग्य वर्गणाओं का ग्रहण करना आहार कहलाता है जब कोई जीव मरकर दूसरी गति में जाता है तब जन्म स्थान पर पहुंचते ही आहारक हो जाता है इससे पहले जीव अनाहारक रहता है। किन्तु ऋजुगति से जाने वाला यह अनाहारक नही होता क्योंकि वह एक समय में ही जन्म स्थान पर पहुंच जाता है। १३वें गुणस्थानवर्ती जीव जब केवली समुद्‌घात

करते है तब प्रतर के समय १ लोक पूरण का समय, इन तीन समयो मे अनाहारक होते है शेष समय मे आहारक होते है अयोग केवली और सिद्ध भगवान् अनाहारक ही होते है।

* * *

(७)

ध्यान

ध्यान- एक विषय मे चिंतवन के रुकने को ध्यान कहते है। ध्यान १६ प्रकार का है।

आर्तध्यान ४, रौद्रध्यान ४, धर्मध्यान ४, शुक्लध्यान

१ आर्तध्यान-१- इष्ट वियोगज, २- अनिष्ट संयोगज, ३- वेदना, ४- निदान,

इष्टवियोगज - इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसके संयोग के लिये चिंतवन करना।

अनिष्ट संयोगज - अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग के लिये चिंतवन करना।

वेदना प्रभव - शरीर की पीड़ा होने पर उसके सम्बन्ध मे चिंतवन करना वेदना प्रभव आर्तध्यान है।

निदान - भोग विषयो की चाह सम्बन्धी चिंतवन को निदान नामक आर्तध्यान कहते है।

२ रौद्रध्यान-१- हिंसानन्दी, २- मृषानन्दी, ३- चौर्यानन्दी, ४- परिग्रहानन्दी।

हिंसानन्दी - रौद्रध्यान कृत, कारित आदि हिंसा मे आनन्द मानना।

मृषानन्दी - झूठ बोलने मे आनन्द मानना व झूठ के लिये चिंतवन करना।

चौर्यानन्दी - चोरी करनमे आनन्द मानना व चोरी के लिये चिंतवन करना।

परिग्रहानन्दी - पनिग्रह एकत्र करने मे आनन्द मानना परिग्रह की रक्षा के लिये चिंतवन करना।

३. धर्मध्यान-१- आज्ञाविचय, २- अपाय विचय, ३- विपाक विचय, ४- संस्थान विचय।

आज्ञाविचय - आगम की आज्ञा की श्रद्धा से तत्व चिंतवन करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

अपाय विचय - अपने या परके रागादि भाव जो दु:ख के मूल है उनके विनाश का चिंतवन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

विपाक विचय - कर्मों के फल के सम्बन्ध में संवेग वर्धक चिन्तवन करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

संस्थान विचय - लोक के काल, आकार आदि के आश्रय जीव के परिभ्रमणादि विषयक असारता का चिंतवन करना व अरहंत, सिद्ध मंत्र पर आदि के आश्रय से तत्व चिंतवन करना सो संस्थान विचय धर्मध्यान है।

शुक्ल ध्यान-१- पृथक्त्ववितर्कविचार २- एकत्व वितर्क अविचार, ३- सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ४- व्युपरत क्रिया निवृत्ति।

पृथक्त्व विर्तक विचार - अर्थ योग व शब्दो के परिवर्तन सहित श्रुत के चिंतवन को पृथक्त्ववितर्क विचार शुक्ल ध्यान कहते है।

एकत्व वितर्क अविचार - एक ही अर्थ में एक ही योग में उन्ही शब्दों में श्रुत के चिंतवन को एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान कहते है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति - संयोग केवली के अन्तिम अंतर्मुहूर्त में जबकि बादर योग भी नष्ट हो जाता है तब सूक्ष्मकाय योग से भी दूर होने के लिये जो योग उपयोगी की स्थिरता है उसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान कहते है।

व्युपरत क्रिया निवृति - समस्त योग नष्ट हो चुकने पर अयोग केवली के यह व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है।

(८)

आस्रव के भेद

कर्मों के कारण-भूत-भाव को आस्रव कहते है। इसके ५७ भेद है-
५ मिथ्यात्व+१२ अविरति+२५ कषाय+१५ योग=५७ भेद।

५ मिथ्यात्व

१ एकान्त मिथ्यात्व - अनेकान्त धर्मात्मक वस्तु होने पर भी उसमें एक धर्म की ही श्रद्धा करना।

२ विपरीत मिथ्यात्व - वस्तु के स्वरूप से विपरीत स्वरुप की श्रद्धा करना।

३ संशय मिथ्यात्व - वस्तु के स्वरुप में विपरीत संशय करना।

४ विनय मिथ्यात्व - देव, कुदेव में, तत्व, अतत्व में, शास्त्र, कुशास्त्र में गुरू कुगुरु में सभी को भला मानकर विनय करना।

५ अज्ञान मिथ्यात्व - हित अहित का विवेक न रखना अज्ञान मिथ्यात्व है।

समस्त संकटों का मूल कारण "मिथ्यात्व भाव" है ।

(१२) अविरति

काय अविरति ६+विषय अविरति ६=१२

(१) पृथ्वी कायिक अविरति - पृथ्वी कायिक जीवों की हिंसा से विरक्त न होने को पृथ्वी कायिक कहते है।

(२) जल कायिक अविरति - जल कायिक जीवो की हिंसा से विरक्त न होने को जलकायिक अविरति कहते है।

(३) अग्नि कायिक अविरति - अग्नि कायिक जीवों की हिंसा से विरक्त न होने को अग्नि कायिक अविरति कहते है।

(४) वायु कायिक अविरति - वायु कायिक जीवों की हिंसा से विरक्त न होने को वायु कायिक अविरति कहते है।

(५) वनस्पति कायिक अविरति - वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा से विरक्त न होने को वनस्पति कायिक अविरति कहते हैं।

(६) त्रस कायिक अविरति - त्रस कायिक, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से विरक्त न होने को त्रस कायिक अविरत कहते है।

(७) स्पर्शेन्द्रिय विषय अविरति - स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों से विरक्त न होने को स्पर्शेन्द्रिय अविरति कहते है।

(८) रसनेन्द्रिय विषय अविरति - रसना इन्द्रिय के विषय (स्वाद) से विरक्त न होने को रसनेन्द्रिय अविरति कहते है।

(९) घ्राणेन्द्रिय विषय अविरति - घ्राण इंद्रिय के विषय से विरक्त न होने को घ्राणेन्द्रिय विषय अविरति कहते है।

(१०) चक्षुरिन्द्रय विषय अविरति - चक्षु इंद्रिय के विषय से विरक्त न होने को चक्षुरिन्द्रय अविरति कहते है।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय विषय अविरति - श्रोत्र इन्द्रिय के विषय से विरक्त न होने को श्रोत्रेन्द्रिय अविरति कहते है।

(१२) मनोविषय अविरति - मन के विषय से (सम्मान, आराम, चाह आदि से) विरक्त न होने को मनो विषय अविरति कहते है। कषाय तथा योग का वर्णन हो चुका है।

९- (५३ भाव)

भाव - अपने प्रतीपक्षी कर्मों के उपशम आदि होने पर जो गुण स्वभाव या विभाव रूप प्रगट हो उन्हें भाव कहते है। इनका उपादान कारण जीव है अर्थात् ये जीव में ही होते है अन्य द्रव्य में नहीं होते इसलिये ये जीव के निज तत्व कहलाते है। ये भाव ५३ होते हैं-

औपशमिक २+क्षायिक ९+क्षायोपशमिक १८+औदंयिक १८+पारिणामिक ३=५३

अपने प्रतीपक्षी कर्मों के उपशम होने पर जो गुण भाव प्रगट हो उन्हें औपशमिक भाव कहते है।

औपशमिक भाव के दो भेद है-

(१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) औपशमिक चरित्र

(१) औपशमिक सम्यक्त्व - दर्शन मोह की ३, अनन्तानुबंधी ४ इन सात का उपशम होना।

(२) औपशमिक चरित्र - चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते है।

(९ क्षायिक भाव)

अपने प्रति पक्षी कर्मों के क्षय से जो गुण हो उन्हे क्षायिक भाव कहते है। क्षायिक भाव के ९ भेद है-

(१) क्षायिक ज्ञान (केवल ज्ञान) (२) क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन) (३) क्षायिक दान (४) क्षायिक लाभ (५) क्षायिक भोग (६) क्षायिक उपभोग (७) क्षायिक वीर्य (८) क्षायिक सम्यक्त्व (९) क्षायिक चारित्र।

(१) क्षायिक ज्ञान - ज्ञानावर्ण कर्म के क्षय से जो ज्ञान प्रगट हो उसे क्षायिक ज्ञान कहते है।

(२) क्षायिक दर्शन - दर्शनावरण कर्म के क्षय से जो दर्शन प्रगट हो उसे क्षायिक-दर्शन कहते है।

(३) क्षायिक दान - दानान्तराय के क्षय से जो गुण प्रगट होता हो उसे क्षायिक दान कहते है।

(४) क्षायिक लाभ - लाभान्तराय के क्षय से जो गुण प्रगट हो उसे क्षायिक लाभ कहते है।

(५) क्षायिक भोग - भोगान्तराय के क्षय से जो गुण प्रगट हो उसे क्षायिक भोग कहते है।

(६) क्षायिक उपभोग - उपभोगान्तराय के क्षय से जो गुण प्रगट हो उसे क्षायिक उपभोग कहते है।

(७) क्षायिक वीर्य - वीर्यान्तराय के क्षय से जो गुण प्रगट हो उसे क्षायिक वीर्य कहते है।

(८) क्षायिक सम्यक्त्व - दर्शनमोह के क्षय से जो प्रकट हो वह क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

(९) क्षायिक चारित्र - चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों के क्षय से जो चारित्र हो उसे क्षायिक चारित्र कहते है।

(१८ क्षायोपशमिक भाव)

अपने प्रतिपक्षी कर्मों से किन्ही कर्मों के स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से, किन्ही स्पर्द्धकों के उपशम से तथा किन्ही स्पर्द्धकों के उदय से जो भाव प्रगट हो उसे क्षायोपशमिक भाव कहते है। क्षायेपशमिक भाव के १८ भेद है-

४ ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान) कुमति, कुश्रुति, कुअवधि ३ अज्ञान।

३ दर्शन (चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन)।

४ लब्धियाँ (क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) क्षायेपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, संयमा संयम।

ज्ञान ४, अज्ञान ३, दर्शन ३, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व इनका वर्णन हो चुका है।

लब्धि ५-दानान्तराय आदि के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक दान आदि ५ होते है।

क्षायोपशमिक चारित्र - अप्रत्याख्यानावरण ४ व प्रत्याख्यानावरण ४ इन आठ प्रकृतियों के क्षयोपशम में महाव्रतादि रूप चारित्र होता है उसे क्षायेपशमिक चारित्र कहते है।

(२१ औदायिक भाव)

अपनी उत्पत्ति के निमित्त-भूत-कर्मों के उदय से जो भाव प्रगट हो उन्हे औदायिक भाव कहते है। इसके २१ भेद है-

१. गति - नरक गति, तिर्यन्च गति, मनुष्य गति, देव गति इसका वर्णन हो चुका है।

२ कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ इसका वर्णन कषाय मार्गणा से हो चुका है।

३ लिंग - पुरूष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, इसका वर्णन वेद मार्गणा मे हो चुका है।

मिथ्या दर्शन - इसका स्वरुप सम्यक्त्व मार्गणा में हो चुका है।

अज्ञान - ज्ञानावरण-कर्म के उदय से ज्ञान का अभाव रूप भाव है उसे

अज्ञान भाव कहते है यह अज्ञान- औदायिक है।

असंयम - इसका वर्णन संयम मार्गणा में हो चुका है।

असिद्ध - जब तक आठों कर्मों का अभाव नही होता तब तक असिद्ध भाव है।

लेश्या - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये ६ लेश्या मार्गणा में हो चुकी है ।

(३ पारिणामिक भाव)

पारिणामिक भाव - जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा के बिना हो वह पारिणामिक भाव है इसके ३ भेद है-

(१) जीवत्व (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व

जीवत्व - जिससे वह जीवत्व है वह २ प्रकार का है-

(१) ज्ञान दर्शन रुप (२) दसप्राण रुप। इनमें ज्ञान, दर्शन रुप जीवत्व शुद्ध पारिणामिक भाव है।

भव्यत्व - अभव्यत्व - इनका वर्णन भव्यत्व मार्गणा में हो चुका है।

इन जीवों के देह है उनके देह प्रमाण तथा देह रहित (सिद्ध जीवों के जितने शरीर के प्रमाण से मोक्ष गये कुछ कम प्रमाण है उतने प्रमाण अवगाहना का वर्णन करना इस स्थान का प्रयोजन है।

९
जाति

उत्पत्ति स्थान को योनि या जाति कहते है जाति ८४ लाख है–

ये सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत संवृत विवृत इन ९ भेदों के अभेदों से ८४ लाख हो जाते है।

किन जीवो की कितनी जाति है

नित्य निगोद की	७ लाख
इतर निगोद की	७ लाख
पृथ्वी कायिक	७ लाख
जल कायिक	७ लाख
अग्नि कायिक	७ लाख
वायु कायिक	७ लाख
वनस्पति कायिक	१० लाख
दो इन्द्रिय	२ लाख
तीन इन्द्रिय	२ लाख
चार इन्द्रिय	२ लाख
तिर्यन्च ५ इन्द्रिय	४ लाख
देव	४ लाख
नारकी	४ लाख
मनुष्य	१४ लाख
योग	८४ लाख

कुल

शरीर के भेद के कारण भूत नो कर्म वर्गणाओं के भेद को कुल कहते है। सब कुल १९७।। लाख कोटि (१९ नील ७५ खरब) होते है वे इस प्रकार है–

पृथ्वी कायिक कुल	२२ लाख कोटि
जल कायिक कुल	७ लाख कोटि
अग्नि कायिक कुल	३ लाख कोटि
वायु कायिक कुल	७ लाख कोटि
वनस्पति कायिक कुल	२८ लाख कोटि
दो इन्द्रिय कुल	७ लाख कोटि
तीन इन्द्रिय कुल	८ लाख कोटि
चार इन्द्रिय कुल	९ लाख कोटि
जलचर कुल	१२॥ लाख कोटि
थलचर (पशु) कुल	१० लाख कोटि
नभचर कुल	१२ लाख कोटि
छाती के सहारे चलने वाले जीव (तिर्यन्च) के कुल	
सर्पादि	९ लाख कोटि
देव	२६ लाख कोटि
नारकी	२५ लाख कोटि
मनुष्य	१२ लाख कोटि
योग	१९७॥ लाख कोटि

१०

संक्षिप्त नय विवरण

नय - ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है। अध्यात्म ज्ञान के प्रयोजक नय के ४ प्रकार है-

(१) व्यवहार नय (२) अशुद्ध निश्चय नय, (३) शुद्ध निश्चय नय (४) परम शुद्ध निश्चय नय।

१ - व्यवहार नय - दो या अनेक द्रव्यों के सम्बन्ध से होने वाली व्यंजन पर्याय देखना, अन्य के निमित्त से होने वाली नैमित्तक पर्याय देखना व्यवहार नय है।

जैसे - कर्म के उदय से राग हुआ है। जीव शरीर में बद्ध है, जीव नारकी है जीव तिर्यन्च है आदि अभिप्राय व्यवहार नय है।

(२) अशुद्ध निश्चयनय - किसी एक द्रव्य की विभाव पर्याय को उसी एक द्रव्य में देखना अशुद्ध निश्चय है,

जैसे - आत्मा का राग है, आत्मा का विकल्प है आदि।

(३) शुद्ध निश्चनय - किसी एक द्रव्य की स्वभाव पर्याय को उसी के एक द्रव्य में देखना शुद्ध निश्चनय है।

जैसे - जीव का केवल ज्ञान है जीव का अनन्त सुख है आदि।

(४) परम शुद्ध निश्चयनय - पर्याय व गुण भेद की दृष्टि न करके मात्र स्वभाव या अनादिअनन्त केवल द्रव्य को देखना परम शुद्ध निश्चयनय है।

जैसे - आत्मा चैतन्य मात्र है आदि।

विशेष - एक उपचार नय भी कहलाता है जो एक वस्तु का किसी अत्यन्त भिन्न, असंयुक्त अन्य वस्तु में सम्बन्ध मनाता है।

जैसे - यह मकान है मेरा पुत्र मेरा है आदि किन्तु इसकी चर्चा बुद्धिमानों में जरा भी प्रतिष्ठा नही है अत: नयाभीभास के सम्बन्ध मे कुछ विचार नही करना है।

* * *

(११)

सहज-ज्ञान-पर्याय

सहजज्ञान - क्षायिक ज्ञान (केवल ज्ञान)

सहज दर्शन - क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन)

सहज सुख - साता, असाता रहित आत्मीय, आनन्द

सहज वीर्य - अनन्त शक्ति

सहज श्रद्धा - क्षायिक सम्यक्त्व भाव

सहज चारित्र - परमयथाख्यात चारित्र।

***

(१२)

प्रदेशत्व स्वभाव व्यंजनपर्याय

इंद्रिय रहित, काय रहित, अनाहारक, अतीत जीव समास अतीत पर्याप्ति, अतीत प्राण, विभाग व्यंजन पर्याय (गति ४, इंद्रिय जाति ५' काय ६ आहारक) जीव समास १४, पर्याप्ति प्राण १० कुल १९६११ लाख कोटि अवगाहना।

योग शक्ति - योग मार्गणा सब लेश्या मार्गणा सब,

सब शक्तियां - पारिणामिक-भाव भव्यत्व, मार्गणा, असिद्ध, सिद्ध क्षेत्रान्तरित होना स्थिर होना।

(१) नोट - जहाँ विग्रह गति, ऋजु गति, समुद्घात आदि का वर्णन आया है वहाँ उन्हे क्रियावती शक्ति की पर्याय समझना।

(२) पर्यायों में जहाँ आकुलता अनाकुलता को विकास की प्रमुखता से विचार करे तो वहाँ सुख गुण की पर्याय समझना।

योनि व कुल को पुद्गल की पर्याय जानना।

कषायों को जानने के लिये इस नक्शे का आश्रय लेना चाहिये।

* * *

(१३)

जीव स्थानों को घटित करने के लिये कुछ ज्ञातव्य बातें

(१) एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और नारकी लब्ध्-पर्याप्तक ये सब जीव नियम से नपुंसक ही होते हैं।

(२) एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चार इन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय व नारकी जीव इन सब जीवों के अशुभ (कृष्ण नील, कापोत) लेश्यायें ही होती है।

(३) औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यन्चों के होता है वैक्रियक शरीर देव और नारकियों के ही होता है।

(४) तिर्यन्च गति में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भोग-भूमि तिर्यन्चों में उत्पन्न होता है। वे तिर्यन्च क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है।
जिन्होंने पहले मनुष्य भव में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया और उससे पूर्व तिर्यन्च आयु का बन्ध किया हो।

(५) जो मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करने से पहले नरक आयु का बन्ध करने पर वह क्षायिक सम्क्त्व सहित प्रथम नरक में उत्पन्न होता है ।

(६) देवगति में नपुंसक वेद नही होता।

(७) देवगति मे पर्याप्त के ३ लेश्यायें होती है और अपर्याप्त के ३ शुभ लेश्या होती है किन्तु छोटे देवों (भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी) अपर्याप्त के ३ अशुभ लेश्या भी हो सकती है इस कारण देवगति के सामान्य आलाप मे लेश्यायें कही गयी हैं।

(८) देवगति में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता। क्षायिक सम्यक्दृष्टि मनुष्य, मरकर देव बनता है तो वही वहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि है।

(९) ऐकेन्द्रिय पर्याप्तक के पहला गुणस्थान होता है कोई पंचेन्द्रिय जीव दूसरे गुणस्थान में मरकर ऐकेन्द्रिय में उत्पन्न हो तो उसके अपर्याप्त अवस्था में दूसरा गुणस्थान रह सकता है इस कारण ऐकन्द्रिय के सामान्य अलाप में दो गुणस्थान बताये है।

(१०) कुअवधि ज्ञान पंचेन्द्रिय के ही हो सकता है।

(११) सासादन गुणस्थान में मरकर नरक गति में सूक्ष्म ऐकेन्द्रिय में अग्निकाय में और वायु काय में उत्पन्न नहीं होता।

(१२) तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता। इस कारण इसमें मिश्र काय योग व कार्माण काय योग नहीं होता तथा इसी कारण इस मिश्र गुणस्थान में अपर्याप्ति अवस्था भी नहीं होती।

(१३) क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी पर नहीं चढ़ता है श्रेणी पर चढ़ने के लिये उसे द्वितीयोशम सम्यक्त्व उत्पन्न करना होगा या क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करना होगा।

(१४) क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी दोनों में किसी पर चढ़ सकता है। किन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव केवल उपशम श्रेणी पर ही चढ़ सकता है।

(१५) अपर्याप्त अवस्था में मनोबल, वचन बल, श्वासोच्छवास मनोयोग वचन योग औदारिक काय योग, वैक्रियक काय योग और आहारक काय योग नहीं होते।

(१६) अपर्याप्त अवस्था में- कुअवधि ज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान, परिहार विशुद्धि सूक्ष्म साम्पराय संयमा संयम और मिश्र गुणस्थान नहीं होते।

(१७) प्रथमोपशम- सम्यक्त्व में तो मरण नहीं होता और द्वितीयोपशम में होता है ।

(१८) आहारक काय योग जुगल वेदिक (नपुंसक और स्त्री वेद) मन पर्यय ज्ञान, परिहार-विशुद्धि, उपशम-सम्यक्त्व, इनमें से अगर कोई एक हो तो बाकी के चार नहीं होते, किन्तु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ मनः पर्यायज्ञान हो सकता है। और उपशम सम्यक्त्व के साथ वेद युगल (नपुंसक व स्त्री वेद) भी हो सकता है।

(इति)

(१४)

उपयोग के भेद

उपयोग ३ प्रकार का होता है–

१- शुभोपयोग २- अशुभोपयोग ३- शुद्धोपयोग?

प्रश्न - अशुभोपयोग किन गुणस्थानों मे होता है?

उत्तर - मिथ्यात्व, सासादन, सम्यक्त्व और मिश्र सम्यक्त्व इन तीन गुणस्थानों मे ऊपर-ऊपर मन्द-मन्द रूप में होता हुआ अशुभोपयोग है।

प्रश्न - शुभोपयोग किन गुणस्थानों में होता है?

उत्तर - अविरत सम्यक्त्व, देशविरत और प्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर शुद्धोपयोग के साथ रहने के विशेष होता हुआ शुभोपयोग है।

प्रश्न - शुद्धोपयोग किन गुणस्थानों में होता है?

उत्तर - शुद्धोपयोग दो प्रकार से होता है–

१ एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग २ सर्वदेश निरावरण रूप शुद्धोपयोग।

सम्यक्त्व मे तो मरण नही होवे तो देवगति में उत्पन्न होता है इस कारण वैक्रियक मिश्र का योग में तो उपशम सम्यक्त्व (द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व) हो सकता है। किन्तु औदारिक मिश्र काय योग में उपशम सम्यक्त्व ही हो सकता है।

एकदेशनिरावरण रूप शुद्धोपयोग- यह प्रमत्त विरत गुणस्थान से लेकर क्षीण कषाय नामक १२वे गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर बढ़ती हुई निर्मलता को लिये हुए होता है।

प्रश्न - इसे एक देश निरावरण शुद्धोपयोग में शुद्ध चैतन्य स्वभाव स्वरूप निज आत्मा ध्येय रहता है और इसका आलम्बन भी होता है इस कारण यह उपयोग शुद्धोपयोग तो है किन्तु केवल ज्ञान रूप शुद्धोपयोग की तरह शुद्ध नहीं है अतः इसे एकदेश निरावरण कहते है।

प्रश्न - सर्वदेश निरावरण रूप शुद्धोपयोग किन २ गुणस्थानों में होता है? सर्वदेश निरावरण रुप शुद्धोपयोग संयोग केवली व अयोग केवली इन दो गुणस्थानों में तथा अतीत गुणस्थानों में तथा पूर्ण शुद्धोपयोग होता है। इस पूर्ण शुद्धोपयोग का कारण एकदेश निरावरण रुप शुद्धोपयोग क्यों है?

प्रश्न - पूर्ण शुद्धोपयोग का कारण एकदेश शुद्धोपयोग क्यों है?

उत्तर - अशुद्ध पर्याय वाले आत्मा को शुद्ध होना है अशुद्ध के अवलम्बन से अशुद्धता और शुद्ध के अलम्बन से शुद्धता प्रकट होती है यह आत्मा अभी तो शुद्ध नहीं है फिर किसके अवलम्बन से शुद्धता प्रगट होती है तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वभाव दृष्टि या द्रव्य दृष्टि से एक स्वरुप चैतन्य मात्र है वह स्वभाव न सकषाय है, न अकषाय है ऐसा स्वभाव मात्र शुद्ध है। इस शुद्ध आत्मा तत्व का जो उपयोग है यह पुरुषार्थ उत्तर दृढ़ता से शुद्ध का उपयोग करता हुआ स्वयं शुद्धोपयोग हो जाता है वह शुद्ध तत्व का उपभोग पूर्ण शुद्ध तो है नहीं और अशुद्धोपयोग भी नहीं किन्तु शुद्ध तत्व का भाव अवलम्बन शुद्धता के यथा योग्य परिणमन के कारण शुद्धोपयोग कहा जाता है।

प्रश्न - मुक्ति का कारण कौन सा है ?

उत्तर - मुक्ति का कारण एक देश निरावरण शुद्धोपयोग है। क्योंकि पूर्ण शुद्धोपयोग तो मुक्ति रुप ही अशुभोपयोग रुप मोक्ष का कारण नहीं हो सकता तथा मिथ्यात्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग का कारण नहीं.हो सकता अत. एक देश निरावरण शुद्धोपयोग ही मुक्ति का कारण है।

प्रश्न - शुद्धोपयोग साधक शुभोपयोग जो कि चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक कहा गया है वह मुक्ति का कारण है या नहीं ?

उत्तर - इस शुभोपयोग में शुद्ध आत्म तत्व की भावना व अवलम्बन भी यथा समय अल्प समय की होती रहती है अत: यहां भी एकदेश निरावरणशुद्धोपयोग पाया जाता है किन्तु यहां शुद्ध आत्म तत्व के अवलम्बन की स्थिति कदाचित होने से शुभोपयोग की मुख्यता है वस्तुत: यहां भी रहने वाला एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग और शुद्ध आत्म तत्व की प्रतीति रुपशुभोपयोग मुक्ति का कारण है ।

प्रश्न - साक्षात मुक्ति का कारण कौन सा उपयोग है?

उत्तर - उत्कृष्ट एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण है। उससे पहले के समस्त एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग परम्परा मुक्ति का कारण है अथवा उनके पश्चात ही उत्तर समय में होने वाली एकदेश मुक्ति का कारण है।

प्रश्न - तब तो एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग ही उपादेय व ध्येय होना चाहिये ?

उत्तर - एकदेश निरावरण शुद्धोपयोग क्षायोपशमिक भाव कहा है स्वयं शुद्ध भाव नहीं है। किन्तु शुद्ध-शुद्ध रुप है। अपूर्ण है वह ध्येय अथवा उपादेय नहीं है एक देश निवारण शुद्धापयोग की विषय भूत अखंड, सहज निरावरण, परमात्मा ध्येय उपादेय नहीं है। खंड ज्ञान रुप एक देश निरावरण शुद्धोपयोग ध्येय व उपादेय नहीं है इस अपूर्ण शुद्धोपयोग के ध्यान से एक देश निरावरण शुद्धोपयोग होता भी नहीं है?

प्रश्न - इस उक्त समस्त वर्णन से हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिये।

उत्तर - परम शुद्ध निश्चय के विषयभूत अखंड निज स्वभाव की ये दृष्टि करके अपने आपको इस प्रकार स्वरुपा चरण सहित भावना होनी चाहिये। मै सर्व अन्य पदार्थों से भिन्न निरंजन हूं। स्वत: सिद्ध हूं, अनादि शुद्ध हूं ज्ञानानंद स्वरुप हूं इत्यादि।

प्रश्न - आत्मा के शुद्ध स्वरुप की भावना का क्या फल है?

उत्तर - शुद्धात्म तत्त्व की भावना से निर्मल पर्याय प्रकट होती है जो कि सहज आनंद का पुंज है।

प्रश्न - संसारावस्था में आत्मा शुद्ध तो है नहीं फिर असत्य की भावना में मोक्ष मार्ग कैसे हो सकता है?

उत्तर - सामान्य स्वभाव द्रव्य दृष्टि से परखा गया स्वभाव आत्मा में सदा प्रकाशमान है वह तो अन्योपयोग से तिरोभूत हुआ था, किन्तु इस ही के उपयोग यह स्वभाव प्रत्यक्ष हो जाता है।

* * *

(१५)

संवर के विषय में

नयों का विभाव

चेदण परिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
क्षो भाव संवरो खलु, दव्वासवरोहणे अण्णो।।

मिथ्यात्व गुणस्थान से क्षीण कषाय (१२ वें) (द्रव्य संग्रह गाथा ३४) गुणस्थान से ऊपर मंदता के तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है। और उसके मध्य में गुणस्थानों के भेद से शुभाशुभ और शुद्ध अनुष्ठान रूप तीनों योगों का व्यापार रहता है सो कहते है।

मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मंदता से अशुभोपयोग रहता है। यानी जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थान में है उससे कम दूसरे में और दूसरे से कम तीसरे में है। उससे आगे- असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्त नामक जो तीन गुण स्थान है इनमें परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतमय से शुभपयोग रहता है। तदन्तर-

अप्रमत्तादि क्षीण कषाय तक गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट भेद सेविविक्षित एक देशनय रुप शुद्धोपयोग वर्तता है इनमें से मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुण स्थान में तो संवर है ही नही। और सासादनादि गुणस्थान में क्रम से १६-२५-१०-४-६-१ प्रकृति की बंध व्युच्छिन्ति होती है। ८वें गुणस्थान के पहले भाग में दो, छठे भाग में तीस, सातवें भाग में चार फिर ९वे आदि गुणस्थान में क्रम से ५-१६ और १३वे गुणस्थान में एक प्रकृति की बंध व्युच्छिति होती है। इस प्रकार बंध विच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में अधिकता से संवर जानना चाहिये। ऐसे अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभाशुभ, शुद्ध रुप इन तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया है।

शंका - इस अशुद्ध निश्चय नय से शुद्धोपयोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर - शुद्धोपयाग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्वात्मा है

वह ध्येय होता है। इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ होने से शुद्ध अवलम्बन पने से तथा शुद्धात्मा स्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है और वह "संवर" इस शब्द से कहे जाने योग्य शुद्धोपयोग संसार के कारण भूत जो मिथ्यात्व राग आदि अशुद्ध पर्याय है उनकी तरह अशुद्ध नहीं होता तथा फल भूत के बल भव स्वरूप शुद्ध पर्याय की भांति शुद्ध नही होता किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का कारण एक देश में प्रगट रुप और एक देश में आवरण रहित ऐसा तीसरा अवस्थान्तर रुप कहा जाता है।

शंका - केवल ज्ञान समस्त आवरण से रहित और शुद्ध है इसलिये केवल ज्ञान का कारण भी समस्त आवरण से रहित तथा शुद्ध होना चाहिये क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है।

उत्तर - आपने ठीक कहा किन्तु उपादान कारण भी सोलहवान स्वर्ण रुप कार्य के पूर्व वर्तना वर्णि का रुप उपादान कारण के समान और मिट्टी रुप घट कार्य के प्रति मिट्टी का पिंड स्थास, कोरा तथा कुशल रुप उपादान कारण के समान कार्य से एक देश से भिन्न होता है।

यानी - सोलहवान सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकायें उपादान कारण है सो सोलहवानी स्वर्ण और घट रुप कार्य से एक देश भिन्न है। (बिलकुल सोलहवान स्वर्ण रुप तथा घट रुप नहीं है। इसी तरह सब उपादान कारण का कार्य से एक देश भिन्न होते है यदि सर्वथा उपादान कारण का कार्य के साथ अभेद ही तो स्वर्ण और मिट्टी के दो दृष्टांत है। उनके समान कार्य और कारण भाव सिद्ध नहीं होता। इस कारण सिद्ध हुआ है कि एक देश निरावरणता क्षायोपशमिक ज्ञान रुप लक्षण का धारक एक देश व्यक्तिक्षय और विवक्षित एक देश में शुद्धनय की अपेक्षा "संवर" शब्द से वाच्य जो शुद्धोपयोग स्वरूप मुक्ति का कारण होता है और जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव में नित्य उदघटित यानी-सादी उदीयमान तथा आवरण रहित ज्ञान सुना जाता है वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म का जघन्य जो क्षयोपशम है उसकी अपेक्षा से आवरण रहित है। सर्वथा नही है ?

प्रश्न - ऐसा क्यों है ?

उत्तर - इसका उत्तर यह है कि यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो तो जीव का अभाव हो जावेगा। वास्तव में तो उपरिवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवल और ज्ञान की अपेक्षा से भी वह ज्ञान भी आवरण सहित है तथा संसारी जीव के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिये निगोदिया का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है और यदि नेत्र पटल के एक देश में निरावरण के समान वह ज्ञान केवल ज्ञान का अंश रूप हो तो उस एक देश से भी लोक तथा अलोक का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाय। यानि कि लोक-अलोक प्रत्यक्ष में जान पड़े परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता किन्तु अधिक बादलों से अच्छादित सूर्य के बिम्ब के समान अथवा निबिड़ नेत्र पटल के समान वह निगोदिया को निरावरण कहा जाने वाला ज्ञान सबसे थोड़ा जान पड़ता है यह तात्पर्य है।

***

श्री पार्श्वनाथाय नमः

(१६)

सम्यग्दर्शन के

३ भेद, ४ भेद, १० भेद

उपशम, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक

१ - उपशम सम्यक्त्व अनादि और सादी मिथ्यादृष्टि के क्रमश दर्शन मोहनीय की एक या तीन और अनन्तानुबन्धी की चार इन पाँच अथवा सात प्रकृतियों के उपशम से तत्व श्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व क्षायिक के समान ही अत्यन्त निर्मल होता है । जैसे कीचड़ सहित पानी में कतक फल डाल देने से उसकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ एव निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम से जो आत्मा में निर्मल अथवा विमल रुचि होती है वह उपशम सम्यक्त्व है।

२ - क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी की चार और मिथ्यात्व की तीन इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से जो निर्मल प्रतीति होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

३ - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी-क्रोध-मान-माया-लोभ, मित्थात्व, सम्यगमिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों में किन्हीं के उपशम और किन्हीं के क्षय से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायोपमिक सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

१- सम्यग्दर्शन - निसर्गज जो स्वभाव से अथवा पूर्व भव के सम्बन्ध से होता है।

२- अधिगमज - जो पर के उपदेश आदि से उत्पन्न होता है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद हैं।

सम्यक्त्व के ९ भेदों का वर्णन

क्षयोपशम सम्यक्त्व के ३ भेद

(१)- चार का उपशम (२) - ५ का क्षय और - दो का उपशम (३) ६ का क्षय और एक का उपशम इस प्रकार तीन भेद है।

वेदक सम्यक्त्व के ४ भेद

१ - जहाँ चार प्रकृतियों का क्षय, दो का उपशम और एक का उदय है वह प्रथम क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है।

२ - जहाँ चार या पाँच प्रकृतियों का क्षय, एक का उपशम, एक का उदय है वह द्वितीय क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है।

३ - जहाँ ६ प्रकृतियों का क्षय और एक का उदय है वह क्षायिक वेदक सम्यक्त्व है।

४ - जहाँ ६ प्रकृतियों का उपशम और एक का उदय है वह उपशम वेदक सम्यक्त्व है।

उपशम और क्षायिक के दो भेद

१ - जिसके सातों प्रकृतियों का उपशम होता है वह औपशामिक सम्यग्दृष्टि है। सातों प्रकृतियों का क्षय करने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि है वह सम्यक्त्व कभी नष्ट नही होता। सात प्रकृतियों में से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम हो तो वह क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे मिश्र स्वाद मिलता है। ६ प्रकृतियों का उपशम हो या क्षय हो केवल सातवी प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्व है।

दस प्रकार का सम्यग्दर्शन

१ - जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का श्रद्धान करने से जो सम्यग्दर्शन होता है वह आज्ञा सम्यग्दर्शन है।

२ - जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रदर्शित मुक्ति मार्ग ही यथार्थ है ऐसे अचल श्रद्धान मे जो सम्यक्त्व होता है वह मार्ग सम्यक्त्व है।

३ - निर्ग्रन्थ मुनि के उपदेश को सुनकर जो आत्म रूचि होकर सम्यग्दर्शन होता है वह उपदेश सम्यक्त्व है ।

४ - सिद्धान्त सूत्र सुनने के पश्चात् जो सम्यक्त्व होता है वह सूत्र सम्यक्त्व है ।

५ - बीज पद सुनकर जो सम्यक्त्व होता है वह बीज सम्यक्त्व है ।

६ - संक्षेप से तात्विक विवेचन सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है वह संक्षेप सम्यक्त्व है ।

७ - विस्तार के साथ तत्व विवेचन सुनने के बाद जो सम्यक्त्व होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है ।

८ - आगम का अर्थ सुनकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है ।

९ - द्वादशांग वेत्ता श्रुत केवली के जो सम्यक्त्व होता है । उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते है ।

१० - केवल ज्ञानी का सम्यक्त्व परम अवगाढ़ सम्यक्त्व है । इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त किया उन्होंने जिनेन्द्र भगवान के मार्ग का अनुगमन किया और मार्दव धर्म, विनय सम्पन्नता को स्वीकार किया ।

{१७}

पांच लब्धियां

सम्यक्त्व उदय होने के लिये ५ लब्धिया होती है चरणानयोगान्तगति पंच लब्धियों का वर्णन किया जाता है

१ - क्षयोपशम लब्धि

जब कभी अशुभ कर्मो का अनुभाग शक्ति का विवरण यह है । प्रतिसमय अनत गुण हीन करते हुए उदीरणा होने योग कर लिया जाता है उस अवस्था का नाम क्षयोपशम लब्धि है ।

२-विशुद्धि लब्धि

आयु आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध योग्य परिणाम का होना विशुद्धि लब्धि है ।

३-देशना लब्धि

जीवादिक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का उपदेश करने वाले आचार्यों का निमित्त पाकर उनका उपदेश सावधानी से श्रवण करना देशना लब्धि है ।

(४) प्रायोग्य लब्धि

अनादि काल से उपार्जित किये हुए ज्ञानावरणादि सात कर्मो की स्थिति को घटाकर अन्त कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण कर लेने की योग्यता आ जाना तथा लता, दारू, अस्थि और शैल रूप अनुभाग वाले घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति को घटाकर केवल लता और दारू के रूप में ले आने की शक्ति हो जाना प्रायोग्य लब्धि है । ये चारों प्रकार की लब्धियाँ भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को समान रूप से प्राप्त होती है ।

{५}

करण लब्धि

यह लब्धि केवल आसन्न भव्य जीवों को प्राप्त होती है ।
उसका स्वरूप कहते है --
भेदा भेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को तथा सम्पूर्ण कर्मो के क्षय रूप मोक्ष को और अतीन्द्रिय परम ज्ञानानन्दमय मोक्ष स्थल को अनेक नय निक्षेप प्रमाणों के द्वारा भली-भाति जानकर दर्शन मोहनीय के उपशम करने योग्य परिणामों का होना करण लब्धि है ।
करण लब्धि भव्य के होय अभव्य के नही होय है ।

१-अध करण २-अपूर्वकरण ३-अनिवृत्तिकरण ऐसे तीन करण है । यहां करण नाम कषाय की मंदता है विशुद्ध रूप आत्म परिणामनिका है ।

(१८)

गुरू की यथार्थ पहिचान और वीतरागता

गुरू के अन्दर वीतरागता होनी चाहिये यही गुरू की वास्तविक पहिचान है । यदि बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह है उसको गुरू मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता क्योंकि वहाँ पर राग का बोर्ड लगा हुआ है । जौहरी की दुकान में हीरे होने चाहिए कांच नहीं अत· केवल बाह्य की नग्नता से गुरू की पहचान नही होती । यह फोकट की वस्तु नही जो चाहे सर मुंडाकर मुनि बन जाये बन बैठे गुरू। हित-अहित का प्रश्न है, जीवन मृत्यु का प्रश्न है । ज्ञानी किसी को गुरू इसलिये स्वीकार नहीं करता है कि वह भगवा वस्त्र धारी है वह तो उसको कसौटी पर कसता है अत गुरू वे होते है जो वीतराग शान्त है । जिन्हें गर्मी-सर्दी का, डाँस-मच्छर का, कुत्ते, शेर आदि का, भूख-प्यास आदि का, पुस्तक के हिसाब-किताब आदि कर पुस्तक के छपने मे धन का, बनिये की तरह स्वयं हिसाब रखना तथा तीव्र राग-दोष करना आदि । सात भय से रहित होना, जो सब प्रकार से सिंह के समान निर्भीक हो, लज्जा-ग्लानि से रहित हों, ज्ञान-प्रतिष्ठा तप आदि का मद न हों, मेरी प्रसिद्धी फैलनी चाहिये, मेरी पुस्तक छपनी चाहिये । इस प्रकार का राग सच्चे गुरू का नही है । इस प्रकार जिन्होंने चारों कलाओं को परास्त कर दिया है वे वीतराग सच्चे गुरू है । परिग्रह त्याग व्रत की रक्षा के लिये जो पाँचों इन्द्रियों पर के इष्ट व अनिष्ट विषयों में कभी राग द्वेष नही करते है अर्थात् पाँचों इन्द्रियों पर जिन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है । वही वीतरागी सच्चे गुरू है । आचार्य देव कहते है--आत्मा के शुद्धभाव सहित मुनि जन चार आराधना प्राप्त करके मोक्ष के परम सुख का अनुभव करते है । किन्तु जो जीव बाह्य में मुनि होकर भी अतरंग में सम्यक्त्वादि भाव शुद्धि से रहित है । वह तो दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता हुआ दु·खी होता है ।

नियम सार गाथा २०२

अर्थ -- हे मुनि महाराज जिस मुनि के पास समता नहीं है । वह कितना

भी उपवास करे, तपस्या करे उससे कुछ लाभ नहीं होता इसलिये आकुलता रहित शांति का भवन शुद्धात्म तत्व का भजन करो ।

नियम सार गाथा २०३

अर्थ :-- हर भव में भय को देने वाला सम्पूर्ण सदोष क्रिया को छोड़कर तथा मन, वचन, काय की बुराई को छोड़कर प्राणी अन्तर कर्म की सिद्धि होने से केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । उसके बाद एक मात्र तत्व ज्ञान को जानकर के सदा स्थिर रहने वाली शांति स्वरूप आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है ।

(१९) मुनि लिंग

लिंग मुनि को धारि पाप जो भाव बिगाड़े ।
वह निंद के पाप आपका अहित विथोर ।।
ताके पुजै, धुर्वें वंदना करै जु कोई ।
वे भी तैसे होई साथी दुरगति के लेई ।।
इससे जे साँचे मुनि भये भाव शुद्धि थिर रहे ।
तिनि उप देशया मारग लगे, ते साँके ज्ञानी कहे ।। १ ।।
अंतर वाहन जु, शुद्ध जु जिन मुद्रा के धारि ।
भये सिद्ध आनन्द मय बन्दू जोग संवारि ।।

(२०) भेद विज्ञान

पाषाणेणु यथा हेम, दुग्धं मध्ये यथा घृतम्, तिल मध्ये यथा तैलं, देह मध्ये तथा शिव , काष्ठ मध्ये यथा अग्नि शक्ति रूपेण तिष्ठन्ति, अथ आत्मा शरीयेषु -- यो जानाति स पंडित·

अर्थ -- जिस प्रकार से पाषाण में स्वेना, दूध मे घी, तिल में तेल शरीर में शिव, लकडी मे अग्नि, शक्ति रूप से विद्यमान रहती है उसी प्रकार से शरीर में आत्मा विद्यमान रहती है ऐसा जो जानता है वह पंडित है ।

(२१)
इन्द्रियों की विजय बड़ी कठिन है

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति ।

अर्थ :-- पाँच इन्द्रियों के विषय बड़े बलवान् होते है जो विद्वान तक को आकर्षित कर लेते है ।

जिन लोगों को ब्रह्मचर्य का पालन करना है उनको स्त्री संगम करना, पेट भर भोजन करना, साज श्रृंगारादिक करना छोड़ देना चाहिए । तभी ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है । इस विषय में सब लोगों को निर्मल परिणति से रहना चाहिये । आप लोग ब्रह्मचर्य का पालन करें यही हमारी भावना है । इससे बढ़कर और कोई धर्म नही है ।

हे भव्य -- इस मनुष्य जन्म में भी सम्यक्त्वादि श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति होना ही परम सार है वह धर्म ही संसार समुद्र से पार करने वाला है, हे, सुख का भंडार है और स्वर्ग मोक्ष का देने वाला है ।

वह धर्म दो प्रकार का है -- मुनिधर्म और श्रावक धर्म । श्रावक का यही धर्म है - ज्ञानियों को सोने की भाँति देव-गुरू और सिद्धान्त की परीक्षा करके धर्म को ग्रहण करना चाहिये ।

(२२) सम्यग्दृष्टि का भाव

स्वयं के पिता को किसी के द्वारा गाली देने में आवे तो पुत्र सहन नहीं कर सकता । उसी प्रकार सर्वज्ञ के विरूद्ध कहने वाली बात को धर्मी जीव सहन नहीं कर सकता औरयह प्ररूपण असत्य है ऐसा विकल्प आये बिना रहता नहीं है जो ऐसा विकल्प न आये तो वह मिथ्या दृष्टि है । अर्थात् - समस्त शास्त्रों को भी पढ़ जाओ, मुनियों के संघ की भी पूर्ण सेवा करो दृढ़ रूप से तप का भी पालन करो, प्रचंड ध्यान का भी अभ्यास करो, विनय भी करो और समस्त तत्वों के ज्ञाता भी बन जाओ यदि चित्त में विषयों की अभिलाषा हो तो शास्त्र ज्ञानादिक का कुछ भी फल नहीं होता । अन्यत्र अभिलाषा की तो क्या बात यदि मुझे मोक्ष मिल जाय । यह मोक्ष में भी अभिलाषा हो जाय तो वह तपादि कार्यकारी नहीं है ।

२३. आदर सत्कार करना

यदि आप दूसरों से आदर चाहते हो तो उनका भी आदर करना सीखो यदि आप दूसरों का अनादर करोगे तो आपको उनसे भी अनादर

मिलेगा और परस्पर प्रवृत्तियाँ दूषित होती जायेंगी जिनका फल हिंसात्मक प्रवृत्ति सदैव से हुयी है । और हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ सदैव दु:ख देती एवं नाश को निमन्त्रण देती है । अतएव हे मानव ! अनादर की प्रवृत्ति को त्याग करके सबके साथ आदर भाव को प्राप्त होना चाहिए, फिर सुख शांति में बाधा नहीं हो सकती ।
भगवान राम ने भोगो को अहितकर जानकर अपने शासन काल में कहा था--

नाहँ रामो न मे वांछा न च भोगेषु मे मनः ॥
शांतिमाधातु मिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

अर्थ -- मै प्रजा का रमण करने वाला न तो राम हूं और न मेरी सांसारिक पदार्थों मे कोई अभिलाषा है मै जिनेन्द्र की तरह अपनी आत्मा में ही शांति प्राप्त करना चाहता हूं ।

भगवत आदि पुराणों में भगवान ऋषभदेव स्वामी को दिगम्बर मुद्रा धारी माना है । श्वेताम्बर शास्त्रों में भगवान महावीर को दिगम्बर मुद्रा धारी बताया है । अत· सिद्ध होता है कि अनंत दु.खों से छूटने का सरल उपाय दिगम्बर जैन मुद्रा है । और वह मुद्रा पांच इन्द्रिय और मन को जीतने से प्राप्त होती है तभी अनंत सुख प्राप्त होगा ?

मै कब स्वतन्त्र बिहारी, इच्छा रहित शांत, हाथ के पात्र में भोजन करने वाला कर्मो को नाश करने की सामर्थ्य वाला दिगम्बर होऊँगा ?

॥ इति शुभम ॥

मद्यपान व्यसन के दोष

प्रश्न · मद्यपानाद् भवेत् किं मे वदात्मशान्तये प्रभो ।
हे प्रभो ! मद्यपान से क्या हानि होगी यह कृपा कर समझाइये

(अनुष्टुप्)

चातुर्यं प्रवरा-बुद्धिर्लज्जापि मद्यपायिनाम् ।
कुलजाति पवित्रत्व नश्यति धर्मभावना ॥ ८२ ॥
स्वैराचाराः स्पृहा दुष्टा वर्धन्ते भवदुःखदाः ।

त्यक्त्वेति मद्यपानादि पिबन्तु स्वात्मनो रसम् ॥ ८६ ॥

मद्यपान यह तीसरा व्यसन है । यह ऐसा कुव्यसन है जो आत्मा की बुद्धि पर सीधा कुठाराघात करता है जैसे मस्तक विकृत हो जाने से बड़े से बड़े बुद्धिमान चतुर तत्वज्ञ पण्डित की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है । इसी प्रकार मद्यपान से मनुष्य का चित्त विकृत हो जाता है और उसे कर्तव्या कर्तव्या का बोध शेष नही रहता । मद्यपायी लोग उत्तम मद्य उसे ही मानते है जो सुध-बुध को भुला दे । जो मद्यप थोड़ा भी होश में रहता है मद्यप लोग उसे हल्के दर्जे का मानते है । जिस मद्य की उत्कृष्टता ही अज्ञान, विस्मरण या विवेकाभाव का प्रतीक है उसके सेवन करने वाले मनुष्य में बुद्धि चातुर्य--विवेकशालिनी बुद्धि के सद्भावकी आशा करना विकृत मस्तक का कार्य है । जैसे बालू से तेल नही निकाला जा सकता वैसे ही मद्यपायी विवेकी नही हो सकता ।

मद्यपायी को जब नशा उतरने पर होश आता है और उस समय उसे व्यावहारिक दृष्टि से कुछ बोध होने लगता है तब ही वह उस किञ्चन्मात्र बुद्धि का नाश करने के लिए पुन मद्यपान कर लेता है । होश में रहना उसे इष्ट ही नहीं, उसे तो अनिष्ट ही इष्ट है । जिसमें आत्मविस्मृति ही गुण है वहां चातुर्य और श्रेष्ठ बुद्धि की कल्पना या आशा करना मूर्खता है । सर्व साधारण पशु, पक्षी व कीट पतंगादि में भी खाने, पीने, सोने व विषय भोग करने का जो ज्ञान होता है उतना भी ज्ञान मद्यपायी को नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में मानव योग्य बुद्धि की उसमें आशा कैसे की जा सकती है ।

विवेक के अभाव में लज्जा भी चली जाती है । अविवेकी लज्जित क्यों होगा ? कोई बुरा काम करने वाले व्यक्ति को उसका विवेक जागृत होने पर ही लज्जा का अनुभव होता है । पर जिसे विवेक खोने के लिये ही मद्य पीना है उसे अपने दोष पर कभी लज्जा नहीं आयेगी यह सोचा ही नही जा सकता । निर्लज्ज, मनुष्य वेश्या सेवन, परधनापहरण, अभक्ष्य भक्षण, अपवित्र वस्तु सेवन, यहाँ तक कि स्वमाता से भी विषय सेवन जैसे निन्द्य कर्मों को करने में आगा पीछा नहीं देखता व्यभिचारिणी स्त्रियों की संगति कर उनमें ही सन्ताप उत्पन्न करता है और इस तरह अपनी जाति और कुल को कलंकित कर उसे अपवित्र बनाता है । आचार नामक वस्तु उसके लिए कुछ है ही नहीं । वह स्वेच्छाचारी हो जाता है ।

स्वेच्छाचारी मनुष्य की धर्म भावना नष्ट हो जाती है । क्रूर और

हिंसक भावनाएं जागृत हो जाती है । उसकी मानसिक इच्छाएं सदा दूषित रहती है । इच्छा न रहने पर भी वह अकृत्य को करता है । असेवन का सेवन करता है । अगम्य में गमन करता है । वह अपनी सदिच्छाओं को पूरा करने के लिए स्वय असमर्थ है । वह अपने आपमें पराधीनता का अनुभव करता है । दुखी होता है और उस पराधीनता से छूटने की बार-बार इच्छा करता हुआ भी उससे अपने को छुड़ा नहीं पाता । जैसे पानी में बहने वाले व्यक्ति को रीछ पकड़ ले तो उसे उससे पिण्ड छुड़ाना असम्भव जान पड़ता है । ऐसे ही नशे में बहने वाले इस मद्य को भी कहीं बचने का ठिकाना नहीं मालूम होता । वह दिन-दिन घुलता है । परेशान होता है । इस दुःख से छुटना चाहता है पर अपनी असावधानी देख फिर आत्मविस्मृति के लिए मद्य ही पी लेता है । और इस दुर्दशा से अन्त में मरण को प्राप्त हो दुर्गति का पात्र बनता है । ऐसा जानकर इस व्यसन का परिहार कर और स्वात्मानन्द रस का पान कर सुखी बनना चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

प्रश्न - खेटक्रीडाफलं लोके किमस्तीति गुरो वद ।

हे गुरो ! खेटक्रीडा अर्थात् शिकार व्यसन का क्या फल है कृपा कर कहिए --

अनुष्टुप्

खेटक्रीडादिलुब्धानां क्रूरता मूढताऽगतिः ।
वर्द्धते पशुता दुष्टा सन्मार्गनाशिनी स्पृहा ॥ ८४ ॥
खेटक्रीडां भयाक्रान्तां ज्ञात्वेति दुःखदां सदा ।
त्यक्त्वा स्वात्मपदे नित्यं रमन्तां स्वात्मशोधकाः ॥ ८५ ॥

मांसादि सेवन करने का व्यसन जिन्हें पड़ गया है वे शिकार खेलने की आदत बना लेते है कोई अपने शौर्य प्रकाशन की इच्छा से, कोई अपने समाज में कीर्ति सम्पादन की इच्छा से और केवल अपना शौक पूरा करने के इरादे से अपनी कुत्सित इच्छाओं को पूरा करने के इरादे से दूसरे प्राणियों का वध करते है । इस कुकृत्य को करते हुए उनमें दया के स्थान में कौतूहल जागृत होता है । क्रूरता जागती है एक तड़फते हुए प्राणी को देखकर सज्जन को जहाँ करूणा उत्पन्न होती है वहाँ व्यसनी को आनन्द आता है यह आसुरी आनन्द ही क्रूरता है । यही सन्मार्ग से भ्रष्ट कराने वाली महा मूढता है । हिंसक जन्तुओं की तरह यह पशुता उसकी दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है । प्रकारान्तर से वह कुछ समय में नरतनधारी होने पर

भी अपने परिणामों की जाति द्वारा पशु से भी भयंकर हिंसक और अविवेकी बन जाता है । इस कुकृत्य फल परलोक में नरकादि गति की प्राप्ति है । ऐसे कुमानुष का मरण इस लोक में भी बहुधा वन जन्तुओं द्वारा ही होता है । यदि वह तिर्यग्गति में भी उत्पन्न हुआ तो स्वयं निर्बल होता है । और दूसरे सबल प्राणियों का भोग्य बनता है जिनको उसने पूर्वजन्म में सताया था । द्वीन्द्रियादि जन्म में कीटादि होकर भी वह पक्षियों का आहार बनता है । इस प्रकार महान् भय और दुख को देने वाले इस कुव्यसन को त्यागकर आत्मशोधकों को स्वात्मा में ही रमण करना चाहिए ।। ८४ - ८५ ।।

प्रश्न :--

हे गुरूदेव ! वेश्यासक्ति का क्या फल है वह मेरे आत्महित की दृष्टि से कहिए :--

वेश्यारतस्य शुचिता सुखदा न शान्तिः ।
बुद्धेर्बलं सुजंनता नरताऽपिनश्येत् ।।
ज्ञात्वेति धर्मरसिकैर्न हि तत्प्रसंड्ग.: ।
कार्योयतः खलु भवेत् विमलः किलात्मा ।। ८६ ।।

व्यभिचारिणी स्त्रियां जो व्यभिचार द्वारा ही अपना उदर निर्वाह करती है, जो बिना पति के होते हुए नगर के अनेक विटपुरूषों द्वारा नगरपालिका के पुरूषालयों की भांति सेवित होती है वे वेश्या शब्द के द्वारा व्यवहृत होती है । वेश्याव्यसनी मनुष्य बहुत दु.खी होता है । सबसे प्रथम तो वेश्या अपने ग्राहक से किञ्चन्मात्र स्नेह न होते हुए भी अत्यन्त स्नेह का प्रदर्शन करती है जिससे वह व्यसनी जाल में मछली की तरह उसके जाल में फंस जाता है । वह उस जाल से अपने को फिर मुक्त नही कर पाता । वह अपना सर्वस्व धन, धर्म, वैभव, ज्ञान, विवेक, कीर्ति, दया, सद्व्यवहार और नागरिकता उस कुटिला के चरणो में चढ़ा देता है ।

चारूदत्त की कथा तो शास्त्रों में प्रसिद्ध है । परन्तु वेश्याव्यसनी की बरबादी अनेक लौकिक उदाहरण प्रत्यक्ष भी देखे जाते है । वेश्या अपने ग्राहक को मद्यपान के व्यसन में फंसाए बिना नही रहती । मद्यपान से उसे यह लाभ होता है कि मद्यप उसके नशे में अपना होशहवास खो बैठता है । चित्तभ्रम होने से कभी अपने भले की बात सोच ही नहीं पाता । यदि वह मद्यपान न करे तो अधिक सम्भव है कि वह कभी अपनी बरबादी,

अपकीर्ति और धन की लूट आदि हानियों को देखकर सतर्क हो जाये और वेश्या की संगति छोड़ दे। इस भय से वह वेश्या उसे शराब पीने की बुरी आदत जरूर डाल देती है। जब वह मनुष्य शराब की बेहोशी में अनवरत व्यभिचार करते-करते शरीर से भी बेकाम हो जाता है, निर्धन हो जाता है तथा समाज, सज्जन-गोष्ठी। परिवार और मित्र आदि सबसे वञ्चित हो दर-दर की भीख मांगने योग्य हो जाता है तब वह वेश्या उसे घर से इस प्रकार निकाल देती है जैसे बिल्ली मृत पशु को रक्त विहीन देखकर छोड़ देती है।

घर के लोग हिस्सा बांट कर पहिले से ही उसे अलग कर दते है ताकि वह अपने हिस्से का ही धन बरबाद करे सब घर का धन व आजीविका नष्ट न कर सके। वेश्या द्वारा परित्यक्त निर्धन व्यक्ति को कोई कुटुंबी आश्रय देने को तैयार नही होता। इतना ही नही, उस व्यभिचारी हीनाचारी मद्यपायी को समाज का कोई भी व्यक्ति पास बैठाने को तैयार नही होता। उससे लोग ऐसे बचते है जैसे छूत की बीमारी से बचा जाता है। कोई धनी उससे लेन-देन का व्यापार का व्यवहार नही करना चाहता, क्योंकि वह जानता है कि इसके पास पैसा तो है ही नहीं साथ ही दुर्गुणी होने से वह विश्वास का पात्र भी नही रहा। व्यसनी होने से यह अधिक संभव है जो यह हमारे द्वारा प्रदत्त धन का उपयोग अपनी आजीविकार्थ न करके मद्यपान में ही करे या फिर किसी वेश्या को दे दे।

आजीविका के अभाव में या तो वह लज्जाविहीन हो दर-दर भिक्षाटन करता है या फिर चोरी या द्यूत द्वारा अपना कष्ट दूर करने का प्रयत्न करता है। वेश्या व्यसनी यदि चोरी या द्यूत क्रीड़ा द्वारा धनोपार्जन कर भी ले तो वह उसे वेश्या को ही देगा या मद्यपान करेगा। वेश्याओं के पास ऐसे ही अनेक चोर उचक्के, डाकू, शराबी और माँसभक्षी पुरूष आते जाते रहते है जो उसकी दु:संगति को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते है।

वेश्या, कंचन और मद्य ये तीन यदि एक एक भी हो तो मनुष्य को सर्वथा अविवेकी, निर्दय, निर्लज्ज और पराधीन बना देते है। कदाचित् तीनों का योग हो जाये तो विनाश के लिये परम औषधि, जिसे महाविष भी कहा जा सकता है, तैयार हो गयी ऐसा मान लेना चाहिये। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, सुख और शान्ति का अभिलाषी है उसे परिवार चाहिए, समाज चाहिए और सत्संगति चाहिए। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नही रहना चाहता। वह साधु भी हो जाये तो भी उसे वहां समाज अपने सुख शान्ति के लिए चाहिए फिर संसारी गृहस्थ की

तो बात ही क्या है ? वह तो सबसे अलग अकेला रह ही नही सकता । पर यह वेश्याव्यसन ऐसा जो वह उस प्राणी को संसार में जीवित अवस्था में ही सबसे विमुक्त कराकर अकेला कर देता है मनुष्य परिवार मित्र व समाज से परित्यक्त हो बहुत त्रास पाता है और अन्त में चलते चलते ऐसे मनुष्य के संपर्क में पहुंच जाता है जो ऐसे ही त्रस्त हो सबसे विमुक्त है और अनेक पापों द्वारा अपना जीवन यापन करते है । ऐसी संगति ही सर्वनाश की निशानी है । किन्तु आत्मकल्याण की कामना करने वाले मनुष्य को इस विनाशक व्यसन से बचना चाहिए । और जिन कार्यो से अपना हित हो उनमें सावधान रहना चाहिए । व्यसनी व्यसन का दूर से ही परित्याग करना चाहिए ॥ ८६ ॥

प्रश्न -- स्तेयफलं गुरो किं वदास्ति शान्तये मुद्रा ।

हे गुरूदेव ! चोरी करने का क्या फल है कृपाकर शान्ति प्राप्ति के लिए मुझसे कहें --

(अनुष्टुप्)

स्ववित्तमपि मे नास्ति पुण्यक्लथं कथं परम् ।

ज्ञात्वेति तत्त्वत: स्तेयं न कुर्वन्त्यात्तिन: ॥ ८७ ॥

स्वपरज्ञानशून्या हि स्तेयं कुर्वन्ति पापिन: ।

तत: स्वानन्दतृप्त: सन् वसतु स्वात्ममन्दिरे ॥ ८८ ॥

लोक में जो धन माना जाता है वह भी पुण्य कर्मोदय से प्राप्त होता है । बिना पुण्य के सातोत्पादक सामग्री का संयोग प्राप्त नही होता । धन यदि लौकिक सुख को उत्पन्न करता है तो पुण्य का फल है । यदि वह असाता और आकुलता प्राप्त कराता है तो पाप का फल है । एकान्त नहीं है । जो यह धन सम्पत्ति राज्य, परिवार, पुत्र कलत्र सब पुण्य के फल है । यदि इससे संसारी प्राणी साता का अनुभव करे तो ही ये पुण्य सामग्री है, अन्यथा असाता की उत्पादक हो तो ये सब पापोदय की सामग्री है । और इनसे विलग होना ही पुण्य का उदय है । सर्वसाधारण मनुष्य धनादि से अपने को सुखी अनुभव करता है इस दृष्टि को लक्ष्य में रख कर ही श्री आचार्य महाराज ने इसे पुण्य से प्राप्त होने वाली सामग्री लिखा है । जंगल में जब डाकू शस्त्र लेकर धन लूटने आते है उस समय यदि कोई धनी सामने आ जाता है तो वह शस्त्राघात से पीड़ित किया जाता है साथ में जो निर्धन है वह छोड़ दिया जाता है । ऐसे अवसर पर धन विपत्ति लगने वाला होने

से पापोदय की निशानी हुई । और निर्धनता पुण्य की सामग्री हुई । नगर मे आग लग जाये तो धनी का धन महान् दु:खोत्पादक होने से पाप सामग्री है और निर्धनता सुखोत्पादक होने से पुण्य की सामग्री है । मोक्षमार्ग साधन के लिये बाधक अनेक विकल्प जाल मे फंसाने वाली अनिष्ट कारक विभव सामग्री पापरूप है और शीघ्र ही गार्हस्थिक जाल से विमुक्त करा देने वाली इष्ट कारक निर्धनता पुण्य रूप है ।

सारांश यह है कि कोई भी सामग्री एकान्त रूप से पुण्य या पाप रूप है । जो ससारी प्राणी को इष्टकारक सुखसाधन हो जाये वह सब पुण्य का फल है । और जो भी सामग्री अनिष्टकारक दु:ख साधन रूप हो तो वह पाप कर फल है । पुण्य से प्राप्त सामग्री को भी सम्यग्दृष्टि अपनी वस्तु नही मानता । वह जानता है कि यह सब स्वात्म स्वरूप व्यतिरिक्त पर पदार्थ है । मेरा तो केवल आत्मा है । दर्शन, ज्ञान, और चारित्रात्मक रत्नत्रयस्वरूप धर्म ही मेरा वैभव है । ऐसे विवेकी मनुष्य के द्वारा परधानापहरण रूप निन्द्य स्तेयकर्म कैसे हो सकता है ।

जिन मिथ्यामतियों को स्वपर का विवेक नहीं जागृत हुआ और जिन्होंने अभी तक आत्मतत्व को ही नहीं जाना वे अपने मनुष्य के जन्म को ही अपना जन्म मानते है, शरीर का ही अपना स्वरूप समझते है और कुटुम्ब परिजन को अपना स्नेहभाजन जानते है । उन्हें हितैषी समझकर उनसे मोह करते है । उनके संयोग में सुखी और वियोग में दुखी होते है । धन, सम्पत्ति, मकान और राज विभव आदि जो सामग्री उन्हें उनके कर्मोदय से प्राप्त है उस सबमें राग द्वेषमय प्रवृत्ति करते है । यह अज्ञान भाव जिसके हृदय में जमा है वह अविवेकी ही धनादि को सम्पूर्ण का साधन मान उसमें मूर्च्छित होते है । वे उनपर पदार्थो मे ऐसे तन्मय हैं जो उनके लाभ में अपना परम लाभ और उनकी हानि में अपनी परम हानि समझकर महान् दुखी होते है । ऐसे ही मोही जीव उसकी प्राप्ति के लिये परधनापहरणरूप स्तेय पाप को अंगीकार कर लेते है । एक बार इस पाप को करने वाला उसे बार बार करता है । चोरी उसकी आदत में आ जाती है । बड़े से बड़ा भी वैभवशाली यदि इस व्यसन का शिकार हुआ तो वह सदा परधन पर गृद्ध की तरह दृष्टि रखता है । छटांक भर भी सौदा बेचेगा तो ४।। तोला देगा, सेर भर देगा तो १५।। छटांक तोलकर देगा । छटांक भर लेगा तो ५।। तोला लेगा, और सेर लेगा तो १६।। छटाक लेगा । उस आधे तोला समान की, चाहे वह कौड़ी कीमत की हो, पर उसे बिना लिये नहीं रह सकता यह इस व्यसन की महिमा है । लाखों रूपयों का व्यवसाय करने वाले धनी मानी इज्जतदार

व्यक्ति भी एक पैसे की भाजी खरीदने में, तौल से ज्यादा चार पत्ते भाजी चोरी से उठाकर अपने पल्ले में रखते हुए देखे जाते है । वे भले ही दस बीस हजार रूपया दान दे देते है, खर्च करते है, किन्तु चोरी का व्यसन (बुरी लत) होने से वे भाजी के चार पत्तों की चोरी छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते है ।

आत्मस्वरूप के बोध से विमुख व स्व-परका भेद न जानने वाले मिथ्यादृष्टियों की ऐसी ही दशा है । वे बिना चोरी के जीवन-निर्वाह नहीं करते । किन्तु स्व-परविवेकी सम्यग्दृष्टि पुरूष सदा लेन-देन व व्यापार व्यवहार में यह चिन्ता रखता है कि मेरे पास अन्याय से कोई पर वस्तु न आ जाय किसी की एक कौड़ी भी मेरे पास न रह जाये । वह विवेकी कभी स्तेय को स्वपन में भी पास नहीं आने देता वह स्वात्मानन्द के भोग में तृप्त होकर ही जीवन यापन करता है । यही कारण है कि शीघ्र ही भवभ्रमण का विच्छेद कर शाश्वत मुक्ति सुख का पात्र हो जाता है ॥ ८७-८८ ॥

प्रश्न -- परस्त्रीसेवनस्यास्ति किं फलं मे गुरो वद ।

हे गुरूदेव ! परस्त्रीसेवन का क्या फल है कृपाकर मुझसे कहे --

(इन्द्रवज्र)

रक्तोऽस्ति यः कोऽपि किलान्यनार्या तस्यापमानोऽपि पदे पदे स्यात् ।
दुःखप्रदा वैरविरोधवृद्धिः ज्ञात्वेति कार्यो न च तत्प्रसंगः ॥ ८९ ॥

जो मनुष्य परस्त्री में रमण करता है या जो स्त्री परपुरूष की इच्छा करती है उनका पतन अवश्यंभावी है । लोक में ये अपकीर्तिके भाजन बनते है । पद-पद पर उनका अपमान होता है अनाचार की वृद्धि होती है । कुल और आचार की पवित्रता नष्ट होती है । यह पापी स्वयं तो गिरता ही है साथ ही परस्त्रियों को तथा अपनी संतान परम्परा को भी पापपंक में गिरा जाता है । व्यभिचारी माता पिता की सन्तान हजारों वर्ष तक उनके नाम का स्मरण कर रोती है तथा उनके उस दुष्कृतपर थूकती है । वह इस जन्म में सर्वथा निरपराध और सदाचारिणी होने पर भी पूर्व जन्म के पापोदय से ऐसे हीन पुरूषों की सन्तान होकर पदपद पर दुखी और अपमानित होती है उस अनर्थपरम्परा के उत्पादक होने से वह व्यक्ति अवश्य नरक का पात्र होता

है ।

जैसे हिंसा आदि अन्य पापों का सम्बन्ध उस व्यक्ति को हानि पहुंचाने वाला होता है वैसे व्यभिचार केवल उस व्यक्ति को ही हानि पहुंचाने वाला नहीं है । बल्कि उसकी सन्तान परम्परा को भी उससे हानि उठानी पड़ती है । कुल का पवित्रता संतान की पवित्रता माता पिता के सदाचार पर है । असदाचारी माता पिता अपने भावी कुल की अवनति और अपवित्रता के हेतु है ।

तथा व्यभिचार से परस्पर वैर भी बढता है और विरोध भी होता है । सामाजिक पवित्रता और आत्मशान्ति नष्ट होती है । वेश्याव्यसनी की अपेक्षा यह परस्त्रीव्यसनी घोर पापी है । इसका कारण है यद्यपि वेश्याव्यसनी का पतन स्त्री व्यसनी की अपेक्षा अत्यधिक होता है तथापि उसका पतन उसके आत्मातक ही सीमित है । वह समाज को गंदा नहीं करता । व्यक्तिगत हानि कर स्वयं को जरूर मिटा लेता है, किन्तु पर स्त्री गमन करने वाला समाज का कोढ़ है जो उसे भी मिटाकर के रहता है ।

सारांश यह है कि वेश्याव्यसनी अपना व्यक्तिगत पूर्ण विनाश करता है और परस्त्री व्यसन वाला अपना विनाश तो करता ही है साथ ही अपने कुल पर कलंक लगाता है । अपनी संतान को व्यभिचार जात संतान बनाता है । समाज में आनाचार फैलाने का हेतु बनता है अत· वह अत्यधिक पातक का भाजन होता है । उक्त व्यसन का परिपूर्ण स्वरूप विचार कर विवेकी पुरूषों को इससे सदा ही दूर रहना चाहिए ॥ ८९ ॥

* * *

जीव में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य--

स्वामी कुंदकुंदाचार्य विरचित पंचास्तिकाय गाथा नं० ६० पर्यायार्थिक नय से व्यय और जन्म होते है किन्तु द्रव्यार्थिक नय से नहीं होते ऐसा कहने में कोई पूर्वा पर विरोधी नहीं है ।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होई उप्पादो ।
इदि जिणवरेहिं अण्णोण्ण विसद्धमविसद्ध ॥ ६० ॥

अर्थ :-- पर्याय की अपेक्षा से जीव की विद्यमान पर्याय का नाश व अविद्यमान पर्याय का जन्म होता है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है । यह बात परस्पर विरोध रूप है तथापि विरूद्ध नहीं है ।

विशेषार्थ :-- औदारिक भाव की अपेक्षा से आयु के नाश से मनुष्य पर्याय जो विद्यमान है उसका नाश होता है गति नाम कर्म के उदय से अविद्यमान देवादि पर्याय का जन्म होता है यह बात सर्वज्ञ भगवान ने कही है ।

यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि आगम में सत् रूप विद्यमान जीव का नाश तथा असत् रूप अविद्यमान जीव का जन्म नहीं होता ऐसा कहा है । यहाँ कहा है कि सत् रूप जीव का नाश तथा असत् रूप जीव का उत्पाद होता है इसलिये विरोध आ जायेगा ।

आचार्य उत्तर देते है कि -- विरोध नहीं आयेगा । आगम में द्रव्यार्थिक नय से उत्पाद-का विरोध किया गया है । पर्यायार्थिक नय से उत्पाद व्यय होते है ।

ऐसा कहा गया है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय परस्पर अपेक्षावान् है यद्यपि पर्यायार्थिक नय से किसी पर्याय की अपेक्षा जीव द्रव्य आदि सान्त कहा गया है तथापि शुद्ध निश्चय नय से जो अनादि अनन्त एक टंकोत्कीर्ण ज्ञाता मात्र एक स्वभावधारी निर्विकार सदा आनंद स्वरूप जीव द्रव्य है । कुंदकुंदाचार्य कहते है ।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।

गुण पज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।। १५ ।।

अर्थ .-- सत् रूप पदार्थ का नाश नही होता है वैसे ही अस्वभाव या असत् का जन्म नहीं होता है । पदार्थ अपने गुणों की पर्यायों में उत्पाद व्यय करते रहते है । (पंचास्तिकाय)

विशेषार्थ .-- जैसे गोरस एक द्रव्य, उसका अपने गोरस नाम के अव्यय रूप से न उत्पाद न व्यय है तथापि गो रस के वर्ण रस, गंध, स्पर्श गुणों में अन्य वर्ण रस गंध स्पर्श परिणाम होते हुए उस गो रस की जब नव नीत नाम की पर्याय नाश होती है तब घृत नाम की पर्याय उत्पन्न होती है । वैसे ही सत् रूप सदा रहने वाली जो जीवादि द्रव्य है । उनका द्रव्यार्थिक नय से कभी नाश नहीं होता और जो असत् या अविद्यमान जीवादि पदार्थ है । उनका द्रव्य रूप

से कभी उत्पाद नहीं होता है तथापि गुणों की पर्यायों के अधिकरण में जीवादि द्रव्य पर्यायार्थिक नय से यथा संभव उत्पाद-व्यय करते है।

स्याद्वाद नय से नित्य और अनित्यपना दोनो एक द्रव्य में बिना किसी विरोध के सिद्ध होता है। सर्वथा नित्य पदार्थ भी व्यर्थ है सर्वथा अनित्य पदार्थ भी व्यर्थ है। जिसमें दोनों स्वभाव होंगे वही पदार्थ कुछ कार्य कर सकता है। स्वामी समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसा में कहते है।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्,

व्येत्युदेति विशेषान्तं सहैक-त्रो-दयादि सत् ॥ ५७ ॥

अर्थ -- अपने द्रव्य-पने की अपेक्षा न जन्मता है न नष्ट होता है वही द्रव्य अनन्य रूप से अपनी सर्व पर्यायों में रहता है परन्तु विशेष या पर्याय की अपेक्षा वही द्रव्य नाश भी होता है और जन्मता भी है। हे, अर्हन् आपके मत में वही सत् द्रव्य है। जिसमें एक साथ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो।

श्री कुंदकुंदाचार्य आगे कहते है। पर्याय धारण का कारण नर नरकादि गति नाम कर्म का उदय है ऐसा कहते है।

णेरइय विरिय मणुआ देवा इदि णाम संजुदा पयडी।

कुव्वंति सदो णासं असदो भास्स उप्पादं ॥ ६१ ॥

(पंचास्ति काय)

जैसे नरक, पशु, मनुष्य, देव ये गति नाम कर्म की प्रकृतियाँ सो विद्यमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का जन्म करती है।

जैसे जल समूह समुद्र रूप से अविनाशी है तो भी उसकी तरंगो में उपजना विनशना हुआ करता है। वैसे ही यह जीव स्वाभाविक आनन्द-मयी एक टंकोत्कीर्ण ज्ञाता, दृष्टा स्वभाव से नित्य है तो भी व्यवहार-नय से अनादि काल के प्रवाह रूप कर्मो के उदय के वश से निर्विकार शुद्धात्मा की प्राप्ति से हटा हुआ नरक गति आदि कर्मो के उदय से एक गति को छोड़कर दूसरी गति में जन्मता रहता है यह पर्याय पलटने की अपेक्षा से कहा है वास्तव में सदृश विदृश पर्यायें सदा होती रहती है जैसा कि कहा है :--

अनादि निधने द्रव्ये स्वपर्याया: प्रतिक्षणं ।
उनमज्जन्ति निमज्जन्ति जल-कलौल वज्जले ।

अर्थ :-- अनादि से अनंत काल तक बने रहने वाले द्रव्य में अपनी पर्याय प्रतिसमय प्रगट होती रहती है । जैसे जल में तरंगे उठती बैठती रहती है ।

इस प्रकार असत् का उत्पाद सत् का विनाश सिद्ध होता है तो भी यह जीव द्रव्यपने से वही अपनी सब पर्यायों में रहता है । पंचाध्यायीकार कहते है ।

आयान्त न्याय-वलादतथ त्रितय मेक कालं स्यात् ।
उत्पन्न मंकुरेण च नष्टं वीजेन पादपत्वं तत् ॥ २३८ ॥

अर्थ '-- यह बात न्याय बल से सिद्ध हो चुकी उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों एक ही काल है वृक्ष का अंकुर रूप से जिस समय उत्पाद हुआ है । उसी समय उसका बीज रूप से व्यय हुआ है । और वृक्ष दोनों अवस्थाओं में मौजूद है अष्ट-सहस्री में इस प्रकार कहा है ।

घट, मौलि, स्वर्णार्थी नाशोत्पाद स्थिति व्ययम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थं जनोयाति सहेतुकम् ॥

(अष्टसहस्री)

अर्थ '-- एक मनुष्य को सोने के घड़े की आवश्यकता थी दूसरे को घड़े के टुकड़े की आवश्यकता थी तीसरे को सोने की ही आवश्यकता थी तीनों एक सेठ के यहां पहुचे उसी समय वह घड़ा ऊपर से गिरकर फूट गया । परिणाम हो गये । घटार्थी को शोक, कपलार्थी को हर्ष और सामान्य सवर्णार्थी को मध्यास्ता इस प्रकार उत्पादादि तीनों एक ही क्षण में होते है । इस प्रकार यह सिद्ध है कि पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है । यदि यहाँ कोई शंका करे कि निश्चल अविनश्वर शुद्ध आत्म स्वरूप से भिन्न नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करते है । इसलिए सिद्धों में उत्पाद व्यय नही होता ।

इसका समाधान यह है कि आगम में कहा गया है । अगुरूलघु गुण के हानि वृद्धि रूप से अर्थ पर्याय होती है उसकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद व्यय है अथवा ज्ञेय पदार्थ अपने जिस -जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से प्रति

समय परिणमते है । उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है । इस कारण भी सिद्धों में उत्पाद घटित होता है । सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संख्या पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद-व्यय तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य है इस प्रकार सिद्धों में उत्पाद व्यय घटित होता है । जैसा कि नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है :--

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा,

लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादव्ययएहिं संजुत्ता ।। १४ ।।

अर्थ -- सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों के धारक है । और अंतिम शरीर से किंचित् न्यून तथा लोक के अग्रभाग में स्थित है नित्य है तथा उत्पाद-व्यय से संयुक्त है ।

इस प्रकार युक्ति युक्त सिद्धों में उत्पाद व्यय घटित होता है । अब यहाँ पर आचार्य देव कहते है कि केवल जीव में ध्रौव्य माना जाय उत्पाद व्यय न माने जाय तो क्या दोष आयेगा ? उसको पंचाध्यायीकार कितने सुन्दर रूप से निरूपण करते है ।--

अथ च ध्रौव्य केवल मेक किल पक्ष मध्यव सतश्च ।

द्रव्यं परिणामी स्यात्तदपरिणामाच्चनापि तद् ध्रौव्यं

।।१२५८।।

अर्थ -- इसी प्रकार जो उत्पाद व्यय निरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्ष को ही स्वीकार करते है उनके मत में द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्य के अपरिणामी होने से उसके ध्रौव्य भी नही बन सकता । आगे सारांश रूप से स्पष्ट करते है --

एतद्दोष भयादिह प्रकृतं चास्तिक्य मिच्छता पुंसा ।

उत्पादादीनाभयम् विवाभावोऽवगन्तव्यः ।। २६० ।।

अर्थ -- ऊपर कहे हुये दोषो के भय से आस्तिक्य के चाहने वाले पुरूष को प्रकृत में उत्पादादिक तीनों का ही अविनाभाव मानना चाहिये ।

तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष है यह निर्दोष सिद्ध है इस प्रकार जीव का स्वरूप समझना चाहिये ।

जो कोई शुद्ध निश्चय नय से मूल और उत्तर प्रकृतियों से रहित वीतराग परम आनन्द मई एक रूप चैतन्य के प्रकाश को रखने वाला है

वही शुद्ध जीवास्तिकाय ग्रहण करने योग्य है।

जो जीव स्वरूप को अनेकान्त तथा स्वाध्याय से जान लेता है वही अपना आत्म कल्याण कर सकता है एकांत से जीव का यही कल्याण त्रिकाल में भी नहीं हो सकता ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है।

अन्तर शोध

बड़ा अचम्भा लगता जो तू, अपने में अन्जान है।
पर्यायों के पार देख ले, आप स्वयं भगवान है ॥ टेक ॥
मन्दिर तीर्थ जिनेन्द्र जिनागम, उसकी खोज बताते है।
जप तप संयम शील साधना, मे उसको ही ध्याते है ॥
जब तक उसका पता न पाया, दुनिया में भरमाते है।
चारो गतियो के दुख पाकर, फिर निगोद में जाते है ॥
पर्यायो को अपना माना, यह तेरा अज्ञान है।
पर्यायो के पार देख ले, आप स्वयं भगवान है ॥१॥
तू अनन्त गुण का धारी है, अजर अमर पद अविनाशी है।
शुद्ध बुद्ध तू नित्य निरंजन, मुक्ति सदन का वासी है ॥
तुझमें सुख साम्राज्य भरा, क्यो मीन रहे जल मे प्यासी।
अपने को पहचान न पाया, ये तेरी है भूल जरा सी ॥
तू अचिन्त्य शक्ति का धारी, तू वैभव की खान है।
पर्यायो के पार देख ले, आप स्वयं भगवान है ॥२॥
तीनों कर्म नही तेरे मे, यह तो जड़ की माया है।
तू चेतन है ज्ञान स्वरूप, क्यो इनमे भरमाया है ॥
सुख की सरिता है स्वाभाव में, जिनवर ने बतलाया है।
जिसने अन्दर मे खोजा है, उसने प्रभु को पाया है ॥
जिनवाणी मां जगा रही, क्यों व्यर्थ बना नादान है।
पर्यायो के पार देख ले, आप स्वयं भगवान है ॥३॥
नव तत्वों में रहकर जिसने, अपना रूप नही छोड़ा।
आत्म एक रूप रहता है, ना ही अधिक ना ही थोड़ा ॥
ये पर्याये क्षण भंगुर है, इनका तेरा क्या जोड़ा।
शुद्ध सिद्ध हो जाता जिसने, पर्यायो से मुख मोड़ा ॥
दिव्य दृष्टि अपना कर प्राणी, बन जाता भगवान है।
पर्यायों के पार देख ले, आप स्वयं भगवान है ॥

भाग ९-१०

सामायिक

---- 卐 ----

प्रभु वीर यह विनय है, जब प्राण तन से निकले ।
तब नाम जपते-जपते, ये प्राण तन से निकले ।। (१)

सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र, समयुक्त आत्मा हो।
मिथ्यात्व छूट जावे, जब प्राण तन से निकलें।। (२)

उत्तम क्षमादि धारक, आतम में आत्मा हो।
शुभ भावना से भाऊँ, जब प्राण तन से निकलें।। (३)

क्रोध मान माया, और लोभ जो बताया।
चारो कषाय छूटें, जब प्राण तन से निकलें।। (४)

समता सुधा को पाकर, छोड़ू मैं राग द्वेष।
तप शील मे रंगा हूँ, जब प्राण तन से निकलें।। (५)

सिद्ध पद को पाकर, मैं पूर्ण ज्ञानी होऊँ।
ऐसी ही भावना हो, जब प्राण तन से निकलें।। (६)

जो जैसी करनी करें, फल वैसा हो सोय।
साम्यवाद जो आचरै, सो समभावी होय।। (७)

धर्म का उपदेश

मोक्ष के साधन सम्यक् दर्शन आदि में प्रवृत्ति करना और संसार के कारण मिथ्यादर्शन से निवृत्ति होना (इनका त्याग करना) धर्म का स्वरूप है। वह धर्म, मुनि धर्म तथा गृहस्थ धर्म के भेद से दो प्रकार का है सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र इन तीनों की प्राप्ति मोक्ष है और इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार के कारण है।

संसार में सबसे बड़े पाप मिथ्यात्व एवं परिग्रह है। इनसे मोह पैदा होता है फिर रागद्वेष होता है, रागद्वेष मे जीव में क्रोध, मान माया और

लोभ की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इनके त्यागने में ही कल्याण है। साधु को इन्हें पूर्ण रूप से छोड़कर चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित होना चाहिये। यह सर्वदेश चारित्र है। श्रावक को एक देश अर्थात् शक्ति अनुसार छोड़ना चाहिये। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। यह सम्यक्त्व को रोकने वाला है। इसे छोड़े बिना धर्म की प्रभावना नहीं हो सकती।

आजकल तो प्राय: साधुओं के पास गृहस्थियों से अधिक परिग्रह रहता है। यह अनुचित है, क्योंकि घर के परिग्रह को त्याग कर आत्म कल्याण के लिए ही तो वह साधु हुआ है।

आज हम जैनियों की बड़ी दुर्दशा है, क्योंकि जैनी लोग स्वयं अपने स्वभाव से च्युत है, आचरण नहीं करते और दूसरों को जैनी बनाना चाहते है। वे स्वयं तो साधु का आचरण करते नहीं । बिना आचरण के न तो धर्म की प्रभावना होगी और न मोक्ष मार्ग प्रशस्त होगा। वास्तव में जिस जीव ने आत्मा के विभाव-भावों पर विजय प्रप्त कर ली है, वही सच्चा साधु अथवा जैन है यदि उसने कलंकों को नहीं जीता, तो वह नाम मात्र का जैनी है। वह तो, 'नाम नैन सुख और आँखो के अन्धे' की तरह से है। अत· मोह-विकल्पों को त्याग कर वास्तविक अहिंसक बनो।

आत्म श्लाघा

जो जीव स्व-कल्याण चाहता है उसके लिए आत्म-पुरुषार्थ परमावश्यक है। परिणामों की निर्मलता का कारण पर पदार्थों से सम्बन्धों का त्याग है। त्याग की महती आवश्यकता है। संसारी जीवों से विशेष सम्पर्क रखना ही संसार बन्धन का मूल कारण है। अत· जीवों से सम्पर्क छोड़ो और केवल लोकैषणा के जाल में मत पड़ो। लोक प्रतिष्ठा के लिए यह पद नहीं है, यह तो कल्याण के लिए है पर की निन्दा व प्रशंसा की चिन्ता न करो।

हे आत्मन! तुम अचिन्त्य शक्ति के स्वामी होकर दर-दर के भिक्षुक क्यों बन रहे हो? यदि तुम स्वयं सम्भलो, तो फिर जगत को उपदेश आदि द्वारा प्रसन्न करने की जरूरत नहीं है। बाह्य प्रशंसा का लोभी महान पापी है। यदि त्यागी में धार्मिक बुद्धि है, तो उसे गृहस्थ के मध्य नहीं ठहरना चाहिये। गृहस्थों के सम्पर्क से बुद्धि विकार उत्पन्न हो जाता है। जिन्हें आत्म हित करना है, वे इन उपद्रवों से सुरक्षित रहें।

लोगों में भक्ति तो बहुत है, किन्तु वह अन्ध भक्ति है, क्योंकि वे

जिसकी भक्ति करते है, उसके गुण दोषों का विचार नहीं करते। राग मोह की महिमा अपार है। लोग जिस समागम् से बचने के लिए गृह का त्याग करते है, त्यागी होने पर भी उन्हे वही समागम् प्रिय लगता है। यह क्रिया उचित नही है।

जहाँ अपना शरीर भी सुखदायी नही है, वहाँ अन्य पदार्थों या अन्य जीवों के संसर्ग से सुख मानना मूर्खता के अतिरिक्त क्या है? वास्तव में स्व-समागम में महान सुख है। कल्याण मार्ग तो आत्मा में है। केवल आत्मा एकाकी है, इसका दूसरा कोई साथी नही है। किसी से विशेष परिचय न करो। यही शास्त्र की आज्ञा है। परन्तु हे आत्मन् तुमइसका अनादर करते हो अत: तुम अनन्त संसार के पात्र हो। अपनी चित्तवृत्ति शान्त रखने के लिए पर पदार्थों के सम्पर्क को त्यागो। इसका तात्पर्य पर से इष्ट-अनिष्ट कल्पना का त्याग करना है।

त्यागी का किसी सस्थावाद में नही पड़ना चाहिए। यह कार्य तो गृहस्थों का ह। त्यागी होने पर भी संस्था आदि से मोह रहा, तो त्याग क्या हुआ? आज त्यागी वर्ग में ऐसा ही शिथिलाचार फैलता जा रहा है। यह आत्म वचना है।

आत्मा के स्वरूप में जो चर्या होती है उसी का नाम चरित्र है। वही वस्तु का स्वभावपने से धर्म है। उपयोग की निर्मलता ही चारित्र है। वही ज्ञान प्रशसनीय है, जो चारित्र से युक्त है। चारित्र ही साक्षात् मोक्ष मार्ग है। शान्ति का फल तभी प्राप्त होता है जबकि श्रद्धा के साथ चारित्र गुण की उन्नति हो । चारित्र के विकास में आगम ज्ञान, साधु-समागम् तथा विद्वानो के सम्पर्क आदि किसी की आवश्यकता नहीं, वह तो ज्ञानी जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

मुनि धर्म की चर्या

हे साधो! जो अपने मुनिपद की अवहेलना कर असंयमीजनो की पदचर्य्या करता है, उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपांगों का मर्दन करता है या उनकी औषधि आदि का सदोष प्रयत्न करता है, वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनि धर्म की महिमा का विनाश करने वाला है। साधुओ को भी वैयावृत्य करते समय आगम विधि पर ध्यान रखना चाहिये । दोषपूर्ण वैयावृत्य करने वाला संयमी अपने तथा दूसरे का अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओ! वैयावृत्य अवश्य करो, यह

तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है किन्तु उचित व जिनेन्द्र देव की आज्ञा के अनुकूल करो। हे मुनियों! तुम ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो। यद्यपि तुम्हारा आत्मा संवेग वैराग्य से परिपूर्ण है तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है जिसका पूर्णतया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है, तथापि बाह्य सम्पर्क बड़ा बलवान होता है। वह बलात् वश इस कर्म-परतन्त्र आत्मा को अपने उत्तम कर्तव्य से विमुख कर देता है। इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में लवलीन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए, क्योंकि आर्यिका का संसर्ग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान संयम जीवन का विघात करने वाला है। वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली काजल की कोठरी है। आर्यिका के संसर्ग से सम्भव होने वाले चित्त संक्लेश और जीवन का रक्षण तो दुर्धर तपस्वी कर भी सकते है किन्तु जनापवाद के मार्ग पर ही न जाना चाहिए। कहा भी है:- यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गिरने वाला है नष्ट होने वाला है, उसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है । इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि भौतिक शरीर का नाश होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है। इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए। जिसको अपने आत्मीय गुणों की उच्चता का विचार नहीं है वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता। वह अपनी आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता। अतः अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए। हे संसार भीरुओं! तुमने संसार से डर कर एकान्त निवास किया है अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है। इससे स्थविर (वृद्ध) अनशनादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी बहुश्रुत और जगत में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते है तो शास्त्र के तत्वज्ञान से शून्य, साधारण चरित्र का पालक तरुण (जवान) साधु अपवाद (निन्दा) से अपने को किस तरह बचा सकता है? उसकी निन्दा होना अनिवार्य है। यदि कोई साधु अपनी आत्मा को बलवान व पूर्ण जितेन्द्रिय समझ कर निरर्गल अर्यिकाओं से सम्पर्क बढ़ाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का घातक ही समझना चाहिये। क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो, व अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है। आर्यिका का संसर्ग उसको बांधने वाला दृढ़ बन्धन बन सकता है। यद्यपि तुम संसार के दुःखों से भयभीत हो और संयम पालन में रत हो, तथापि तुमको अपने संवेग व संयम गुण की वृद्धि के लिए संविग्न और संयमी

मुनिराजों के साथ रहना चाहिए। देखो, संघ की शोभा साधु-संख्या से नहीं होती, किन्तु सच्चरित्र से होती है। इसलिए लाखों या पार्श्वस्थादि चरित्र शून्य साधुओं से एक सुशील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि कुशील, संयमहीन शिथिलाचारी साधुओं के आश्रय से दर्शनशीलादि का हनन होता है और सुशील साधु के निमित्त से संघ में शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अत: उत्तमशील व संयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो, कड़वी तुम्बी में रखा हुआ मिष्ट दूध भी कड़वा हो जाता है और इक्षु की जड़ में सींचा गया खारा जल भी मिष्ट हो जाता है क्योंकि वस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अत: तुम भी सत्पुरुषों की ही संगति करो। तुमको सदा हित, मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा वचन भी न कहो, जिससे दूसरे की अवनति या दुर्गुणों की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो। जीर्ण ज्वर से पीड़ित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पथ्य (हितकर) होती है, वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुर्गुण नाश करने वाला होगा। अत दूसरे के उपकार की ओर तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए। परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भव्य प्राणियों के कल्याण के लिए धर्म विहार करते है। उन्होंने दूसरे के दु:खोद्धार करने की उत्कृष्ट भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है। स्व-पर के आध्यात्मिकोत्थान के लिए कमर कसे रहना महान पुरुषों का परम कर्तव्य है, और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। चारित्र बिना मुक्ति नहीं। मुक्ति बिना सुख नहीं। जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है, वे ही 'स्व' एवं 'पर' का कल्याण कर सकते है। कषायों को कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट, यथार्थ आचरण का पालन करना है।

जैनागम में व्रत का लेना अपराध नही माना है किन्तु लेकर उसमें दोष लगाना या भंग करना अपराध बताया गया है। जिस समय मनुष्य घर छोड़कर त्याग-व्रत धारण करता है, उस समय वह समस्त सावद्ययोग का त्याग करता है। वह त्याग पूर्वक सामायिक चारित्र को धारण करता है।

आचार्यों ने 'याचना-परिषह जय' के स्वरूप को, किसी से भी, किसी सांसारिक पदार्थ की मांग (याचना) न करना कहा है। वास्तव में त्यागी वर्ग को किसी से भी किसी वस्तु की याचना नहीं करनी चाहिये।

वस्तुत: सबसे बड़ा मिथ्यात्व ही आस्रव है। उसे त्यागना चाहिए अत: आस्रव का निरोध अर्थात् सम्यक्त्व संवर है। यह संवर निर्जरा और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है।

त्यागियों को उपदेश

चरणानुयोग के विरुद्ध प्रवृत्तियाँ करने वाले व्रतियों को आचार्य ने शान्त भाव से उपदेश दिया है कि जैनागम में व्रत लेने को अपराध नहीं माना है किन्तु लेकर उसमें दोष लगाना या उसे भंग करना अपराध बताया है। अत: ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिए। मनुष्य पर्याय का सबसे प्रमुख कार्य चारित्रधारण ही है। इसलिए यह दुर्लभ पर्याय पाकर अवश्य ही चारित्र धारण करना चाहिये। कितने ही त्यागी लोग तीर्थ के लिए गृहस्थों से पैसे की याचना करते है यह मार्ग अच्छा नहीं है। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर ही क्यों किया। त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्त:करण में त्याग भाव नहीं आया तो यह आत्म बंचना कहलावेगी। त्यागी को किसी संस्थावाद में नहीं पड़ना चाहिए यह कार्य गृहस्थों का है । त्यागी होने पर भी यही किया तो क्या किया । त्यागी को ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए । आज कितने ही त्यागी ऐसे है जो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं जानते, आठ मूल गुणों और अठ्ठाईस मूल गुणों के नाम नहीं गिना पाते, मेरी तो प्रेरणा है कि त्यागी को क्रम पूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिये।

समाज में त्यागियों की कमी नहीं परन्तु जिन्हें आगम का अभ्यास है, ऐसे त्यागी कितने है? अत: मुनि हो चाहे श्रावक सबको आगम अभ्यास करना चाहिये। आज का व्रती-वर्ग चाहे मुनि हो चाहे श्रावक स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है। यह उचित नहीं है। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियों के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमें बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित देंगे; पर एकल विहारी होने पर किसका भय रहा। जनता भोली है इसलिए कुछ कहती नहीं, यदि कहती है तो उसे धर्म निन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है, किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है तो किसी को बीस पंथ और तेरह पंथ का; किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है तो कोई शूद्र जल-त्याग के पीछे पड़ा है कोई स्त्री प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है तो कोई जनेऊ पहिराने; और कोई ग्रन्थमालाओं के संचालक बने

हुए है तो कोई ग्रन्थ छपाने की चिन्ता में गृहस्थों के घर से चन्दा मांगते फिरते हैं; किन्हीं के साथ मोटर चलती है तो किन्हीं के साथ दुर्लभ कीमती चटाईयां और आसन के पाटे तथा छोलदारियां चलती है। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिए उनकी सेवा में लीन रहते है । बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों वंचित रहें। इस भावना से कितने ही विद्वान उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बैठ जाते है। जहाँ प्रकाश है वहाँ अंधकार नहीं और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नही। इस प्रकार जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नही और जहाँ कषाय है वहाँ चारित्र नही। पर तुलना करने पर किन्ही-किन्ही व्रतियों की कषाय तो गृहस्थों से कही अधिक निकलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है, उस ओर दृष्टिपात करो और अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ।

जैन धर्म अत्यन्त विशाल है। उसकी विशालता यह है कि उसमें चारों गतियों में जो संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी है वे अनन्त संसार के दु:खों को हरने वाला सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते है। धर्म किसी जाति विशेष का नही, धर्म तो अधर्म अभाव में होता है। अधर्म आत्मा की विकृत अवस्था को कहते है। जब तक धर्म का विकास नही तब तक सभी आत्मायें अधर्म रूप रहती है। चाहे ब्राह्मण हो, चाहे वैश्य हो; शूद्र में भी चाहे चाण्डाल हो सम्यग्दर्शन के होते ही यह जीव किसी जाति का हो, पुण्यात्मा जीव कहलाता है अत: किसी को हीन मानना सर्वथा अनुचित है।

प्रवचन लोभ पाप का बाप

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगद् दुःखं महमानं पश्य ॥११३॥ प.प्र

हे योगी तू लोभ को छोड़ यह लोभ अच्छा नही है, लोभ मे फंसे हुए सम्पूर्ण जगत को दु:ख सहते हुए देख । लोभ कषाय से रहित जो परमात्मा स्वभाव उसमें विपरीत जो इस भव पर भव लोभ धन, धान्यादि का लोभ उसे तू छोड़ । क्योंकि लोभी जीव भव भव में दु:ख भोगते है । ऐसा तू देख रहा है जैसे लोहे का संबंध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए अहरन के ऊपर घन की चोट संडासी से खेंचना, चोट लगने से टूटना, इत्यादि दु:खों को सहती है, ऐसा देख । लोहे की संगति से लोक प्रसिद्ध देवता अग्नि दु:ख भोगती है । यदि लोहे का संबंध न करे तो इतने दु:खों को क्यों भोगे, अर्थात् जैसे अग्नि लोहे पिंड के सम्बन्ध से दु:ख भोगती है, उसी तरह लोह

अर्थात् लोभ के कारण से परमात्म तत्व की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव धनघात के समान नरकादि दुःखों को बहुत काल तक भोगता है । हे योगी रागादि रहित वीतराग परमात्म पदार्थ के ध्यान में ठहर कर विकल्प को छोड़ क्योंकि समस्त संसारी जीव अनेक प्रकार से शरीर और मन के दुःख सह रहे है उनको तू देख ये संसारी जीव स्नेह रहित शुद्धात्म तत्व की भावना से रहित हैं । इसलिए नाना प्रकार के दुःख भोगते है । दुःख का मूल एक देहादि का स्नेह ही है । यहाँ भेदाभेद रत्नत्रय रूप मोक्ष के मार्ग से विमुख होकर मिथ्यात्व रागादि में स्नेह नहीं करना, यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है कि जब तक यह जीव जगत से स्नेह न करे, तब तक सुखी है, और जो स्नेह सहित है जिनका मन स्नेह से बंध रहा है उनको हर जगह दुःख ही है । जैसे तिलों का समूह स्नेह के सम्बन्ध से जल से भीगना, पैरों से खूंदना, घानी में बार-बार पिलने का दुःख सहता है उसे देखो । जैसे स्नेह के सम्बन्ध होने से तिल घानी में पेरे जाते है, उसी तरह जो पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्त है, मोहित है वे नाश को प्राप्त होते है, इसमें कुछ सन्देह नही है । वे ही धन्य है, वे ही सज्जन है और वे ही जीव इस जीव लोक में जीवते है । जो जवान अवस्था रूपी बड़े भारी तालाब में पड़े हुए विषयरस में नहीं डूबते । वे लीला मात्र में ही तिर जाते है वे ही प्रशंसा योग्य है । यहाँ विषय वांछा रूप जो स्नेह जल उसके प्रवेश से रहित जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नों से भरा निज शुद्धात्म भावना रूपी जहाज उससे यौवन अवस्था रूपी महान तालाब को तैर जाते है वे ही सत्पुरूष हैं वे ही धन्य है, यह सारांश जानना बहुत विस्तार से क्या लाभ है । आगे मोक्ष का कारण वैराग्य को दृढ़ करते है । जिनेश्वर देव ने अनेक प्रकार का राज्य का वैभव छोड़कर मोक्ष को ही साधन किया । परन्तु हे जीव भिक्षा से भोजन करने वाला तू अपने आत्मा का कल्याण भी नही करता ।

समस्त कर्ममल कलंक से रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों का स्थान तथा संसार अवस्था से अन्य अवस्था का होना वह मोक्ष कहा जाता है, उसी मोक्ष को वीतराग देव ने राज्य विभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्य के सात अंग है - राजा, मन्त्री, सैना वगैरह । ये जहाँ पूर्ण हो वह उत्कृष्ट राज्य कहलाता है, वह राज्य तीर्थंकर देव का है । उसको छोड़ने में वे तीर्थंकर देरी नही करते । लेकिन तू निर्धन होकर आत्म कल्याण नही करता । तू माया जाल को छोड़कर महान पुरूषों की तरह आत्म कार्य कर। उन महान पुरूषों ने भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के बल से निज स्वरूप

को जान कर विनाशिक राज्य छोड़ा, अविनाशी राज्य के लिए उद्यमी हुए। यहाँ पर ऐसा व्याख्यान समझकर बहिरंग परिग्रह का त्याग करना तथा वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहरकर दुद्धर तप करना चाहिए।

गुणस्थान क्रम से आत्मा के क्रमिक विकास को देखते हुए यह भली भांति समझ में आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशद्धि मार्ग पर अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों ही उसमें से मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती है। यहाँ तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारो से रहित हो जाता है।

मोह या मिथ्यात्व आत्मा का सबसे अधिक अहित करने वाला है। इनके वश में होकर ही यह जीव अनादिकाल से आत्मस्वरूप को भूला हुआ संसार में भटक रहा है। जब इस जीव को उपदेशादिक का निमित्त मिला है और उससे स्व क्या है पर क्या है, हित क्या है अहित क्या है इसका बोध करके आत्म कल्याण की ओर इसकी प्रवृत्ति होने लगती है, तो परिणामों में इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि वह केवल अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिए दूसरे के न्याय प्राप्त अधिकारो को छीनने में ग्लानि करने लगता है। उसके पहले बांधे हुए कर्म हल्के होने लगते है तथा नवीन कर्मों की स्थिति भी कम पड़ने लगती है संसारिक कार्यो को करते हुए भी उनमें उसे स्वभावत अरूचि का अनुभव होने लगता है। तब कहीं समझना चाहिए कि यह सम्यकदर्शन के सम्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाए है वे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समर्थ कारण नही है। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोह का उपशम करने में ऐसे अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण रूप परिणाम होते है तो यह समझना चाहिए कि यह जीव सम्यग्दर्शन को पा सकता है इसके बिना नही, क्योंकि इन परिणामों में ही मिथ्यात्व को नष्ट करने की सामर्थ्य है। इस तरह जब यह जीव अध·करण रूप परिणामों को उल्लंघन करके अपूर्वकरण रूप परिणामों को प्राप्त होता है, तब यह जिनत्व की पहनी सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिए। जो कर्म रूपी शत्रुओं को जीते उसे जिन कहते है इस व्याख्या के अनुसार यही से जिनत्व का प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म शत्रुओं का अभाव होता जाता है, वैसे वैसे ही जिनत्व धर्म का प्रादुर्भाव होता जाता है और बारहवें गुणस्थान के अन्त में जब यह जीव समस्त घातिया कर्मों को नष्ट कर चुकता है तब पूर्ण रूप से जिन संज्ञा को प्राप्त होता है। सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मों से रहित है इसलिए अरहन्त

और सिद्ध परमेष्ठी कर्म शत्रुओं के जीतने से साक्षात जिन है, ऐसा समझना चाहिए

परमाणु मित्तयं पिहु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णं वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरो वि ।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो तो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।२०२।।

अथार्त :-निश्चय से जिस जीव के रागादिक भावों का लेशमात्र भी अभिप्राय है अर्थात् अणुमात्र भी रागादिक में जिसके उपादेय बुद्धि है वह सम्पूर्ण आगम का ज्ञानी होकर भी आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को भी नहीं जानता है वह अनात्मा को भी नहीं जानता है, इस तरह जो जीव और अजीव को नही जानता है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ :- जिसके रागादिक अज्ञान भावों का लेशमात्र भी सद्भाव विद्यमान है वह श्रुतकेवली के सदृश होकर भी ज्ञानमय भावों के अभाव से आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को नही जानता है वह अनात्मा को भी नहीं जानता है क्योंकि जीवादिक किसी भी द्रव्य का निश्चय स्वरूप की सत्ता और पर रूप की असत्ता से होता है । अत· आत्मा की स्वरूपसत्ता का अज्ञानी, अनात्मा का भी अज्ञानी है । इससे जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता है, वह जीव-अजीव को भी नही जानँता है और जो जीव अजीव के भेद ज्ञान से शून्य है, वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है । इस तरह रागी जीव भेदज्ञान के अभाव से सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

यहाँ जो फलित रूप से सम्यग्दृष्टि जीव के परमाणु मात्र भी राग का अभाव बताया है सो उसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि लेशमात्र राग को भी आत्मा का स्वभाव नहीं समझता और न उसे उपादेय मानता है । अप्रत्याख्याना वरणादि चारित्र मोह की प्रकृतियों के उदय से होने वाला राग अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुण स्थान तक के जीवों के यथा संभव विद्यमान रहता है । तो भी उन गुणस्थानों में रहने वाले जीवों के सम्यक्त्व में बाधा नहीं है क्योंकि राग के रहते हुए भी वे राग को आत्मा का स्वभाव नही मानते है । रागी होते

हुए राग को आत्मा का मानना जुदी बात है और रागी होते हुए भी राग को आत्मा का न मानना जुदी बात है। मिथ्यादृष्टि जीव रागी होता हुआ, उस राग को आत्मा का ही परिणमन मानता है और सम्यग्दृष्टि जीव रागी चारित्र मोह के उदय की बलवत्ता से रागी होता हुआ भी उस राग को आत्मा का परिणमन नही मानता।

यह प्राणी अनादि काल से रागादिकों को अपना निज भाव मान रहा है· इसी से उनकी सिद्धि के अर्थ पर-पदार्थों के संयोग-संग्रह और वियोग में अपना सर्वस्व लगा देता है और निरन्तर उन्ही की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है। उसे श्री गुरू समझाते है :-- रे अन्ध! जिन वस्तुओं में तुम अपने स्वरूप को भूलकर मोहित हो रहे हो, यह तुम्हारा अज्ञान भाव है अब अपने निज स्वरूप को जानो, जहाँ पर चेतना का पिण्ड, सर्व विकल्प जालों से रहित सुख और शान्ति से स्थायीपन को प्राप्त करता है वही तुम्हारा पद है।

लोग कहते है कि नरकों मे अतिशय (बड़े) दुःख हैं, वहाँ के समान दु·ख और कहीं नही परन्तु यह तो परोक्ष की बात हुई। हम तो कहते है कि राग प्रत्यक्ष ही दु.ख का कारण है। हम सभी दुःखी हो रहे है केवल एक राग से ही। अभी पदार्थों से राग हटा लो तो उसी क्षण हमें सुख का अनुभव हो जायेगा। स्वर्गों मे हम सुख की कल्पना करते है परन्तु वर्तमान में ही यदि राग की मन्दता हो तो सुख का अनुभव हो जाये। देखो और दृष्टि-पात करो और विचार करो कि हम में कितना राग कम हुआ, दुनिया की ओर मत देखो, अपने को आकुलता होती है तो दुनियां को आकुलित देखते है।

भगवान को किसी प्रकार की आकुलता नही। इसलिये दुनिया से उन्हें कोई सरोकार नहीं। अपना स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र मय है। मोक्षार्थी को केवल उन्ही का सेवन करना चाहिए।

यदि वास्तव में देखा जाये तो विदित हो जायेगा कि जगत का चक्र केवल एक मोह के द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो जाये तो आज ही जगत का अन्त आ जाये। मनुष्य को पर पदार्थ में कर्तृत्व बुद्धि नही रखना चाहिए। कर्तापने में मे बड़ा दोष है। जब तक इस जीव के अहंकार (कर्तापने) की बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी है, अर्थात अप्रतिबुद्धि है। इसकी प्रवृत्ति मे बन्ध है, तथा उसकी सन्तति से अज्ञान है। मै मै कहती हुई बेचारी बकरी वन्धावस्था को प्राप्त होती है और मृदु

भाविनी सेना राजाओं के द्वारा पाली जाती है । सो अज्ञानता में बड़ी भूल है ।

अतः आत्मा का स्वभाव कर्तृत्व नहीं है । आत्मा में कर्तापना सर्वथा नहीं है, यह बात नहीं है । आत्मा में कर्तापना है; परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है । अज्ञान से उसके कर्तापने की बुद्धि हो जाती है । जब यथार्थ ज्ञानवान हो जाता है तब साक्षात अकर्त्ता है । उस समय वह जानता है कि अन्य का कर्त्ता अन्य द्रव्य नहीं है । सब अपने अपने स्वभाव के कर्त्ता है । कुम्हार घड़े को बनाता है । हम आप से पूछते है कि कुम्हार ने घड़े में क्या कर दिया । मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी तभी तो कुम्हार निमित्त हुआ । यदि मिट्टी में योग्यता नहीं हो तो बालुका में से तो घड़ा बन जाए । इससे सिद्ध होता है कि मिट्टी में ही घड़ा बनने की योग्यता थी, तभी घड़े की शक्ल बनी । हम लोग उपादान की ओर दृष्टिपात न करें, केवल निमित्तो को ही देखें तो वह हमारा अज्ञान है ।

कोई पुछे कि फिर यह जीव संसारी क्यों है ? तो बतलाते है कि इस जीव के अनादि काल से मोह युक्त होने से उपयोग के तीन परिणाम है, वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति है । जैसे स्फटिक शुद्ध था, परन्तु हरित, नील और पीतादि के सम्पर्क से वह तीन रूप परिणमन करता है ; वैसे ही इन तीनों में से जिस भाव को यह आत्मा स्वयं करता है उसी का वह कर्त्ता होता है । संसार में भी देख लो जब यह जीव मदिरा पीकर मतवाला हो जाता है तब मूर्तिक द्रव्य से भी अमुर्तिक में विकार हो जाता है । इस तरह यह आत्मा अज्ञानी हुआ किसी से राग, किसी से द्वेष करता हुआ उन भावों का आप कर्त्ता होता है । उसके निमित्त मात्र होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप होकर परिणमता है । ज्ञान की महिमा अद्भुत है । ज्ञान ज्ञेय को जानता है, इसलिये ज्ञान नहीं है । अग्नि लकड़ी को जलाती है, इसलिये अग्नि नही है । कांटो में तीक्ष्णपना कौन लाया, नीम में कड़वापन कहाँ से आया ? अरे! वह तो स्वभाव से ही है । इसी तरह ज्ञान भी सहज स्व-पर प्रकाशक है । वह अपने को जानता है तथा पर को भी जानता है पर अनादिकाल से यह जीव ज्ञेय-मिश्रित ज्ञान का अनुभव कर रहा है । जैसे हाथी मिष्ट पदार्थों तथा तृणो को एक साथ खाता है वैसे ही यह जीव मिश्रित पदार्थों के स्वाद का आनन्द मानता है । कभी एक खालिस ज्ञान का स्वाद नहीं लेता ।

भावार्थ :- कर्म के निमित्त से जीव विभाव रूप परिणमते है । जो चेतन का विकार है वे जीव ही है । जो पुद्गल मिथ्यात्वादी कर्म-रूप

परिणमते है वे पुद्गल परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदयरूप हो स्वाद-रूप होते है, ये मिथ्यात्वादी अजीव है।

ऐसे मिथ्यात्वादी जीव अजीव के भेद से दो प्रकार है । यहाँ पर ऐसा है जो मिथ्यावादी कर्म की प्रकृतियां है वे पुद्गल द्रव्य के परमाणु है । उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीव के उपयोग की स्वच्छता के कारण जिसके उदय का स्वाद आये तब उसी के आकार उपयोग हो जाता है । तब अज्ञान से उसका भेद ज्ञान नहीं होता, उस स्वाद को ही अपना भाव जानता है । सो इसका भेद-ज्ञान ऐसा है कि जीव भाव को जीव जाने: अजीव भाव को अजीव जाने, तभी मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान होता है ।

-: इति समाप्त :-

योगी को मोह का त्याग

योगिन् मोहं परित्यज मोही न भद्रो भवति ।
मोहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्यं ।। ११ ।।

हे योगी तु मोह को बिल्कुल छोड़ दे, क्योंकि मोह अच्छा नही होता है । मोह से आसक्त सब जगत को क्लेश भोगते हुए जो आकुलता सहित है उस दुःख का मूल मोह है । मोही जीवों को दु.ख सहित देखो । वह मोह परमात्म स्वरूप की भावना का प्रतिपक्ष दर्शनमोह व चारित्र मोह रूप है । इसलिए तू उसको छोड़ । पुत्र स्त्री आदिक में तो मोह की बात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्ष में त्यागने योग्य ही है और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओं का रागरूप मोह जाल है । वह भी सर्वथा त्यागना चाहिए । अन्तर बाह्य मोह का त्याग कर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना । शुद्धात्मा की भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर, उसकी स्थिति के लिए अन्न जलादिक लिए जाते है तो भी विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार लेना चाहिए ।

आहार का मोह निवारण

भयानक देह के मैल से युक्त, जले हुए मुर्दे के समान, रूपरहित ऐसे वस्त्र रहित नग्न रूप को धारण, करके साधु, तू पर के घर भिक्षा को भ्रमता हुआ, उस भिक्षा में स्वादयुक्त आहार की इच्छा करता है, तो तु क्यों नही शर्माता, यह बडा आश्चर्य है । पराये घर भिक्षा को जाते, मिष्ट

आहार की इच्छा धारण करता है सो तुझे लाज नहीं आती । इसलिए आहार का राग छोड़ । अल्प और नीरस आहार उत्तम कुलीन श्रावक के घर साधु को लेना योग्य है । मुनि को राग भाव रहित आहार लेना चाहिए । स्वादिष्ट सुन्दर आहार का राग करना योग्य नहीं है । और श्रावक को भी यही उचित है कि भक्ति भाव से मुनि को निर्दोष आहार दे और आहार के समय ही आहार में मिली हुई निर्दोष औषधी दे, शास्त्र दान करें, मुनियों का भय दूर करें, उपसर्ग निवारण करे । यही गृहस्थ को योग्य है । जिस गृहस्थ ने यति को आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयम का साधन शरीर है और शरीर की स्थिति अन्न जल से है । आहार के ग्रहण करने से तपस्या की बढ़वारी होती है । इसलिए आहार का दान तप का दान है । यह तप संयम शुद्धात्मा की भावना रूप है । और ये अन्तर बाह्य १२-१२ प्रकार का तप शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक है । तप संयम का साधन दिगम्बर का शरीर है । इसलिए आहार के देने वाले ने यति के शरीर की रक्षा की और आहार के देने वाले ने शुद्धात्म की देह प्राप्तिरूप मोक्ष दी क्योंकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है और मुनिव्रत का साधन शरीर है तथा शरीर का साधन आहार है । इस प्रकार अनेक गुणों को उत्पन्न करने वाला आहारादि चार प्रकार का दान, उसको श्रावक भक्ति से देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक योगीश्वर महातपोधन आहार को ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते है । रागद्वेष मोहादि परिणाम निज भाव के शत्रु है ।

भोजन की लालसा का त्याग

हे योगी जो तू बारह प्रकार तप का फल बडा भारी स्वर्ग मोक्ष चाहता है तो वीतराग निजानन्द एक सुख रस का आस्वाद, उसके अनुभव से तृप्त हुआ, मन वचन और काय से भोजन की लोलुपता को त्याग कर दे । जो योगी स्वादिष्ट आहार से हर्षित होते है और नीरस आहार में क्रोधादि कषाय करते है वे मुनि भोजन के विषय में गृद्धपक्षी के समान है, ऐसा तु समझ । वे परमतत्त्व को नहीं समझते है । जो कोई वीतराग के मार्ग से विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहार से खुश होते है, कभी किसी के घर छह रसयुक्त आहार पावे तो मन में हर्ष करें, आहार के देने वाले पर प्रसन्न होते है । यदि किसी के घर रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थ को बुरा समझते है, वे तपोधन नहीं है, भोजन के लोलुपी है । गृद्धपक्षी के समान है । ऐसे लोलुपी-यति देह में अनुरागी

होते है । परमात्म पदार्थ को नहीं जानते । गृहस्थी के तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं । जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परा से मोक्ष पावे क्योंकि श्रावक का दानादिक ही परम धर्म है । वह ऐसे है कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय कषाय के आधीन है, इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परम धर्म का तो इनके ठिकाना ही नहीं है । अर्थात् गृहस्थों के शुभोपयोग की ही मुख्यता है और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवे तो इसके समान इनके कोई पुण्य नहीं । श्रावक का तो यही बड़ा धर्म है कि यती, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दें और यती का यही धर्म है, अन्न जलादि में राग न करे और मान अपमान में समता भाव रखें । गृहस्थ के घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले चाहे अन्य कुछ मिले । जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे दूध, दही, घी, मिष्ठान इनमें इच्छा न करे । यही जिन मार्ग मे यती की रीति है ।

पाँच इन्द्रियों के विषय में आसक्ति का विनाश

रूप में लीन हुए पतंग के जीव दीपक में जलकर मर जाते है । विषय में लीन हिरण व्याध के बाणों से मारे जाते है, हाथी स्पर्श विषय के कारण गड्ढे में पड़कर बांधे जाते हैं, सुगन्ध की लोलुपता से भौरे कांटो या कमल में दबकर प्राण छोड़ देते हैं और रसना की लोभी मछली धीवर के कांटे में फंसकर मारी जाती है । एक एक विषय कषाय कर आसक्त हुए जीव नाश का प्राप्त होते है तो पंचेन्द्री का कहना ही क्या है ? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयों में क्या प्रीति करते है ? कभी नहीं करते ।

परिग्रह

संसार में परिग्रह ही सब पापों की खान है। यह संसार भ्रमण का मुख्य कारण है। हे योगी, अधिक बातें करने से क्या लाभ है। बाल (केश) के अग्रभाग के प्रमाण भोगोपभोग पदार्थ भी तेरे नाश का कारण होता है। अर्थात् तुझे निन्दनीय गति में ले जाने के लिए कारण होता है? इस परिग्रह के निमित्त से जीव अनेक प्रकार के दु:खों को सहन करता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

परिग्रह रहित होने से आत्मा का कल्याण या मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। परिग्रही साधु कितना भी कठोर तप करे तब भी वह कर्म निर्जरा

नहीं कर सकता। अतः यदि मुनि के पास बाल के अग्रभाग के समान अर्थात् अणु-परमाणु मात्र भी परिग्रह रहे, तो वह निंद्य गति को प्राप्त होता है। अतः स्थूल परिग्रहधारी को नरक के अतिरिक्त दूसरी गति प्राप्त नहीं हो सकती।

शंका

यदि ऐसी बात है तो मुनि को गृहस्थी द्वारा दी गई पिछी कमंडलु, शास्त्र (पुस्तक) आदि वस्तुयें, परिग्रह ही है, अतः मुनि को उन्हें नहीं रखनी चाहिये और ये वस्तुयें मुनि को ग्रहण नही करनी चाहिये। पिछी-कमंडलु के माध्यम से रूपया इकट्ठा नहीं करना चाहिए। परिग्रह त्याग कर ही पिछी ली जाती है, इनके माध्यम से पैसा इकट्ठा करना, पाप का कारण है । परिग्रह छोड़कर परिग्रह इकट्ठा करना, जैसे उल्टी करके उसको चाटना है।

समाधान

आचार्य उक्त शंका का समाधान करते हुए कहते है कि मूर्छा परिग्रह है। वास्तव में 'पर' पदार्थों से मोह होना ही परिग्रह है, परन्तु मुनि आदि साधुओं के पास पिछी, कमडलु, ग्रंथादि जो उपकरण उनके पास देखे जाते है, वे संयमोपकरण है, ये उपकरण संयम के साधन भूत है, अत· उनके रहने से परिग्रह नहीं कहा जाता है।

हाँ, यदि उस मुनि आदि साधु का उन उपकरणों से मोह हो जाये तो वे परिग्रह में सम्मिलित होकर बंध के लिए कारण भूत होगी। इसलिए मूर्छा ही परिग्रह है । कहा भी है:-

जय जाय रूव सरिसो तिल तुस मेत्तं तण गिण्हदि हत्थे सु।
जह लेई अप्प बहुयं तत्तो पुण जाई णिग्गोदम्।।

विचार कर देखा जाय, यदि साधु को अपने शरीर से भी मोह है तो वह परिग्रह ही है, परन्तु मुनि आदि साधु का मोह शरीर पर नहीं होता है, क्योंकि साधु उस शरीर को संयम का साधन, तप का साधन तथा आत्मा को साधने का साधन मानता है। वास्तव में उनके पास जो भी उपकरण होते है वे सब संयम-साधन के लिये ही होते है। यदि स्व-पर ज्ञानहीन साधु कदाचित् शरीर या संयमोपकरण के प्रतिमोह करे, तो वह साधु अपनी आत्मा की साधना के उपरान्त मरण कर दुर्गति को ही प्राप्त होता है। उसकी

समस्त क्रियायें निरर्थक होती है।

पद्मनन्दी आचार्य ने भी कहा है कि सदाचारी पुरुष के द्वारा मुनि के लिए जो आगम कर व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक (ग्रंथ) दी जाती है तथा कमंडलु व पीछी संयम की साधनभुत वस्तुएं दी जाती है, उसे उत्तम त्याग कहा जाता है शरीर आदि में ममत्व बुद्धि के न रहने से मुनि के पास जो किंचित भाग भी परिग्रह नहीं रहता है, वह उत्तम आकिंचन्य धर्म है। सज्जन पुरुषों के लिए अभीष्ट, वह धर्म संसार को नष्ट करने वाला है।

मोह से रहित अपने आत्म-हित में लवलीन तथा उत्तम चारित्र से संयुक्त जो मुनि मोक्ष प्राप्ति के लिए घर आदि त्यागकर तप करते है वे विरले ही होते है अर्थात् बहुत थोड़े होते है। फिर भी मुनि स्वयं तपश्चरण करते हुए अन्य मुनियों के लिए भी शास्त्र आदि देकर उनकी सहायता करते है, वे तो इस संसार में पूर्वोक्त मुनियो की अपेक्षा और भी दुर्लभी है।

आगम के ज्ञाता मुनि ने समस्त बाह्य वस्तुओं को 'पर' अर्थात् आत्मा से भिन्न जानकर, उन सबको त्याग दिया है। फिर भी जब शरीर, शास्त्र आदि वस्तुयें उनके पास रहती हैं, ऐसी अवस्था में वे निष्परिग्रही कैसे कहे जा सकते है? यदि यहाँ पर ऐसी आशंका की जाती है, तो इसका उत्तर यह है कि मुनि आदि साधुओं का उत्तम शरीर एवं शास्त्र आदि से कोई ममत्व भाव नहीं रहता है अतएव वे उनके विद्यमान रहने पर भी अविद्यमान के समान ही है। हाँ! यदि उक्त मुनि का उनमें ममत्व बुद्धि भाव है, तो फिर वह निष्परिग्रही नही कहा जा सकता और ऐसी अवस्था मे उसे परिग्रह के त्याग रूप जिनेन्द्र आज्ञा को भंग करने का दोष प्राप्त होता है जिससे कि उसे बलात् पाप बंध होता है।

हे योगी! सम्पूर्ण 'पर' वस्तु के ममत्व को त्याग कर केवल अपने आत्म ध्यान में लीन होकर कर्म से मुक्त हो जा, ऐसा उपदेश है।

आचार्यों ने बतलाया है कि साररूप आत्म तत्व को समझे बिना सिद्धी नही होती है। पं दौलत राम जी ने छहढाला में कहा है:-

> ''पुण्य पाप फल मांहि, हरख बिलखो मत भाई ।
> यह पुद्गल पर्याय, उपजिविनसै थिर नाईं ।।
>
> लाख बात की बात, यह निश्चय उर लावो ।
> तोरि सकल जग दन्द, फन्द निज आतम ध्यावो ।।

तात्पर्य यह है कि इस जीवात्मा ने लाखों बार पुण्य और पाप का अनुभव करते हुए अनेक योनियों में जन्म और मरण किया है। यह कितनी ही बार एक छोटे अणु से लेकर परमाणु बना। यह कितनी ही बार स्वर्ग में और कितनी ही बार नरक में गया। यही नहीं, इसने कितनी बार चक्रवर्ती पद प्राप्त किया और उसे छोड़ दिया। इसका कोई अन्त नहीं रहा। इसने संसार के प्रत्येक पदार्थ का अनुभव किया। कला, शिल्प, गणित, भूगोल, वैद्यक, ज्योतिषि, काव्य, तर्क शास्त्र, राजनीति-विज्ञान आदि विद्याओं में इसने लौकिक शिक्षा प्राप्त की और परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। इसने तप, व्रत आठों द्रव्यों से भगवान की पूजा भक्ति पूर्वक करके और पुन्य का बंध करके देव पद भी प्राप्त किया तथा अनेक बार भोगोपभोग भी किया। तत्पश्चात् वहां की पर्याय पूर्ण करके उत्तम कुल में आकर इसने चक्रवर्ती पद पाकर षट् खण्ड के पृथ्वी के ऐश्वर्य का भी इच्छानुसार अनुभव किया और महान् योद्धाओं को भी स्व अधीन कर लिया। यही नहीं, इसने शत्रुओं को भी अपने बाहुबल से हस्तगत किया, परन्तु अनादि काल से जल और दूध के समान एक क्षेत्रावगाह रूप में रहकर 'स्व' को 'पर' मानकर, पर को 'स्व' मानकर तथा पर में ही परिणमन किया ।

यह कितने आश्चर्य की बात है । स्व-पर के ज्ञान के बिना तेरा सारा प्रयत्न अनादि काल से व्यर्थ ही गया । इसी सम्बन्ध में निम्नांकित दोहों का अवलोकन कीजिए:-

नर के संग सुआ हरि बोले, हरि प्रताप नहि जाने।
जो इक बार उड़ि जाय जंगल को, तो हरि सूरत न जाने ॥१॥

बिन जाने बिन देखे द्रव्य के, व्रत किये क्या होई।
धन कहें, यदि धनिक हो जावे, निर्धन रहे न कोई ॥२॥

मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जग में होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर गया, फेर न लागे डार ॥३॥

जागो रे जिन जागना, अब जागन की बार।
फेर कि जागो नानका, जब सोऊँ पाव पसार ॥४॥

अर्थात्:- कवि कहता है कि जैसे किसी मनुष्य के हाथ में तोता रहने तक तोता उसके साथ-साथ 'हरि-हरि' रटता रहता है, किन्तु वह हरि के महत्व को नहीं जानता। हाँ, जब वह तोता जंगल में उड़ जाता है, तब रटे हुये 'हरि' नाम को बिल्कुल भूल जाता है। इसी प्रकार

रुचि पूर्वक 'स्व' स्वरूप का ज्ञान तथा श्रद्धान बिना व्रत, नियम, उपवास आदि व्यर्थ हो जाते है। दूसरे जैसे धनवान को देखकर धनी-धनी करने से दीन-दरिद्र धनवान नहीं हो सकता वैसे ही केवल भगवान का नाम, बिना रुचि के रटते रहने से भगवान नहीं बन सकता। इसलिए हे जीव! अब तू चेत, क्योंकि मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है। इसका दूसरी बार मिलना बड़ा कठिन है। जैसा पका हुआ फल यदि पृथ्वी पर गिर जाता है, तो फिर उसका डाल पर लगना असम्भव है। इसलिये हे जीव! यदि मनुष्य को बाह्य पर पदार्थों के विषय-भोगों में ही समाप्त कर दिया जाये, तो देहावसान काल में इस पर हाथ लगाना असम्भव है।

इसलिये हे आत्मन्! अब तो तू जाग! हे दुनियां की मायामयी नींद सोने वाले जीवात्मन्! यदि तुम्हें शीघ्र ही अपने निजी स्थान में पहुँचना है तो जागो, जल्दी जागो। फिर ऐसी नर-रत्न रूपी रेलगाड़ी मिलना अत्यन्त कठिन है। अत: उसमें चढ़ने की जल्दी कर। यदि तू यहीं पड़ा रहेगा, तो काल (मृत्यु) आकर तेरा पांव पकड़ कर घसीटेगा, और तब तुझे पांव फैलाकर दुनिया से विवश होकर खाली हाथ जाना पडेगा।

अधिवासे व विवासे छेद विहणो भवीय सामाण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥१३॥

प्रवचन चारित्र का अधिकार

अर्थ - मुनि पद के भंग का कारण पर द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है। इसलिये पर के सम्बन्धों का निषेध है- (श्रामण्ये) समता भाव रूप यति अवस्था में (छेद विहीनो) अंतरंग-बहिरंग भेद से जो मुनि पद का भंग है, उससे रहित होकर (नित्यं) हमेशा (निबन्धान्) पर द्रव्यों में इष्ट अनिष्ट सम्बन्धों को (परिहरमाण:) त्यागता हुआ (अधिवासे) आत्मा में आत्मा को अंगीकार कर जहाँ गुरू का वास हो वहाँ रहे अर्थात् उन पूज्य गुरुओं की संगति में रहे वा अथवा (विवासे) उससे भिन्न दूसरी जगह रहकर (विहरतु) विहार कर्म करे।

भावार्थ:- जो मुनि अपने गुरुओं के पास रहे तब तो बहुत अच्छी बात है अथवा अन्य जगह रहे तब भी अच्छा है, परन्तु सब जगह इष्ट अनिष्ट विषयों में सम्बन्ध रूप रागद्वेष का त्याग होना चाहिये। मुनि पदवी, के भंग हो जाने का कारण परद्रव्य के साथ सम्बन्ध होना ही है क्योंकि पर द्रव्य के सम्बन्ध से अवश्य ही उपयोग में

राग-भाव होता है जिस जगह राग भाव है वहाँ पर वीतराग भाव का भंग होता ही है। इस कारण पर द्रव्य के साथ सम्बन्ध होना उपयोग की अशुद्धता का कारण है; इसलिए मुनि को परद्रव्य के सम्बन्ध का सर्वथा निषेध किया है। जब, पर द्रव्यों का सम्बन्ध मुनि से दूर हो जावेगा तो सहज अन्तरंग संयम का घात नही होगा। तभी निर्दोष मुनिपद् की सिद्धी होगी। इस प्रकार पर द्रव्य से विरक्त वीतराग भावों में लीन मुनि कहीं भी रहे चाहे गुरू के पास रहे अथवा अन्य जगह रहे सभी जगह वह निर्दोष है और जो पर भावों में रागी-द्वेषी होता है, वह सब जगह संयम का घाती होता है तथा महादोषी है। इसलिये पर द्रव्य के सम्बन्ध मुनि को सर्वथा निषेध किये गये है।

चन्दा करना, मठ बनवाना, पिछी कमंडलु की बोली नहीं लगवानी, यह आगम के खिलाफ है किसी प्रकार का परिग्रह नही रखना चाहिये अपनी बरस गाँठ नही करानी चाहिये जिसका दुबारा जन्म हो उसकी मननी निषेध है ।

छह ढाला : छट्ठीढाल काव्य

तप तपै द्वादश धरै वृश दश रत्नत्रय सेवै सदा ।
मुनि साथ में ना एक बिचरे चहै नहिं भव सुख कदा ।।

अर्थ:- मुनि बारह प्रकार के तप तपते है। दस प्रकार से धर्म को धारण करते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय की रक्षा करते है। मुनि अकेले अथवा मुनियों के साथ विचरण करते है।

वचन चारित्र अधिकार से

सर्वार्थसिद्धि पं० जयचन्दजी कृत अ० ६ सू० १३

इहां संघ कहता रत्नत्रय करि सहित च्यारि के मुनि कू संघ कह्या है तहां मुनि कहिये।।

अवधि मन: पर्ययज्ञान ऋषि कहिए ऋद्धि जिनकू करि होय, यति कहिये इन्द्रियों के जीतन-हारे। अवागत कहिये सामान्य साधु ऐसा कहिये अनेक व्रत आदि गुणानि को समूह जामे है तातै एक कै भी संघ पणा बणै है ।।

मूलाराधना पृष्ठ ४४६

एको पि संयतो योगीवरं पापूर्वस्य लक्षत: क्षुद्रो ।
संगमेन तदीयेन चतुरंगं विवर्धते ।।

अर्थ:- हे मुनि वृन्द चारित्र हीन बहुत है ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सादे गुणी मुनि एक ही है। ऐसा समझकर उसको मत छोड़ो ऐसे अभिप्राय कथन, चारित्र हीन मुनि लक्षावधि हो तो एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिए, कारण सुशील मुनीश्वर के आश्रम से शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र बढ़ते है ऐसे ही मुनि का आप आश्रय करो ऐसा समझना।

दिट्ठा पगदं वत्थं अब्भुठ्ठाणप्प धाणकिरि महिं ।
तहु तदो गुणादो विसेसि दव्वेत्ति उपदेसो ।।१।।

भावार्थ·- भगवंत की ऐसी आज्ञा है कि जो ज्ञानादि गुणों से अधिक हो उसका आदर विनय करना धर्मात्माओं को योग्य है, इसलिये धर्मात्माओं को उत्तम पात्र की विनयादि क्रिया अवश्य करनी चाहिये।

अब्भुहावं गहण उवासण पासणं च सवकार ।
अंजलि करणं पणमं भाणिहमिह गुणाधि गाणं ही पहर ।।

भावार्थ·- इतनी पूर्वोक्त उत्तम क्रियायें अपने गुणों से उत्कृष्ट पुरुषों की करनी योग्य है।

अब्भुठ्ठेया समणा सुत्तत्थ विसारदा उवासेथा ।
सजमंत्त वणाण इठा मणिवद णीणहि समेणे हिं ।।६३।।

भावार्थ - जो मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञारन चरित्र से युक्त है उन्हीं की पूर्वोक्त विनयादि क्रिया करने योग्य, और जो द्रव्य लिंगी श्रमणाभास मुनि है उनकी विनयादि करने योग्य नहीं है।

ण हवदि संजमेत्ति मदी संजमत वसुत्त संपजुन्तावि ।
नदि सद् हदिण अहय आदपधाणे जिणवरवाद ।।६४।।

भावार्थ:- जो सिद्धान्त को जानने वाला भी है, संयमी तपस्वी भी है लेकिन सर्वज्ञ प्रणीत जीवादिक प्रदार्थों पर श्रद्धा नहीं करता इसी से वह श्रमणाभास कहा जाता है।

अर्थः- आगे यथार्थ मुनि पद सहित मुनि की जो क्रिया विनयादि नहीं करता वह चरित्र से रहित है ऐसा दिखलाते हैं। (यः) जो मुनि (पुष्पसनएषं) भगवान की आज्ञा में प्रवृत (श्रमणं) उत्तम मुनि को (दृष्ट्वा) देखकर (प्रद्वेषतः) द्वेष भाव से (हि) निश्चय कर (अपवदति) अनादर कर बुराई करता है। (क्रियासु) और पूर्वोक्त विनयादि क्रियाओं में (हि) निश्चय से (नष्ट चारित्रा) चारित्र रहित (भवति) होता है।

भावार्थः- जो कोई मुनि दूसरे जिन मार्गी मुनि को देखकर द्वेष भाव से निन्दा करता है, निरादर करता है व कषाय भावों की परिणति से नष्ट चारित्री होता है ॥६४॥

गुण दोध्य गस्स विणयं पडिच्छगो जो विहोमि समणोति ।
होच्जं गुणाधरो जदि सो होदि णण्त संसारी ॥६६॥

अर्थः- आगे जो यतिपने से उत्कृष्ट है उनसे जो अपने से हीन आचरण करे वह अनन्त संसारी है, यह दिखलाते है (यः) जो मुनि (अहं श्रमणः) मै यति (भवामि) (इति) ऐसे अभिमान से (गुणतः) अधिक ज्ञान, संयमादि गुणों से उत्कृष्ट महा मुनियों से (विनयं) आदर को (प्रत्येषकः) चाहता है, वह यदि जो (गुणधर) गुणों को धारण न करने वाला (भवन्) होता हुआ (सः) झूठे गर्व को करने वाला वह (अनंत संसारी) अनंत संसार को भोगने वाला (भवति) होता है ।

भावार्थः- जो कोई महामुनि के पास से अपनी विनय चाहता है, और कहता है 'क्या हुआ जो ये गुणों से अधिक है, मै भी तो यति हूं ऐसा अहंकार भी करता है वह संसार में भटकता है इस कारण अपने से बड़ों का विनय करना योग्य है ॥६६॥

अधिगगुणा साम्मण्णे वट्टति गुणा धरेहिं किरियासु ।
जहिते मिच्छ वजुत्ता हवंति पमट्ठ चारित्त ॥६७॥

भावार्थः- जो अपने ही हीन गुण वाले का विनय आदर करते है वे अज्ञानी हुए संयम का नाश करते है ॥६७॥

छिच्छिद सुत्त्य पदो समिद कसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिग जणा संसाग्गण चयदि जदि संजदोण हवदि॥६८॥

भावार्थः- जो भगवत प्रणीत शब्द ब्रह्म का जानने वाला है, आत्म तत्व को भी जानता है, बहुत अभ्यास कर निकंप उपयोगी है और तप की अधिकता से उत्कृष्ट संयमी है, इत्यादि गुणों से युक्त है तो भी लौकिक मुनि की जो संगति नहीं छोड़े तो वह संयमी नहीं हो सकता। जैसे आग के सम्बन्ध से उत्तम शीतल जल अवश्य गर्म विकार को धारण करता है उसी तरह मुनि भी कुसंगति से अवश्य नाश को प्राप्त होता है, इसलिये कुसंगति त्यागने योग्य है।।६८।।

णिग्गंथो पव्वइदो वहदि जदि एहिं गेहि कम्मेहि।
सो लोगगो ति भणिदो सजम तवं सं जुदो चावि।।६९।।

भावार्थः- यद्यपि निर्ग्रन्थ दीक्षी की प्रतीज्ञा की है, संयम तपस्या का भार भी लिया है, लेकिन जो मोह की अधिकता से शुद्ध चेतना व्यवहार को शिथिल करता है मनुष्य अभिमान कर घूम रहा है और इस लोक सम्बन्धी कर्मों से रहित नहीं हुआ, ऐसा भ्रष्ट मुनि लौकिक कहलाता है, ऐसे की संगति मुनि को त्यागने योग्य है।।६९।।

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छादि जदि दुक्ख परिमोक्खं।।७०।।

भावार्थ.-जो मोक्षाभिलाषी मुनि है उसको चाहिये-या तो गुणों में अपने समान हो, या अधिक हो ऐसे दोनों की संगति करे, अन्य की न करे। जैसे शीतल घर के कोने में शीतल जल रखने से शीतल गुण की रक्षा होती है, वह जल अति शीतल हो जाता है। बर्फ मिश्री की संगति से और भी अधिक शीतल हो जाता है। उसी तरह गुणाधिक पुरुष की संगति से गुण बढ़ते है; इसलिये सत्संगति करना योग्य है। मुनि को चाहिये कि पहली अवस्था में तो पूर्व कही हुई शुभोपयोग से उत्पन्न प्रवृत्ति को स्वीकार करे, पीछे क्रम से संयम की उत्कृष्ट परम दशा को धारण करे।

हे भव्य जीवो! समस्त वस्तु को प्रकाश करने वाली केवल ज्ञानानन्दमयी अविनाशी अवस्था को सब तरह से पाकर अपने अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करो।।७०।।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव

यह मोक्ष मार्ग का प्रकरण है। श्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में लिखते है कि कोई भव्य जीव जिसका संसारान्त निकट है, जो आत्म हित

का इच्छुक है, वह देखता है कि परम पवित्र रमणीय एकान्त और भक्त जीवों को विश्राम देने वाले तपोवन में निर्ग्रन्थ वीतरागी महाराज विराजमान हैं, वे इतने शान्त है कि उनकी मुद्रा से मोक्ष मार्ग प्रकट हो रहा है, वे यद्यपि वचन से कुछ भी बोल नहीं रहे है तो भी उनके शरीर से ऐसा मालूम होता है कि मानों साक्षात मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन करा रहे है, परहित का प्रतिपादन करना ही उनका कार्य है।

बड़े-बड़े आकर उनकी उपासना कर रहे हैं, यह सब देख वह बड़ा प्रभावित हुआ और विनय सहित पूछने लगा-भगवन! आत्मा का हित किसमें है? वह बोले - मोक्ष में है। उसने पुनः प्रश्न किया मोक्ष का क्या स्वरूप है तथा उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है? आचार्य महाराज ने कहा-अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों के सम्बन्ध से दुखी हो रही है उससे छूट जाने का नाम मोक्ष है। वह तभी सम्भव है जबकि बन्ध के कारणों का अभाव, तथा संवर हो जावे । आस्रव का निरोध और संवर की प्राप्ति हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

यही बात स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बतायी है। मैं उस समीचीन धर्म को कहूँगा जो इस जीव को संसार के दुखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त करावे? कर्म का निवारण करने वाला होय सो धर्म है। उस चीज को चाहे किसी नाम से कह लो । कर्म को निवारण करने वाला वह धर्म शुद्धोपयोग रूप ही है । शुभोपयोग तो उसका सहायक होगा। श्री सम्मेद शिखरजी की वन्दना को गये, लम्बा मार्ग होने से किसी छायादार वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे, जितना विश्राम है उतना तो चलने में बाधक ही है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह अभीष्ट स्थान तक पहुँचने में सहायक है, इसी तरह शुभोपयोग को जानना चाहिये।

श्री प्रवचनसारजी में लिखा है कि वीतराग चारित्र से ही मोक्ष होगा। वह पूर्व चारित्र जब तक नहीं हुआ तब तक वह सराग चारित्र मनुष्य और देव के विभव रूप क्लेश को प्राप्त करावेगा। विचारने की यह बात है कि क्या चारित्र से बन्ध होता है? वास्तव में पूछो तो चारित्र बन्ध नहीं, निर्जरा ही है किन्तु उसके साथ जो रागांश मिला है वह बन्ध का कारण है। स्वर्ण में आठ आना भर चांदी मिली तो वह शुद्ध स्वर्ण के भाव नहीं बिकेगा। दसवें गुण स्थान में सूक्ष्म लोभ विद्यमान हो, तब तक आत्मा की निर्मल अवस्था प्रत्यक्ष नहीं।

अब देखिये कर्म की १४८ प्रकृतियों में श्रेष्ठ प्रकृति तीर्थंकर की है जिसका बन्ध सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही होता है। सोलह कारण भावनाओं में से प्रथम भावना दर्शन विशुद्धि है तो जिस जीव के अपायविचय धर्म ध्यान में बैठकर ऐसा शुभ विकल्प आया कि ये जंगल के प्राणी मोह के वशीभूत ही कितना दुःख उठा रहे है। उन्हें मोक्ष का मार्ग कैसे मिले। ऐसा विशिष्ठ शुभ परिणाम वाला जीव ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध वाला जीव अधिक से अधिक तीन भव में मुक्त हो जाता है।

मोक्ष का उपादान कारण आत्मा है, और आत्मज्ञान प्रमाण है। इस वास्ते एक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।

दस लक्षण धर्म का महत्व

(१) उत्तम क्षमा धर्म·- आत्मा के स्वरूप की प्रतीति पूर्वक चारित्र धर्म की दस प्रकार से आराधना करना दस लक्षण धर्म है। आत्मा में दस प्रकार के सद्भावों (गुणों) के निवास से सम्बन्धित होने से इसे दस लक्षण महापर्व कहा जाता है। त्रिकाल अशरीर निर्विकार तक्तव है, और ज्ञान के साथ अज्ञेय है, ऐसी रुचि एवं प्रतीति करना महान् क्षमा है । क्षमा वीरों का आभूषण है। वह आत्मा का स्वभाव है ।

(२) उत्तम मार्दव धर्म - सम्यग्ज्ञान पूर्वक, अभिमान के कारण होते हुए भी गर्व न करना उत्तम मार्दव धर्म होता है। वास्तव में उत्तम क्षमा के सद्भाव से उत्तम मार्दव प्रकट होता है वह आत्मा का स्वभाव है ।

(३) उत्तम आर्जव धर्म - उत्तम आर्जव धर्म सहज सरल भाव को कहते है, सम्यग्ज्ञान पूर्वक सरलता उत्तम आर्जव धर्म होता है वास्तव में मन-वचन-काय की कुटिलता त्याग कर सरल रूप से रहना उत्तम आर्जव है। यह आत्मा सरल स्वभावी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप ये चारों गुण आत्मा में ही है। अतः आत्मा की ही शरण लो। हे भव्य जीवों! अपने हृदय से कपट, मायाचार निकालकर उत्तम आर्जव धर्म का पालन करो तभी तुम्हारा कल्याण हो सकेगा।

(४) उत्तम शौच धर्म.- अनादि काल से आत्मा सप्तधातुमय शरीर के संसर्ग से अपवित्र हुआ कहलाता है। जो मनुष्य शुद्धात्मा का ध्यान

उनके इस अपवित्र शरीर में रत नहीं रहता है तथा सोचता है कि मैं शुद्ध, बुद्ध हूँ, निर्मल स्फटिक के समान हूँ मेरी आत्मा अनादि काल से शुद्ध है - इस प्रकार सदा अपने हृदय में ध्यान करता है, वह शुचित्व है वस्तुत: आत्मा का स्वरूप ही शौच धर्म है।

(१) दर्शन विशुद्धि, निरतिचार सम्यक् दर्शन पालने ;(२) विनय सम्पन्नता आत्महित के साधने, रत्नत्रय और उनके धारकों का यथायोग्य शिष्टाचार करने एवं पूज्यों का सत्कार करने; मिथ्यात्व के पांच भेदों को एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान, तीन शल्य मिथ्यात्व, माया निदान आदि को त्यागने से आत्मा निर्मल होती है और तभी असली रूप से शौच धर्म प्रकट होता है।

(५) उत्तम सत्य धर्म·- जो वस्तु जैसी है, जैसी सुनी है उसी रूप में उसका वर्णन करना उत्तम सत्य है, उत्तम शौच धर्म के सद्भाव में ही उत्तम सत्य धर्म प्रकट होता है। प्राणि के हितकारक सत्वचन बोलना सत्य है। असत्य भाषण के त्याग करने से सत्य वचन प्रकट होते है, और सत्य बोलना तो सत्य धर्म है ही। सत्य से आत्मा का कल्याण होता है। सारे तप सत्य पर ही निर्भर करते है। बड़े-बड़े तपस्वी सत्य से विचलित हो गये, पर जिन्होंने सत्य का पालन किया वे इस संसार से मुक्त हो गये। सत्य की सदैव विजय होती है। सत्य पच्चीस दोष रहित है, तथा सम्यक् आठ अंगों का पालन निर्मल व निराकार है, इसकी प्राप्ति के लिये सभी को प्रयत्न करना चाहिये । वही सत्य है जिससे शान्ति की स्थापना हो और सुख की प्राप्ति हो। यदि सत्य बोलने से कहीं पर कलह और अशान्ति पैदा होती है तो वहाँ मौन रहना ही उचित है। कोमल वचन बोलना चाहिये। धर्म की हानि या कलंक लगाने वाला, प्राणियों को क्लेश पहुँचाने वाला वचन न कहना ही उत्तम सत्य धर्म है।

(६) उत्तम संयम धर्म:- सम का अर्थ पूर्ण रूप से और यम का अर्थ रोक थाम। इस प्रकार पूर्ण रूप से रोकथाम अर्थात् इन्द्रिय निरोध का नाम संयम है। दूसरे शब्दों में सब ओर से चित्तवृत्ति को रोककर आत्मा में केन्द्रित करना संयम है। वास्तव में उत्तम सत्य धर्म के सद्भाव में संयम धर्म प्रकट होता है जो विषयों की आशा से रहित, आरम्भ

रहित, परिग्रह रहित, ज्ञान, ध्यान एवं तप में लीन होते है वही तपस्वी प्रशंसनीय होते है। यदि तप-तपश्चरण विषयों की आशा से किया जाय यानि विषयों की अभिलाषा से या मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र औषधादि सिद्धि करने हेतु अथवा अन्य लौकिक ख्याति लाभ, पूजादि की इच्छा से घर बार छोड़कर वनवास करे तथा नाना प्रकार के काय क्लेश करे तो यह केवल आडम्बर मात्र है और व्यर्थ है। वात्सल्य अंग, स्थितिकरण और विनय ये संयम पालन करने में सहायक है। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन, चार कषायों का त्याग और मन, वचन काय का निग्रह ही संयम है। पाँचों इन्द्रियों पर शासन करना ही संयम है । वही संयमी है । वह राजा समान है । इनके वशीभूत रहता है वह चोर के समान है। आज का मानव इन्द्रियों का दास बना हुआ है।

(७) उत्तम तप धर्म·- तप का अर्थ है तपाना। और आचार्यों ने इसको बताया है "इच्छा निरोधस्तप:" अर्थात इच्छाओं का निरोध तप है। वस्तुत: उत्तम संयम के सद्भाव में उत्तम तप प्रगट होता है जहाँ तीर्थंकर गणधर तथा सामान्य मुनि जहाँ-जहाँ पर निवास करते है वे सब स्थान इस संसार के प्राणियों को सदा के लिए पवित्र करने वाले हो जाते है। तथा तप द्वारा मुनियों का तप-स्थान पूज्य हो जाता है, अत· इस पवित्र तप को प्रत्येक प्राणी को धारण करना चाहिये। तप किसलिए किया जाता है। उत्तर स्पष्ट है "आत्म शुद्धि के लिए इच्छाओं को रोकना, निरोध करना तप है।

(८) उत्तम त्याग धर्म.- त्याग का अर्थ है 'छोड़ना' यह उत्तम त्याग धर्म, उत्तम तप धर्म के सद्भाव में प्रगट होता है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से अपनी आत्मा में अनादि काल से लगे हुए विकारी भावों को निश्चय त्याग द्वारा ('पर' भावों से सदा भयभीत तथा दु:खी रहता है) इन भावों के छोड़ने पर ही आत्मा निर्भय बन सकती है। यही त्याग धर्म है। आत्म शुद्धि के उद्देश्य से विकार भाव छोड़ना तथा स्व एवं पर उपकार की दृष्टि से धन आदि का त्याग (दान) करना ही त्याग धर्म है। आध्यात्मिक दृष्टि से राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि विकारी भावों का आत्मा से छूट जाना ही त्याग है। व्यवहार में धन

आदि से ममत्व छोड़कर अन्य जीवों की सहायता के लिए दान देना त्याग है।

(९) उत्तम आकिंचन धर्म:- आकिंचन का अर्थ है कुछ भी न लेना, किसी पदार्थ की आशा न रखना, किसी वस्तु से ममत्व न रखना आदि। वास्तव में उत्तम त्याग के सद्भाव में उत्तम आकिंचन धर्म प्रगट होता है। शुद्ध चैतन्य अमूर्तिक आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वरूप पुद्गलमयी, रूपी अर्न्तबाह्य चौबीस परिग्रहों का त्याग तथा शरीर से निर्ममत्व का होना उत्तम आकिंचन है। संसार में सब कुछ सुलभ है। एक आकिंचन ही दुर्लभ है। इस जीव ने अनन्त भवों में मोह-ममता में फँसकर आकिंचन धर्म को भुला दिया है । दुनियां में पर-पदार्थों से स्नेह आत्मा को डुबाने वाला है, और निःस्नेह निर्वाण का कारण है । जो जीव आकिंचन धर्म को न समझकर पर पदार्थों से आशक्ति रखता है, वह मूर्च्छित व्यक्ति के समान है। पद्मनन्दीपंचविंशतिका में कहा भी है कि यदि परिग्रह धारियों को भी मुक्ति मिल जावेगी तो अग्नि को भी शीतल कहना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख को सच्चा सुख कहेंगे तो विष को भी अमृत कहना पड़ेगा। और यदि शरीर को स्थिर कहेंगे तो आकाश में चमकने वाली बिजली (चपला) को भी स्थिर कहना होगा। इसी तरह यदि संसार में रमणीयता कहेंगे तो इन्द्रजाल में भी रमणीयता कहनी पड़ेगी। इससे स्पष्ट है कि संसार से ममता न रखना ही उत्तम आकिंचन धर्म है।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म:- उत्तम आकिंचन धर्म के सद्भाव में उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है। 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा और 'चर्या' यानि आचरण। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ आत्मा में रमण करना। इसलिए सब पदार्थों से मन हटाकर अपनी आत्मा में ही उपयोग लगाना 'निश्चय उत्तम ब्रह्मचर्य' है और स्पर्श के विषय मैथुन कर्म से परांगमुख होना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। आत्मा का आत्मा में रमण तभी हो सकता है जब कि चित्तवृत्ति विषय वासनाओं से रहित हो।

एक श्लोक में श्री भर्तृहरिजी ने लिखा है:- इस संसार में ऐसे शूरवीर है जो मस्त हाथियों के कुम्भ स्थल के दलन करने में समर्थ है,

कितने ही ऐसे शूरवीर है जो वनराज सिंह के वध करने मे सक्षम है। किन्तु मै (भर्तृहरि) सबके सन्मुख हाथ फैलाकर कहता हूँ कि कन्दर्प (कामदेव) के दर्प (अभिमान) को दलन करने वाले संसार मे विरले ही मनुष्य है। मुनिराज कोई छल कपट का कार्य नही करते, अत: वे निर्दोष आर्जव गुण का आचरण करते है। उन्हे धन आदि के संचय की कोई आवश्यकता नही होती है। अत: निर्लोभवृत्ति के कारण उनमे शौच धर्म स्वच्छता के साथ विद्यमान रहता है असत्य भाषण की उन्हें कोई जरूरत नहीं होती अत: वे पूर्ण सत्यवादी होते है।

क्षमावणी

उत्तम क्षमा आदि दया धर्म अनादि कालीन है। 'क्षमावणी पर्व' के नाम से प्रसिद्ध है इस दिन के उपलक्ष्य में प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी जीव मात्र के प्रति मैत्री भाव धारण करता है, वह सब जीवों से क्षमा याचना करता है और स्वयं सबके प्रति क्षमा भाव रखता है वह समझता है कि क्षमा हमारा जीवन है, धर्म है, प्राण है, और आत्मा है । अत: उसकी भावना होती है कि मै सर्व जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा प्राणी मात्र से मैत्री भाव है; किसी से भी किसी प्रकार का वैरभाव नहीं है। जीव समझता है कि मै त्रिकाल अशरीर निर्विकारी तत्व हूँ, उसके द्वारा ऐसी प्रतीति करना महान क्षमा है। कोई आकर गालियाँ दे या मारे, उस समय क्रोध न करना, शुभ राग है आत्मा को विकार रहित एवं ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण मानना उत्तम क्षमा है अत· उत्तम धर्म का पालन करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिये। वह ज्ञान स्वरूपी है, किन्तु उसका पर से भिन्न तथा उसके साथ एकमेक है। धर्म स्वयं मांगलिक है धर्म आत्मा की निर्दोष पर्याय है, उसका सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव के साथ है। आत्मा का सच्चा स्वरूप जाने बिना धर्म नहीं हो सकता।

क्षमा भाव मन में सदा, करत रहे किलोल,
ज्ञानी की ऐसी दशा, मीठे बोले बोल,
त्रुटि अन्य की शुद्धि कर, मन में करे विचार,
भूल सभी के साथ है, करत स्वयं सुधार,
मै तो भूलों से भरा, शुद्ध जिनागम पंथ।

यद्यपि 'क्षमावणी दिवस' जैन समाज का अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन है, किन्तु मुनिजन प्रतिदिन ही नही वरन प्रति संध्या समय प्रति-क्रमण किया

करते है। मिच्छामि दुक्कड़् अर्थात् अपराध मिथ्या हो जावे। ऐसा प्रतिक्रमण करते हुए वे षट्कायिक जीवों को क्षमा करते है तथा उनसे क्षमा याचना करते है।

सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय से रंजायमान नही होता है

सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय से रंजायमान नही होता है; इसलिए उसके रागादि नही है इसी कारण से सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानावरणीय द्रव्यकर्म का बन्ध नही है 'निश्चय से ऐसा ही द्रव्य का स्वरूप है। इस प्रकार राग-द्वेष, मोह ऐसे जो अशुद्ध परिणाम है वे ही बंध के कारण है।

भावार्थ:- यदि कोई अज्ञानी जीव ऐसा माने कि सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र मोह का उदय होता है उस उदय मात्र के होने से आगामी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता होगा। तो उसका समाधान यह है कि चारित्र मोह के उदय मात्र से बंध नही होता। उदय होने पर, जो राग-द्वेष-मोह परिणाम हो तो बन्ध होता है, अन्यथा और कारण हजारों भी हो तो भी कर्मबंध नही होता। मिथ्यात्व के जाने पर अकेले चारित्र मोह के उदय की शक्ति नही कि वह राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करवा दे। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के राग द्वेष परिणाम नही होते और इसलिए कर्मबन्ध का कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नही होता।

ज्ञानार्णव

जो परिग्रह रहित संयमी है, वह चाहे तो निर्जन वन मे रहे, चाहे बस्ती में रहे, चाहे सुख से रहे, चाहे दुःख से रहे उसको कहीं भी प्रतिबद्धता नही है, अर्थात् वह सब जगह सम्बन्ध रहित निर्मोही रहता है।

धर्मामृतपान

ज्ञानियों ने तप की सिद्धि के दो ही कारण बताये है एक तो स्त्रियों को न देखना, स्त्री मात्र की संगति न करना और दूसरा शरीर को अच्छी तरह से क्षीण बनाना, अनशनादि करके अथवा आतापनादि योग के द्वारा उसको कृश करना। रागी जीव पहले कामनियों के कटाक्ष-पात का निरीक्षण

करने की तरफ उन्मुख होता है और उसके बाद फिर दूसरे भी दुर्भावों में प्रवृत्त होता है। इसी क्रम से अन्त में जाकर वह तत्वरूप परिणत हो जाता है-इस बात को दिखाते है।

अमूल्य बातें

१ लोहा जब एक बार पारस को छूकर सोना हो जाता है, तब चाहे उसे मिट्टी के भीतर रखो या कूड़े में फैक दो वह जहाँ रहेगा सोना ही रहेगा, लोहा न होगा। इस प्रकार जो आत्मा को पा चुका है वह बस्ती में रहे चाहे जंगल में उसको फिर दाग नही लग सकता।

२. दूध में मक्खन रहता है, पर मथने से ही निकलता है, वैसे ही जो आत्मा को जानना चाहे वह उसका साधन करे।

३ मन सफेद कपड़ा है, इसे जिस रंग में डुबाओगे वही रंग चढ़ जायेगा।

४ साधु के संग को धर्म का सर्वप्रधान अंग समझना चाहिये।

५ गुरू लाखों मिलते है पर चेला एक भी नहीं मिलता, उपदेश देने वाले अनेकों मिलते है, पर उपदेश पालन करने वाले बिरले ही है।

६ काजल की कोठरी में कितना भी बचकर रहो, कुछ न कुछ कलौस लगेगी ही, इसी प्रकार युवक-युवती परस्पर बहुत सावधानी से साथ रहें तो भी कुछ न कुछ काम जागेगा ही।

७ सुई के छेद में धागा पहनाना चाहते हो तो उसे पतला करो। मन को आत्मा में पिरोना चाहते हो तो हीन दीन अकिंचन बनो।

८ संसार के यश और निन्दा की कोई परवाह न करके आत्मा के पथ में चलना चाहिये।

९ एक महात्मा के निमित्त से कितने ही जीवों का उद्धार हो जाता है।

१० जल में नाव रहे तो कोई हानि नहीं, पर नाव में जल नहीं रहना चाहिये। इसी तरह साधक संसार में रहे तो कोई हानि नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार नहीं होना चाहिये।

११ सफेद कपड़े में थोड़ी सी भी स्याही का दाग पड़ने से वह दाग बहुत स्पष्ट दीखता है, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यों का थोड़ा दोष भी अधिक दिखलायी देता है।

१३. कामिनी और कञ्चन ही माया है; इनके आकर्षण में पड़ने पर जीव की सब स्वाधीनता चली जाती है। इनके मोह के कारण ही जीव भव बन्धन में पड़ जाता है।

१४. जो मूर्ख वासना के रहते त्याग धारण करता है, उसका यह लोक और परलोक दोनों नष्ट होते है।

१५. तत्त्वज्ञान होने से मनुष्य का पूर्व स्वभाव बदल जाता है।

१६. स्वामी के जीवित रहते ही जो स्त्री ब्रह्मचर्य धारण करती है वह नारी नहीं है, वह तो साक्षात भगवती है।

१७ प्रपंचों में मनुष्य का आत्म पतन हो ही जाती है।

१८ अहंकार करना व्यर्थ है; जीवन, यौवन, कुछ भी यहाँ नहीं रहेगा, सब दो घड़ी का सपना है।

१९ पुस्तकें हजार पढ़ो, मुख से हजार श्लोक कहो, पर आत्मा के सन्मुख होकर उसमें डुबकी नहीं लगाने से उसे पा न सकोगे।

२० संगी साथी एक-एक करके चले गये, अब तुम्हारी बारी आयेगी क्या गाफिल होकर बैठे हो। काल सिर पर सवार है, अब भी सावधान हो जाओ, इससे निस्तार पाने का कुछ उपाय करो । तुम्हारी देह तो नहीं रहेगी इसे काल खा जायगा, अब भी जागो, नहीं तो धोखा खाओगे, नशे के बीच मारे जाओगे पर उपकार करो, पर निन्दा मत करो ।

२१ अहंकार, लोकप्रियता, मान, ये सब लोकैषणाओं के बादल उत्कृष्ट भक्ति का सूर्योदय होते ही गल गये ।

२२. पाप की मैं गठरी हूँ, दण्ड दो मुझे! हे प्रभु, मेरा मान-अभिमान उतारो । प्रभु, मैं न तेरा हुआ, न संसार का; दोनों से गया, केवल चोर बना रहा ।

२३ धन का मान साधक को धरती पर पटक कर उसके परमार्थ का सत्यानाश करने वाला है ।

२४ लोग बड़ी प्रशंसा करते है, पर मुझसे सुनी नही जाती, जी छटपटाया करता है । तुम जिससे मिलो । हे हरि, ऐसी कोई कला बताओ मृगजाल के पीछे मत लगाओ, अब मेरा हित करो, इस जलती हुई आग से निकालो।

२५. जिसके मन में काम वासना प्रबल हो उसके लिए विवाह कर लेना ही उचित है, ऐसा करने से वह दूसरे पापों और संकटों से बच जाता है। मेरी नजर में अगर दीवार और औरत एक सी न लगती होती तो मैंने भी विवाह कर लिया होता।

२६. लोक कल्याण को अपने कल्याण से भी अधिक मानना ही सच्ची साधुता, महत्ता और उदारता है।

२७. जिस लोक कल्याण में अभिमान का पुट है वह तो मोह है, त्याज्य है।

२८ इस समय तुम्हें जो क्षण प्राप्त है वही तुम्हारा सबसे बढ़कर कीमती धन है। आध्यात्मिक जगत में काल नाम की वस्तु ही नहीं है, भूत और भविष्य भी नहीं है।

२९. जिस प्रकार स्नान आदि से प्रतिदिन शरीर स्वच्छ करना जरूरी है; उसी प्रकार मन को भी रोज स्वच्छ करना चाहिये; मन को धोने के लिए भगवान का भजन ही स्वच्छ सरोवर है ।

३०. जिस साहित्य से मन में कामनाएँ जाग्रत हों मन विषयों में जाय, उसे मलिन साहित्य मानकर उसका त्याग करना चाहिये और जिससे कामनाएँ घटें, मन में भगवान के प्रति प्रीति उत्पन्न हो, मन निर्मल हो, उसे शुद्ध साहित्य मानकर उसका अध्ययन करना चाहिये।

३१. सावधान रहना, जो आदमी तुम्हारे आगे दूसरों की निन्दा करता है, वह दूसरों के सामने तुम्हारी भी निन्दा अवश्य करता होगा। ऐसे आदमी की बातों में मत फँसना, नहीं तो बड़ी भारी विपत्ति का सामना करना होगा।

३२. वैराग्य होने पर मान-प्रतिष्ठा, इन्द्रिय-स्वाद और लोक लाज की परवाह ही नहीं रहती त्यागी होकर भी जो पर मुखापेक्षी बना रहता है वह तो कुक्कुर के समान है। त्यागी को अपनी वृत्ती सदा स्वतन्त्र रखनी चाहिये।

भिक्षा मांगकर (नवधा भक्ति) खाना ही उसके लिए परम भूषण है। जो त्यागी होकर अपनी जिह्वा को वश में नहीं कर सकता, घर छोड़ने पर भी जिसे भिक्षा में संकोच है, वह तो इन्द्रियों का गुलाम है। परमार्थ का पथ उससे बहुत दूर है। विरागी को निरन्तर नाम,

आत्म जप करते रहना चाहिये। समय पर रूखा-सूखा जो भी भिक्षा में प्राप्त हो जाय, उसी पर निर्वाह करके केवल आत्मध्यान के निमित्त इस शरीर को धारण किये रहना चाहिये। सभी शास्त्रों का सार यही है कि आत्म धर्म का नाम-स्मरण ही संसार से रहित सुख का सर्वश्रेष्ठ साधन है। प्रेम की उपलब्धि नाम-स्मरण से ही हो सकती है।

३३. ग्राम्य कथा कभी श्रवण नहीं करनी चाहिये। ग्राम्य कथा सुनने से चित्त में वे ही बातें स्मरण होती हैं जिससे भजन में चित्त नहीं लगता विषयी लोगों की बातें करने से चित्त विषयमय बन जाता है। स्वादिष्ट अन्न और चमकीले वस्त्र से बचना चाहिये। हृदय में अभिमान आते ही सभी साधन नष्ट हो जाते हैं। सदा, सर्वत्र और सब अवस्थाओं में भगवन्तों का जप करते रहना चाहिये। नाम जपने से आत्मा की प्रतीति उत्पन्न होती है। मानसिक पूजा ही सर्वश्रेष्ठ पूजा है। जहाँ तक हो विषयी, धनिक पुरुषों के अन्न से बचना ही चाहिये आध्यात्मिक शास्त्रों के श्रवण, भगवान के नाम कीर्तन , मन की सरलता, सत्पुरुषों का समागम, देहाभिमान के त्याग का अभ्यास, इन भागवत धर्मों के आचरण से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान में आसक्त हो जाता है। सोच करने से कोई लाभ नहीं है, सोच करने वाला केवल दुःख ही भोगता है। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों को त्याग देता है, जो ज्ञान से तृप्त है और वृद्धि है वह सुख पाता है।

३४ सदाचार के पालन से मनुष्य दीर्घ आयु, मनचाही सन्तान और अटूट सम्पत्ति पाता है, इससे अपमृत्यु आदि का भी नाश होता है। सब प्रकार से अपने हित के कार्य करने चाहिये। जो बहुत बोलते हैं उनसे कुछ नहीं होता। संसार में ऐसा कोई उपाय नहीं जिससे सभी प्रसन्न हो सकें।

३५. अरे, विषयों में इतना क्यों रम रहा है? कभी उनसे मुख नहीं मोड़ता, निज आत्मा का ध्यान कर जिससे फिर यम के फन्दे में न पड़ना पड़े।

३६ जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग नामक चार धर्म होते हैं

उसे मरकर इस लोक से परलोक को प्राप्त होने पर सोच करना पड़ता है।

३७. जिसके चित्त से राग-द्वेष का नाश हो गया है, वही गुणी, दानी और ध्यानी है।

३८ मन के अहंकार को छोड़कर ऐसी जबान बोलनी चाहिये जिससे दूसरों को भी शान्ति पहुँचे और अपने को भी शान्ति मिले । रात को सोना और दिन का खाना भूलकर सारी बकवाद छोड़कर दिन रात आत्मा को स्मरण करना चाहिये।

३९ जैसे, शत्रु हुए बिना मित्र की कीमत नहीं मालूम होती, वैसे ही प्रेम की शक्ति के व्यवहार का स्थान न हो तो प्रेम की शक्ति का भी पता नही लगता।

४० लोग भाँति-भाँति की चर्चा किया करते है, परन्तु उन्हे अपने भीतरी और बाहरी जीवन की जाँच तथा समालोचना करनी चाहिये, अपने कार्य तथा स्वभाव की ओर से सदा सावधान रहना चाहिये और सन्मार्ग कभी नही छोड़ना चाहिये, यही सर्वोत्तम कार्य है।

४१ प्रेम का परिचय केवल स्तुतियो से नही मिलता, अनेक दु ख झेलकर समस्त स्वार्थ को तिलांजली देकर, प्रेम को प्रमाणित करना पड़ता है।

४२ जिस तरह तप के बिना शुद्धि नहीं होती, पिता के बिना पुत्र नही होता, मेघ बिना वृष्टि नही होती वैसे ही रत्नत्रय के बिना चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति नही होती है।

४३ जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान.चरित्र रूप अपने ही आत्मा की प्रवृत्ति एक साथ होती है वहाँ जिनेन्द्रो ने रत्नत्रय धर्म कहा है।

४४ जैसे मेघो की वृष्टि से हरे अंकुर फूटते है वैसे ही शुद्ध चैतन्य रूप के चिन्तवन से मोक्षदायक धर्म की वृद्धि होती है।

४५ इन नीचे लिखे कारणों से मुनियों को ध्यान की सिद्धि मुक्ति के लिए होती है। ये ही मोक्ष के कारण है.-

१ परिग्रह त्याग असंगभाव

२ निर्जन एकान्त स्थान

३ तत्त्वज्ञान

४. सर्व चिन्ता से छुट्टी

५. बाधा रहितपना

६. मन, वचन, काय के योगों को वश करना

७ स्त्रियों के सम्बन्ध का त्याग

८. मान प्रतिष्ठा का त्याग, याचना-त्याग-मोक्ष प्राप्ति के उपाय है।

४६. मै शुद्ध चैतन्य हूँ, इसलिए मै उसी को देखता हूँ और सुखी होता हूँ उसी से संसार का नाश और मुक्ति का लाभ होता है। यही जिनागम का सार है।

४७ जल की तरह प्यास के दु:ख को दूर करने के लिए बुद्धिमान सैवाल को हटाकर जल को पीता है, उसी तरह ज्ञानी सर्व संकल्प, विकल्पों को छोड़कर, एक निर्मल आत्मा के ध्यानरूपी अमृत का ही पान करते है।

४८ आत्मध्यान से बढ़कर कही भी सुख नहीं है, न आत्म ध्यान से बढकर कही कभी कोई मोक्ष मार्ग है।

४९ यह भेद विज्ञान, शुद्ध, चिद्रूप के दर्शन के लिए तथा अनादि काल के महा मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के छेदने के लिए दीपक है।

५० शुद्ध चिद्रूप के ध्यान के सिवाय जितने कार्य है वे सब मोह से होते है। उस मोह से कर्म बन्ध होता है, बन्ध से दु:ख होता है, इससे जीव का वैरी मोह ही है।

५१. सबसे ममता का त्याग ही परम तत्त्व है, ध्यान है, व्रत है, व परम सुख है, शील है व इन्द्रिय निरोध है । इसलिए निर्ममत्व भाव का सदा विचार करे।

५२. जो परिग्रह आदि से रहित है, धीर है, रागादि मल से रहित है, शान्त है, इन्द्रिय विजयी है, तपस्वी है, मुक्ति प्राप्ति की भावना रखते है, मन वचन काय तीनों योगों को वश रखने वाले है, चरित्रवान है, दयावान है वे ही ध्यानी उत्तम पात्र मुनि है।

५३ आर्त व रौद्र ध्यान को त्याग कर जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का आश्रय लेता है वही जीव अनन्त सुखमयी अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है।

५४. सर्वज्ञों ने समता भाव को ही उत्तम ध्यान कहा है, उसी की प्रगटता के लिये सर्व शास्त्रों का विस्तार है, ऐसा मैं मानता हूँ।

५५. जब योगी अपने आत्मा को औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरों से रहित व राग, द्वेष, मोह इन तीनों दोषों से रहित आत्मा ही के द्वारा जानता है तब ही समभाव में स्थिति होती है । जिस समय यह आत्मा अपने को सर्व द्रव्यों की पर्यायों व पर द्रव्यों से विलक्षण निश्चय करता है उसी समय समता भाव पैदा होता है।

५६ यह जीव अनादिकाल से अनन्त काल हो गया चौरासी लाख योनियों में फिरता चला आ रहा है, क्योंकि इसको सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं मिला, यही बात बिना भ्रान्ति के जानो। सम्यक्त्व रत्न हाथ लग जाता तो भव में न भ्रमता।

५७ पुण्य बन्ध से जीव स्वर्ग में जाता है और पाप बन्ध से नरक में वास पाता है। जो कोई पुण्य-पाप दोनों से ममता छोड़कर अपने आत्मा को ध्याता है वही मोक्ष में वास पाता है।

५८ श्री जिनेन्द्र ने जो छह: द्रव्य तथा नौ पदार्थ कहे है उनका श्रद्धान व्यवहार नय से सम्यक्त्व है। भगवान ने कहा है उनको प्रयत्न पूर्वक जानना योग्य है।

५९ तीर्थ स्थान में व देवालय में श्री जिनेन्द्र देव है, ऐसा सब कोई कहता है, परन्तु जो अपने शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा को पहचानता है वह कोई विरला पंडित ही होता है।

६० इस संसार में यह आत्मा अकेला ही अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख रूप फल को भोगता है, और अकेला ही सर्व गतियों में एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

६१ सच्चा ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, विभाव से अशुद्ध है, सच्चा वैराग्य यह है कि मेरे आत्मा का हितकारी आत्मा के सिवाय कोई और पदार्थ नही है। आत्मा ही में आत्मा की अटूट, अमिट, ध्रुव सम्पत्ति है। इसे किसी वस्तु से राग करने की जरूरत नही है। हमें अपने आत्मा का ज्ञान दो अपेक्षाओं से करना चाहिये, एक निश्चयनय दूसरा व्यवहारनय। जिस दृष्टि से पदार्थ

का मूल शुद्ध स्वभाव देखने में आता है उस दृष्टि अथवा अपेक्षानय को निश्चयनय कहते है। जिस दृष्टि से पदार्थ का भेदरूप व अशुद्ध स्वभाव देखने में आता है उस दृष्टि अथवा अपेक्षानय को व्यवहारनय कहते हैं। अशुद्ध वस्तु को शुद्ध करने का उपाय यही है, जब उसको निश्चयनय तथा व्यवहारनय दोनों से जाना जावे।

व्यवहार सम्यक्त्व के भेद

(१) प्रशम : संसार के दुःख से भयभीत होना तथा समता भाव रखना।

(२) संवेग : सांसारिक भोगों से विरक्ति करना तथा धर्म के धर्मी से प्रेम करना।

(३) अनुकम्पा : दुःखी जीवों को देखकर दया भाव करना तथा उनके दुःख को दूर करने की इच्छा करना।

(४) अस्तित्व : आत्मा-जीवों को देखकर दया भाव करना तथा उनके आत्मा-परमात्मा आदि परोक्ष, किन्तु मुक्त, सिद्ध पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करना।

सम्यक्त्व का स्वरूप-चिन्ह

(१) सम्यग्दर्शन:- आत्म स्वरूप की सत्य प्रतीति होना; दिन प्रति दिन समता भाव में वृद्धि होना, तथा क्षण-क्षण में परिणामों की विशुद्धि होना सम्यग्दर्शन है।

(२) चतुर्गति में सैनी जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अतः वह अपने आप अर्थात् निसर्गज और गुरु के उपदेश से अर्थात् अधिगमज होता है।

(३) इस प्रकार वह अपने ही आत्मस्वरूप का परिचय प्राप्त करता है। उसमें कभी भी सन्देह उत्पन्न नहीं होता है; और उसमें छल कपट रहित वैराग्य भाव विद्यमान रहता है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन का यही स्वरूप (चिन्ह) है।

सम्यक् का विनाश

(१) ज्ञान का अभिमान (२) बुद्धि की हीनता
(३) निर्दय वचनों का भाषण (४) क्रोधी परिणाम और
(५) प्रमाद। ये पाँचों सम्यक्त्व के घोतक है।

जीव नौ विशेषताओं वाला है

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।द्रव्य संग्रह।।२।।

अर्थात.- वह जीव जीने वाला है, उपयोगमय है–अमूर्तिक है, अपने छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण में रहने वाला है,-भोक्ता है, संसार में स्थित है, *सिद्ध है और स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है।*

जीव में पाई जाने वाली ९ बातें.–

(१) जो अपने प्राणों से जीने वाला (२) उपयोग में उपयोग वाला (३) मूर्ति रहित (४) अपने भावों का कर्ता (५) अपनी देह के बराबर (६) छ· द्रव्यों का भोक्ता (द्रव्य भावों का) (७) संसारी (८) सिद्ध जीव (९) स्वभाव से उर्ध्वगति को जाने वाला।

दस प्राण

निश्चय चेतना ही एक प्राण है।

४ एकेन्द्रिय-श्वासोच्छवास-आयु-शरीर-स्पर्शन। ६ द्विइन्द्रिय रसना-वचनबल। ७ त्रिइन्द्रिय-घ्राण ८ चौइन्द्रिय-चक्षु। ९ असैनी मन रहित। १० इन्द्रिय सैनी के मन सहित कुन्दकुन्दाचार्य कृत योगसार पाहुड प्राभृत में कहा है–

भरये पंचम काले जिण मुद्रा धार ग्रंथ सब्वे से।
साड़े सात करोड़ जाइये निगोद मज्झाम्मि।।

अर्थ - इस भरत क्षेत्र में इस पंचम काल के निमित्त से परिग्रह के लोभ को धारण कर दिगम्बर (मुनि) उपासक कहला कर साड़े सात करोड़ ऐसे भ्रष्ट परिग्रह धारी लोभी मुनि तथा भ्रष्ट, अंधश्रद्धा धारी, नामधारी गृहस्थ निगोद जायेंगे। क्योंकि परिग्रह लोभी दिगम्बर संप्रदाय में इस पंचम काल के माहात्म्य से विषय-कषाय

के लोभ में जीव फँसकर दुखी होंगे, ऐसा सिद्धान्त है। सिद्धान्त में यह भी बतलाया गया है। कि

इस भरत क्षेत्र में ऐसे भी जीव उत्पन्न होंगे जो कि वहाँ से सम्यक्त्व छोड़कर सीधे विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर (सम्यग्दृष्टि ही) नववर्ष बाद केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जावेंगे।

मुनिसंघ में आर्यिका का निषेध

अतः आठों कर्मों में इस मोहनीय कर्म को सर्व प्रथम जीतना चाहिये।

श्रावक धर्म

हिंसा से निवृत्ति और अहिंसा मे प्रवृत्ति करना ही श्रावक धर्म है।

सम्यग्दृष्टि को दान देना मोक्ष का फल है। अन्तर में सम्यग्दृष्टि पूर्वक अन्य धर्मात्माओं को प्रतिदनि दान तथा बहुमान भाव आने से स्वयं की धर्म भावना पुष्ट होती है। इसलिये कहा गया है कि दान श्रावक को भव-सागर से उतारने के लिए एक जहाज के समान है। वास्तव में जिसे निज धर्म से प्रेम होता है, उसे ही अन्य धर्मात्माओं के प्रति प्रमोद, प्रेम और बहुमान आता है।

धर्मात्मा की दृष्टि में तो आत्मा के आनन्द स्वभाव की मुख्यता है, किन्तु यह उसके शुभ कार्यों में दान की मुख्यता के कारण ही है। वह अपनी दृष्टि में आत्मा के आनन्द की मुख्यता रखते हुए भूमिका के अनुसार दानादि के शुभ भावों में प्रवर्तित है। यह कार्य वह किसी को दिखाने के लिए नहीं करता है, बल्कि उसके हृदय में धर्म के प्रति सहज रूप से आनन्द प्राप्ति होती है। हे भव्य जीव! तुझे पुण्योदय से लक्ष्मी प्राप्त हुई और जैन धर्म के सच्चे देव, शास्त्र, गुरू महारत्न सौभाग्य से प्राप्त हुए है । अब जो तू धर्म-प्रसंग में लक्ष्मी का उपयोग करने के बदले स्त्री, पुत्र तथा विषय कषाय के पाप भाव में ही धन का उपयोग करता है, वह तो मेरा कार्य हाथ में आये हुए रत्न को समुद्र में फेंक देने जैसा है, दान अपनी शक्ति के अनुसार दिया जाता है। लाख-करोड़ की सम्पत्ति में से सौ रुपया दान किया जाये, उसे शक्ति अनुसार नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उत्कृष्ट रूप से चौथा भाग, मध्यम रूप से छःठा भाग तथा कम से कम दसवाँ भाग दान करे, उसको शक्ति अनुसार दान कहा गया है। भाई! यह किसी प्रकार दूसरे

व्यक्ति के करने की बात नहीं है। यह तो आत्मा के भान सहित परिग्रह ममता घटाने की बात है।

श्रावक जैसे नए-नए महोत्सव प्रसंग तैयार करके अपने धर्म का उत्साह बढ़ाता जाता है, वैसे ही उसका पाप भाव घटता जाता है। उन प्रसंगों में मुनिराज की अथवा धर्मात्मा को अपने आंगन पधरा कर भक्ति पूर्वक आहार दान करना, उसका प्रधान कर्त्तव्य कहा गया है, क्योंकि उसमें धर्म के स्मरण करने का और धर्म की भावना की पुष्टि करने का सीधा निमित्त है। मुनिराज आदि धर्मात्मा को देखते ही श्रावक के मन में रत्नत्रय धर्म की भावना तीव्र हो जाती है।

हे जीव! जो सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, जिसे उसके वचनों में भ्रम है और जो विपरीत मार्ग को मानता है, उसे कभी श्रावकपना प्राप्त नहीं होता बल्कि उसके मन में शत्रुता भाव बढ़ता ही जाता है मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है। इसलिए मुमुक्षु को सर्वप्रथम सर्वज्ञदेव की पहचान करनी चाहिये।

आचार्य योगीशचन्द्र ने बतलाया है कि निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय जीव में द्रव्य-दृष्टि से जिन बनने की शक्ति है। हे योगी! ऐसा जानकर हिंसा से निवृत्ति और अहिंसा में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

अर्थात.- मुनिराज छः काय के जीवों की हिंसा नहीं करते। वे तो सब प्रकार की द्रव्य हिंसा से भी दूर रहते है। यह अहिंसा महाव्रत है वे पानी और मिट्टी भी बिना दिया हुआ नहीं लेते है यह अचौर्य महाव्रत है - वे शील या ब्रह्मचर्य के १८ हजार भेदों को पालन कर, सदा निजात्मा में रमण करते है तथा स्त्री मात्र के त्यागी होते है यह ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

शुद्ध भावयुक्त मुनि चार प्रकार की आराधना को प्राप्त करते है। भाव रहित जो मुनि होते है, वे संसार में ही भ्रमण करते है। वास्तव में, आत्मा का भाव करके उसकी आराधना करने वाले मुनिजन तो मोक्ष के सुख को प्राप्त करते है; किन्तु जहाँ आत्मा का भाव नहीं होता है वहाँ आराधना ही नहीं होती है। वे तो संसार में निरर्थक भ्रमण करते है।

यदि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो, तो भी वह मोक्षमार्ग का आराधक है और मिथ्यादृष्टि जीव यदि मुनि भी हो गया हो, तो भी वह संसारी ही है। वह मोक्षमार्गी नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन रहित उसको शुभ भाव तो है, किन्तु

भाव शुद्धि नहीं है। शुभ भाव को कभी भाव-शुद्धि नहीं कहा जाता। मोक्ष साधन तो वीतराग भाव और शुद्धोपयोग है, शुद्ध भाव सहित है। वह चार आराधना रहित मुनि-मार्ग नहीं है।

आचार्य देव कहते हैं कि आत्मा के शुद्ध भाव सहित मुनिजन चार आराधना प्राप्त करके मोक्ष के परम सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु जो जीव बाह्य में मुनि होकर भी अन्दर में सम्यक्त्वादि भाव शुद्धि से रहित है, वह तो विशाल संसार में परिभ्रमण करता हुआ भी दुखी ही होता है।

श्रीजिनेन्द्र देव ने कहा है कि मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और संसार रूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है। अतः मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु अत्यधिक प्रयत्न करना परम कर्तव्य है। अनन्त भवों के उपरान्त इस संसार में सम्यक्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आया है। सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना महादुर्लभ है। इसलिए हे भाई परम उद्यम करो। धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहने वाले शुभ भाव से उच्च पुण्य बंधता है, किन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने में लगी हुई है।

धर्म क्या वस्तु है

प्राय· निर्लिप्तता ही मोक्ष का मार्ग है, यदि साथ में सम्यग्दर्शन हो तो फिर तो कहना ही क्या है। भारत में विनाश का मूल कारण पक्षपात है। सत्य का पालन करने वाले अल्प रह गये है। जो वंश परम्परा चली आ रही है, चाहे उसमें लक्ष्य का अंश भी न हो, लोगों ने उसे ही धर्म मान लिया है, धर्म साधन तो निराकुलता में है, जिनका संसर्ग अनेक व्यक्तियों से है, वह निमित्त का कारण अधिक दु:ख के मार्ग में पड़ सकता है, किन्तु जो बहुजन संघात होने पर भी स्वात्म तत्व से च्युत नहीं होता, वह कभी भी पतनोन्मुख में नहीं पड़ सकता।

श्रमण की आहारचर्या व दिनचर्या

मेवा:-

१. गोला अच्छा हो तो ले सकते है; उसकी रंगत नही पलटनी चाहिए।
२ चातुर्मास मे बादाम के सिवाय सभी मेवा का त्याग होना चाहिये।
३. हरी पत्ती व सूखी पत्ती का जीवन पर्यन्त त्याग होना चाहिए।
४ हींग, हीगड़ा, ये दोनों ही पेड़ में से काष्ट फोड़कर निकलता है अत· अभक्ष्य है।
५ टमाटर बहुबीजा है, अत: अभक्ष्य है। जीवन पर्यन्त के लिए त्याग होना चाहिए।
६ भिण्डी नही लेना चाहिए, ऊपर रोम होते है, चौइन्द्रिय जीव बैठे रहते है अभक्ष्य है।
७ पपीता नहीं लेना, दूध निकलता है अभक्ष्य है।
८ पिण्ड खजूर नहीं लेना, यह गीली होती है। मच्छर बैठने पर उड़ते नहीं मर जाते है।
९ आड़ू नहीं लेना, ऊपर रोम होते है। अन्दर भी जीवो की उत्पत्ति होती है।
१० जमीन की कन्द नही खानी। हल्दी, सौंठ नही लेनी, इनको जल में डालते ही जीवों की उत्पत्ति होती है।
११ पानी का छिड़काव नही करना चाहिए, त्रस जीवो की हिंसा होती है।
१२ फूल नहीं सूँघने चाहिए, न तुड़वाना चाहिए। एक फूल के तोड़ने से एक मुनि की हत्या बतायी है। फूल एकेन्द्रिय जीवों का शव है, पूजा में भी नही चढ़ाना चाहिए, दोष है।
१३ पंचामृत अभिषेक दूध, दही, घृत, मीठा से नही करना चाहिए, क्योंकि जीवों की उत्पत्ति हो जाती है उन जीवों को चिड़िया चुगती है, बड़ा भारी पाप है। नही करना चाहिए।
१४ अग्नि द्वारा हवन नही करना, कराना चाहिए। चौइन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। जैनधर्म में वर्जित है।

१५ जहाँ साधु रहते है वहाँ रंचमात्र भी हिंसा नहीं, वे पाप के कारण है, नरक-निगोद में भटकने वाले है।

१६. मच्छर को मारने के लिए धुआँ, पँखा या दवाई का इस्तेमाल नहीं करना, मच्छर मर जाते है।

१७ द्विदल: जिस अनाज या मेवा के दो दल हो जावें उनको दूध, दही या मट्ठा में मिलाकर खाने से कंठ में पहुँचते ही सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है; इसलिए अभक्ष्य है।

१८. स्त्रियों से प्रक्षाल नहीं करानी चाहिए; उनके शरीर में चौबीस घण्टे, आठ जगह से सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, वे इस योग्य नहीं है।

१९ अन्जानी फल व सब्जी नहीं खानी चाहिए; इत्मीनान कर लें तब खावें।

२० चटाई नहीं लेनी चाहिए - कुन्दकुन्द आचार्य ने कपड़े के समान बताई है।

२१ कागज, पत्ती नहीं लेनी चाहिए। कागज से गन्दे जीव उत्पन्न होते है।

२२ सामायिक चार दफा करनी चाहिए-प्रातः, दोपहर, सायंकाल व रात्रि में १२ बजे।

२३ दिन को सोना नहीं चाहिए। रात्रि में भी २-३ घन्टे चमक नींद लेनी चाहिए।

२४. तेल की मालिश नहीं करनी चाहिए। बीमार हालत में भी शुद्ध तेल से श्रावक अपनी मर्जी से दिन में करे तो ठीक है, मुनि के भाव नहीं होते है।

२५. पंखा, हीटर, कूलर, परदा, कपड़ा या खश-खश को अपने काम में नहीं लेना चाहिए; हिंसा होती है।

२६. गोला कच्चा नहीं खाना चाहिए, उसका पानी भी नहीं पीना चाहिए।

२७. किवाड़ की चटकनी लगाकर नहीं सोना, बैठना। मच्छरदानी, डोली, बक्स लकड़ी का, मोटर, पाटा–यह सामान नहीं रखना चाहिए।

२८. अकेली स्त्रियों में उपदेश नहीं देना चाहिए, न पढ़ाना चाहिए। पुरुष साथ हो तो उपदेश दे सकते है। उपदेश राग का नहीं देना,

वीतरागता का देना चाहिए।

२९ शरीर की मालिश कराने से शरीर को सुख होवेगा, भोजन गरिष्ठ नही खाना, नीरस भोजन करना ताकि सामायिक में प्रमाद न हो, याचना चन्दा नही करना; २८ मूलगुणो का ठीक तरह पालन करना; चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित होना चाहिए। बाजा नही बजवाना चाहिए। अपनी वर्षगाँठ नही करानी चाहिए, जिनका दुबारा जन्म न हो उन्हीं की होती है। फूलों की वर्षा नही कराना चाहिए। जिस काम में हिंसा हो वह काम साधुओं को नहीं करना चाहिए। बाईस परीषह को जीतना, जय करना चाहिए। फ्लैश में शौच नही जाना चाहिये।

३० स्त्रियों से पैर नही छुवाना चाहिये। तेरह प्रकार चारित्र का पालन करना चाहिए। छ· द्रव्य का श्रद्धान करना चाहिए। नौ पदार्थ का श्रद्धान, छः काय जीव की रक्षा करनी, तीन रत्न का पालन करना, दस धर्म पालन, अठारह हजार शील पालन करना चाहिए, चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन, पंच आचारों का पालन करना चाहिए।

३१ त्यागियों की आरती नहीं होनी चाहिए ।

चौका शुद्धि के अनिवार्य नियम

१ चौके में सिल्क के वस्त्र पहनकर न आयें।

२ चौके में पानी भरने से पूर्व हाथ के नाखून साफ कर लें। हाथ व पांव के नाखूनों पर पालिश न हो।

३ जल कुंए का रस्सी और बाल्टी से लायें। जल मोटे छन्ने (जिसमें से सूर्य की किरणें दिखाई न दें) में छानें। छन्ने की (मोटा कपड़ा) दो तहें करके पानी छाना जाये। छलना ३२ इंच लम्बा २४ इंच चौड़ा हो। जल के जीवों को ऊपर से न डालकर कुएं में पानी की सतह पर ही वापस पहुँचायें। (नीचे कुण्डा लगी बाल्टी द्वारा जीवानी करना)

४ गेहूँ (अनाज) हाथ की चक्की से पिसी हुआ हो। गेहूँ (अनाज) को पीसने से पहले कुएं के जल से धोयें या गीले कपड़े से साफ करके धूप में सुखाकर उपयोग में लायें।

५. आटा पीसने, कूटने, भोजन बनाने और आहार देने के स्थान पर चंदोवा लगाकर कार्य करें।

६. गेहूं पीसने, मसाले पीसने और आहार बनाने के स्थान पर पंखा न चलावें।

७. चौके में अंगीठी का चूल्हा ही उपयोग करें। गैस एवं कुकर का प्रयोग न करें।

८. चौके में उपयोग किये जाने वाले सभी भोज्य पदार्थ अग्नि द्वारा गर्म करें।

९ चौके का कार्य सूर्य उदय होने पर ही आरम्भ करें।

१० चौके का कार्य सूर्यास्त होने से ४८ मिनट पूर्व ही निपटा लें।

११ कुँए से निकाला गया जल ४८ मिनट पूर्व ही गर्म कर लें।

१२ सेंधा नमक पीसकर उसमें पांच-छह दाने काली मिर्च के पीसकर दोनों को मिला कर गर्म कर लें। नमक, चौके का सभी कार्य करके, पड़गाहन के समय से १५ मिनट पहले ही पीस कर गर्म कर लें।

१३ दूध - नहाने के पश्चात् नंगे पांव बर्तन में कुंए का गर्म जल ले जाकर अपने हाथों से भैंस के थन धोकर और बाल्टी पर छन्ना लगाकर दूध निकाल कर ४८ मिनट में ही गर्म करें। इसके पश्चात् दूध अभक्ष्य हो जाता है।

१४ घी - ऐसे गर्म किये हुए दूध की दही जमाकर, बिलोकर मक्खन निकाल कर आंच पर उसी समय गर्म करें। क्योंकि उसके बाद मक्खन में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। वह अभक्ष्य हो जाता है या मलाई निकाल कर २४ घंटे के भीतर उसका घी बना लें। क्योंकि दूध की मर्यादा २४ घंटे की है।

१५. मीठा - चीनी की चाश्नी बना लें, जिसमें पानी का अंश न रहे। उसे कपड़े से छानकर बूरा बना लें।

१६. दही व मट्ठा - विधिपूर्वक गर्म किये गये दूध की गोले या अमचूर द्वारा दही जमावें।

१७. तेल - बाजार से सरसों लाकर उसे कुएं के गर्म जल से और मशीन

गर्म जल से धोकर अपने हाथ से निकाला गया हो।

१८ आहार में हल्दी, सौठ व हींग का उपयोग न करें क्योंकि ये अभक्ष्य है।

१९. द्विदल - अनाज या मेवा, जिसके दो बराबर भाग हो जावें, जिसकी दो दाल हों, उनको दूध, दही या मट्ठे में मिलाने से द्विदल हो जाता है। इसे जीभ पर रखते ही जीव उत्पन्न हो जाते है। अतः अभक्ष्य हो जाता है।

आहार देने वाले श्रावक/श्राविका के लिये नियम

१ शहद (मधु), मांस मदिरा एवं अन्य नशीले पदार्थों का त्याग।

२ तम्बाकू व बीड़ी-सिगरेट का त्याग।

३ पान मसाला, गुटका व पान का त्याग।

४ रात्रि अन्न का त्याग।

५ आलू, गोभी, प्याज व लहसुन का त्याग।

६ नित्य प्रातः देव दर्शन का नियम।

७ नाखून पालिश, लिपिस्टिक व क्रीम लगाने का त्याग।

आहार देने में ध्यान रखने की बातें

१ आहार देते समय ठंडे पदार्थों को पहले देवें। पानी भी शुरू में उबाल कर ठंडा करके दें। गर्म पानी व गर्म पदार्थ बाद में दें। सर्दियो में केवल गर्म पानी ही दें।

२ हाथ की अँगूठी व घड़ी उतारकर आहार बनायें।

३. सिर पर कपड़ा ढककर आहार बनायें और कपड़ा ढककर ही देवें।

४ नकली दांत उतारकर व चश्मा उतारकर ही आहार देवें।

५ दृष्टि कमजोर हो या शरीर में किसी प्रकार का रोग हो तो आहार न दें। केवल देने की अनुमोदना प्राप्त कर लें।

६. आहार में जो भी पदार्थ अंजुलि या पात्र में देवें, वह बता कर दें। बिना बताये देने से अंतराय हो सकती है।

नोट:-

१. आहार में केवल सेंधा नमक ही प्रयोग करें क्योंकि और सभी नमक अभक्ष्य है।

२. आहार में जमींकंद, टमाटर व हरे पत्ते की कोई सब्जी न बनायें। कच्चा केला, पपीता न बनायें।

३. आहार में साबूत दाना व गोंद का उपयोग न करें क्योंकि ये अभक्ष्य पदार्थ है।

४ आहार मे जो भी सब्जी बनायें वह पकी हुई लावें क्योंकि कच्ची सब्जी में निगोदिया जीवों का निवास होता है।

५ जिस घर में कोई भी व्यक्ति शराब पीने वाला हो, वहाँ पर चौका नही लगायें। तभी लगायें जब शराब का सदा-सर्वदा के लिये त्याग करें।

आत्म चिन्तवन

मै निरंजन निर्विकाररुप हूं। अरिहंत सिद्ध भगवान का रूप मेरे अन्दर है। कर्मों का पर्दा पड़ा हुआ है। कर्मों का परदा हटते ही सिद्ध स्वरूप प्रगट हो जायेगा।

इस संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं है। मेरा सब जीवों से समताभाव है। मेरा जीव निगोद से आया है। उर्ध्वगमन का इसका स्वभाव है। द्रव्य दृष्टि से निश्चय से सिद्धों के समान हूँ । पर्याय दृष्टि से संसारी हूँ । पुरुषार्थ करके कर्मों को क्षय कर सिद्ध स्वरूप को प्रगट हो जाऊँगा।

मै ज्ञायक परमानन्द स्वरूप हूँ। अकिंचन मेरा धर्म है। संसार में मेरा अणुमात्र भी परिग्रह नही है ।

पुद्गल कर्म के उदय से आहार विहार या दाना पानी भी आत्मा का परिग्रह है । औदायिक विकारी भाव कर्मों के उदय से होते है, उनका मै स्वामी नहीं हूँ । मै उन्हे आदर नही देता हूँ। यह सब अबुद्धिपूर्वक हो रहा है। ज्ञानावरणी आदि पुद्गल कर्मों के उदय से, कर्म चेतना, कर्म फल चेतना, उदय में आते है। कहने को अष्ट कर्म प्रकृति, असंख्यात कर्म प्रकृति क्षण-क्षण उदय मे आती है। न मै उनका स्वामी हूँ, न उन्हें भोगता हूँ। वे तो मेरे क्षयोपशम ज्ञान में झलकते है जैसे पर पदार्थ दर्पण मे झलकते है परन्तु

उनका कोई अंश उसमें नहीं आता इसी प्रकार मेरा स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। मै तो केवल ज्ञान चेतना का कर्ता हूं, ज्ञान चेतना को भोगता हूं।

संसार सागर में अनादि काल से चारो गतियो मे चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता चला आ रहा हूँ । जहां-जहां जाता हूं, दर-दर ठोकरें खाता, घर-घर का भिखारी बनता, वहां पर रागद्वेष करके सुखी दुखी अनुभव करता रहता हूँ और इसी मोह के कारण संसार भ्रमण करता चला आ रहा हूँ। जीव पुद्गल का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। दूध पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह होता चला आ रहा है।

भेद विज्ञान द्वारा प्रज्ञारूपी बुद्धि से अपने को पहचाना कि मै चैतन्य स्वरूप हूं, अमूर्तिक हूं, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से अलग हूं, अजर अमर हूं, अविनाशी हूं। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित है, गलन इसका स्वभाव है। भेद विज्ञान द्वारा जिस प्रकार हंस, दूध और पानी को भिन्न-भिन्न देखता है, उसी प्रकार मै भेद विज्ञान और प्रज्ञारूपी करोत द्वारा जीव व शरीर आदि को अलग-अलग देखता हुआ अपने निज स्वभाव में प्रसन्न रहता हूं और इस प्रकार सदा सुखी रहूंगा।

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छ· द्रव्य है। इनमें जीव व पुद्गल ही क्रियावान है और इनका ही सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इसीलिये यह जीव स्वभाव छोड़, विभाव परणति करता संसार में घूम रहा है। शेष चार द्रव्य धर्म, अधर्म आकाश और काल क्रियाहीन है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है, उदासीन है। धर्म अधर्म असंख्यात प्रदेशी है। आकाश अनन्त प्रदेशी है। काल एक प्रदेशी है। एक-एक प्रदेश में परिणमन करता है यह निश्चय काल है। इन सबसे मै भिन्न हूं। केवल निमित्त, नैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है। ये जड़ है, मै चैतन्य हूं। अत. इनसे सर्वथा पृथक हूं।

भावकर्म, रागद्वेष की उत्पत्ति से होते है, द्रव्य कर्म कार्माण वर्गणा से उत्पन्न होते है, नौ कर्म पुद्गल कर्म रचना है। मै इन भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म से भी सर्वथा भिन्न हूं। ये अचेतन है, मै चेतन हूं । मै कार्माण सूक्ष्म शरीर आदि से भिन्न हूँ । मै पाप-पुण्य शुभ-अशुभ रूप भी नही। ये सब पुद्गल की पर्याय है। मै आश्रव भी नही, बन्ध भी नही, संवर भी नही, निर्जरा भी नहीं और मोक्ष भी नहीं । ये तो सब पर्याय है और पुद्गल सम्बन्ध से है ।

कर्म उदय में न रहने पर, बन्ध छूटने पर, आत्मा निर्बंध होता है, इसी को मोक्ष कहते है। रागद्वेष के कारण आत्मा पर मैल आ गया है। जितना-२ राग कम होता आयेगा, उतना-२ आत्मा निर्मल होता जायेगा। इसी स्थिति का गुण स्थान कहते है ।

मुझमें न राग है, न द्वेष है, न इष्ट है, न अनिष्ट है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है । स्पर्श, रस-वर्ण गन्ध भी नहीं है । न मन, वचन काय है, न शब्द है। ये सब मुझसे अलग है। मै शरीर रूपी जड़ में चैतन्य स्वरूप आत्मा हूं। उत्कृष्ट टंकोत्कीर्ण अखण्ड रूप आत्मा हूं।

मै मूर्तिक भी हूं, अमूर्त्तिक भी हूं, सत भी हूं असत्य भी हूं, नित्य भी हूं अनित्य भी हूं।

मै चैतन्य स्वरूप आत्मा ज्ञाता दृष्टा हूं, सिद्ध समान हूं। स्वयंभू, परमानन्द स्वरूप अजर अमर हूं, उत्तम क्षमादि रूप हूं, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप हूं।

मै उपयोग वाला हूं, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य का स्वामी हूं। आत्मा ही दर्शन, आत्मा ही ज्ञान, आत्मा ही चारित्र है । आत्मा ही संवर, निर्जरा एवं मोक्षरूप है। आत्मा ही देव है, आत्मा ही शास्त्र है, आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही तीर्थ है। व्यवहार से ही देव, गुरु शरण है।

मै ज्ञान दर्शन का धारी, उत्कृष्ट टंकोत्कीर्ण, अखण्डरूप एक आत्मा हूं। जब तक कर्म का उदय है जड़ पदार्थों से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इनका मेरे में एक अंश भी प्रवेश नहीं होता।

अनादि से पर से उपयोग लगाया, इसीलिये अशान्त हूं। अब प्रज्ञारुपी भेद विज्ञान द्वारा, पर से उपयोग हटाकर, स्वसमय में उपयोग लगाकर, आत्मा का अवलम्बन लेकर, राग द्वेष मोह दूर करके सब द्रव्य संसार से शून्य होकर शुद्धोपयोग ध्यान अग्नि से कर्मों को क्षय कर, शुक्ल ध्यान प्राप्त कर, समताभाव को प्रगट हो जाऊँगा। मेरा स्वभाव समता है, आकुलता रहित है।

ज्ञान की गंगा मेरे सर्वांग में भरी है। शान्ति का झरना झरता है, दयामयी तरंगे उठती रहती है और तत्त्वरूपी जल इसका प्रवाह है और शील संयम इसके तट है। संयम धारण से शान्ति प्राप्त होती है, जिसे अतीन्द्रिय

सुख कहते है। वह स्वानुभव से प्राप्त होता है। जो वीतराग रूप, निर्विकल्प, स्वसंवेदन, रत्नत्रय में स्थिर रहते है और जिनकी कषाय खत्म हो चुकी है, वे ही अतीन्द्रिय सुख का वेदन करते है।

आज तक जितने सिद्ध हुए, होंगे वे भेद विज्ञान के द्वारा हुए है और आगे होंगे।

मै भी मन, वचन, काय की गुप्ति द्वारा, ध्यान के द्वारा, राग द्वेष मोह से अपने को अलग कर, सब ज्ञेयों से अलग होकर, सब दृष्टा से अलग होकर, आत्मा-आत्मा से, आत्मा-आत्मा में, आत्मा-आत्मा को, ध्यान के द्वारा, समता भाव को प्राप्त होऊँगा।

अरिहन्त सिद्ध भगवान, परमेष्ठी, आठ कर्मों का क्षय कर, उर्द्धव लोक में विराजमान है, मै आठ कर्म सहित मध्यलोक में विराजमान हूं। जो आत्मा सिद्ध भगवान की है, वही आत्मा मेरे शरीररूपी देवालय में विराजमान है।

मै अब उसी की श्रद्धा करता हूं, उसी की रूचि करता हूं। उसी की प्रतीती करता हूं। मै सातभय रहित हूँ।

समाप्त

स्तुति

माता तू दया करके, कर्मों से छुड़ा देना ।
इतनी सी विनय तुमसे, चरणों मे जगह देना ।। माता
माता आज मै भटक रहा हूं माया के अंधेरे मे
कोई नही मेरा है इस कर्म के रेले मे
कोई नही मेरा है, तुम धीर बंधा देना ।
इतनी सी विनय तुमसे, चरणो में जगह देना ।। माता
जीवन के चौराहे पर मै सोच रहा कब से
जाऊं तो किधर जाऊं यह पूछ रहा तुम से
पथ भूल गया हूं मै तुम राह दिखा देना ।
इतनी सी विनय तुमसे, चरणों में जगह देना ।। माता
लाखों को उबारा है मुझको भी उबारो तुम
मंझदार मे है नैय्या उसको भी तिरादो तुम
मंझधार में अटका हूं उस पार लगा देना ।
इतनी सी विनय तुमसे, चरणो में जगह देना ।। माता